हिंदी स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन का बदलता परिदृश्य

Hindi Stri Aatmakathaon Mein Stri Jivan Ka Badalta Paridrishya

The Changing Scenario of Women Life in the Women Autobiographies of Hindi

(2000–2015)

पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी

चन्दा कुमारी

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
Jawaharlal Nehru University
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन केन्द्र
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत New Delhi-110067, INDIA

Dated: 28 /06 /2018

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitle " **Hindi Stri Aatmakathaon Mein Stri Jivan Ka Badalta Paridrishya(2000-2015) (The Changing Scenario of Women Life in the Women Autobiographies of Hindi (2000-2015)"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other university/ institution.

Chanda Kumari

CHANDA KUMARI

(Research Scholar)
CIL/SLL&CS/ JNU

28/6/18

PROF. DEVENDRA KUMAR CHAUBEY

(Supervisor)
CIL/SLL&CS/ JNU

28/6/18

PROF.GOBIND PRASAD

(Chairperson)
CIL/SLL&CS/ JNU

GRAM: JAYENU. Tel.: (91-011)26741557, 26742626 Extn.: 4217 (D) 26700417 : Telefax: (91-011) 26704217; Email: chaircil@mail.jnu.ac.in

समर्पित

सादर स्वर्गीय पापा को...

भूमिका

मनुष्य और समाज में अन्योन्याश्रय संबंध है। सभ्यता के विकास के प्रथम चरण से लेकर आज तक के सफर में समाज ने जो भी उन्नति की है, क्या उस उन्नति में स्त्रियों का कोई योगदान नहीं ? क्या केवल पुरुष से ही समाज बना है? क्या स्त्री समाज का अंग नहीं? यदि स्त्री समाज का अंग है तो समाज में उसकी स्थिति दयनीय क्यों? क्या कारण है कि वह विकास की राह में पीछे है? समाज स्त्री–पुरुष दोनों के समान सहयोग से बना है और समाज की अवधारणा भी इसी पर आधारित है। सृष्टि के निर्माण से लेकर चांद तक के सफर में स्त्री की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। सभ्यता–संस्कृति के निर्माण में भी उनका बराबर का योगदान रहा है। इसके बावजूद भी स्त्रियां बढ़ती सभ्यता की दौड़ में; विकास में मानवीय अधिकार से भी वंचित रहीं, घर की चाहरदीवारी में सिमटती चली गईं। इस आलोक में प्रस्तुत शोध स्त्री चेतना के विविध आयामों को इतिहास, वर्तमान और भविष्य में देखने का एक नजरिया है। यह इस बात से भी ताल्लुक रखती है कि 21वीं सदी तक के सफर में स्त्री की दुनिया कैसी रही है। समाज में उनकी सहभागिता का क्या मूल्य रहा है। प्रस्तुत विषय वस्तु 'हिंदी स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन का बदलता परिदृश्य' पर कार्य करने का मतलब ही वर्तमान संदर्भ में स्त्री जीवन को समझना रहा है। यह कार्य इतना आसान नहीं, क्योंकि मानवीय सभ्यता–संस्कृति के विकास में स्त्री जीवन की ऐतिहासिक भूमिका रही है और उसको समझना असाध्य कार्य है। इसलिए इस अध्ययन को समय सीमा में निर्धारित किया गया। यह समय सीमा सन् 2000 से सन् 2015 तक प्रकाशित हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं का काल है।

समाज कहीं–न–कहीं आज भी स्त्री की स्वतंत्र सत्ता और चेतना को स्वीकार नहीं कर रहा है या करता है। स्त्री जीवन के तमाम मूल्यों और समस्याओं को अभी भी पुरुष के नजरिए से ही देखा, सुना और कहा जात है। इसी कारण से समाज में स्त्री जीवन में होने वाले परिवर्तन को सही ढंग से नहीं समझा जा रहा है और न ही उसका सही मूल्यांकन हो रहा है। यह शोध–कार्य स्त्री जीवन को स्त्री के नजरिये से देखने का एक प्रयास है। यह प्रयास स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से है, क्योंकि आत्मकथा किसी भी समूह या व्यक्ति के जीवन को समझने का सबसे महत्वपूर्ण साधन होता है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को एक स्त्री के नजरिये से देखा जाए तो यह आत्मकथाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता पर बल देता है ताकि स्त्री जीवन के विभिन्न आयामों को समझते हुए बदलते परिप्रेक्ष्य में सामाजिक विकास को भी समझा जा सके।

सामाजिक विकासक्रम में स्त्री जीवन मूल्यों को समझने का अब तक का एक नजरिया बतौर उपभोग की सामग्री रहा है। जबकि किसी भी लोकतांत्रिक देश में विकास का आधार लोकतांत्रिक या सामाजिक जीवन मूल्यों की विकसित अवस्था होती है। भारतीय समाज की वास्तविकता यह है कि 69 साल बाद भी वह लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों को आत्मसात नहीं कर पाया है। लोग सभी सुविधाओं और संस्थानों का लाभ उठाना चाहते हैं लेकिन लोकतांत्रिक मूल्यों को आत्मसात नहीं करना चाहते हैं। यह समस्या समूचे समाज की है। स्त्रियां भी इससे अछूती नहीं रही हैं। जिस तरह पुरुषों को स्त्री के परंपरागत संस्कार, रूप और स्वभाव अच्छे

लगते हैं। वैसे ही स्त्रियों को भी अच्छे लगते हैं। भारतीय स्त्री आंदोलन की यह सीमा है कि वह स्त्री के मसले को उठाता तो है लेकिन स्त्रियों को लोकतांत्रिक पहचान नहीं दिला पाता है। स्त्रियों को लोकतांत्रिक पहचान के नाम पर सिर्फ वोट का अधिकार मिला है। और यही कारण है कि स्त्रियां लोकतांत्रिक देश में जीवन जी तो रही हैं, लेकिन लोकतांत्रिक मूल्यों से वंचित रही हैं। यह वंचना ही सबसे बड़ी समस्या है। स्त्रियों की लोकतांत्रिक अस्मिता का निर्मित न होना उनकी प्रमुख समस्याओं में से एक है। आज भी अस्मिता के सवालों पर सारा विमर्श लोकतंत्र के परिप्रेक्ष्य के बजाय पितृसत्ता और पुरुषवादी राजनीति के संदर्भ में चल रहा है। स्त्री आत्मकथाओं में यह बात बहुत ही शिद्दत के साथ महसूस की जा सकती है।

भारतीय समाज की खास विशेषता यह रही है कि एक स्त्री पूरी तरह से परिवार से बंधी होती है। वह परिवार सिर्फ परिवार नहीं होता, बल्कि जाति और धर्म से घिरा हुआ परिवार होता है। जिसकी संरचना पितृसत्तात्मक है। यही वजह है कि जब एक स्त्री समाज में अपने किसी भी हक को पाना चाहती है तो उसे पुरुषवादी सत्ता का समर्थन लेना अनिवार्य हो जाता है। बिना उसके वह अपने हक को प्राप्त नहीं कर पाती। स्त्री के समाजिक–सांस्कृतिक अधिकारों को विभिन्न किस्म के सामाजिक भेदों ने हजम कर लिया है। सामाजिक भेदों के प्रति स्त्री आत्मकथा न केवल एक समझ उजागर करती है, बल्कि बदलते स्त्री–पुरुष संबंध के विभिन्न आयामों को भी सामने लाती है, जिससे न केवल परिवार, समाज और देश में स्त्रियों की स्थिति का सही अनुमान लगाया जा सकता है, बल्कि स्वस्थ्य समाज की स्थिति का भी पता चलता है। प्रस्तुत शोध कार्य में इस बदलते सामाजिक समीकरण को समझने का प्रयास किया गया है। आत्मकथा इस अर्थ में एक वैज्ञानिक सोच के साथ सामाजिक चेतना उत्पन्न करती है और सामाजिक समीकरण व व्यवस्था के विभिन्न तंत्रों को समझने में मदद करती है। इस दृष्टिकोण से यह शोध विषय स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से न केवल स्त्री जीवन के बदलते आयामों को समझने का प्रयास है, बल्कि स्त्री जीवन और आत्मकथाओं के अंतःसंबंधों को समझते हुए साहित्यिक साक्ष्यों और स्त्री आत्मकथाओं को आधार बनाकर स्त्री जीवन के संघर्षों के माध्यम से समाज और देश की विकास परंपरा को भी समझने की कोशिश है।

अध्ययन की दृष्टिकोण से प्रस्तुत शोध–कार्य को छः अध्यायों में विभक्त किया गया। *पहला अध्याय* आत्मकथा की परंपरा और हिंदी में स्त्री आत्मकथात्मक लेखन है। इस अध्याय में सर्वप्रथम आत्मकथा की अवधारणा पर बात की गई फिर आत्मकथा लेखन की परंपरा कब से शुरू हो रही है। तत्पश्चात स्त्री आत्मकथाओं का लेखन कब से शुरू हुआ है। उसका ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए स्त्री आत्मकथा की संवेदना और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। *दूसरा अध्याय* हिंदी स्त्री आत्मकथा में अभिव्यक्त यथार्थ है। इस अध्याय में स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्री जीवन के यथार्थ – सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि का विवेचन और विश्लेषण किया गया है। *तीसरा अध्याय* हिंदी स्त्री आत्मकथा : परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व पर केंद्रित है। इसमें सर्वप्रथम भारतीय परंपरा और स्त्री जीवन मूल्यों पर परिवार, समाज और संस्कृति के आलोक में उत्पन्न द्वंद्व की स्थिति पर विचार किया गया है। तत्पश्चात आधुनिकता, आधुनिक मूल्यबोध और स्त्री जीवन को शिक्षा, समाज और वैश्विक संस्कृति के संदर्भ में समझने का

प्रयास किया गया है। *चौथा अध्याय* हिंदी स्त्री आत्मकथा : जीवन संघर्ष और आंदोलन पर आधारित है। इस अध्याय में पहले स्त्री जीवन की समस्याओं और उसके लिए किए जा रहे आंदोलन पर बात की गई है। इसी के साथ उसके अस्तित्व के सवाल और उसकी अस्मिता के प्रश्न पर विचार किया गया है। स्त्री आंदोलन और संघर्ष के बीच स्त्री मुक्ति की अवधारणा के विविध आयामों के विषय पर भी गंभीरता से बात की गई है और उन कारणों की जड़ तक पहुंचने का भी प्रयास किया गया है कि किन–किन कारणों से स्त्री जीवन के मूल्यों का क्षरण हो रहा है और उसको कैसे संरक्षित किया जा सकता है। इसी संदर्भ में परिवार, सामाजिक संस्थानों, पितृसत्ता और स्त्री देह के सवालों को भी विवेचित करने का प्रयास किया गया है। *पांचवां अध्याय* हिंदी स्त्री आत्मकथा : जीवन का बदलता परिदृश्य है। इस अध्याय में स्त्री जीवन का बदलता परिदृश्य अर्थात् जो बदलाव आ रहा है, वह किस प्रकार का है उससे स्त्री जीवन की समस्याएं कहां तक खत्म होती हैं और उनकी मुक्ति का सवाल आत्मविश्वास, आत्मनिर्भर एवं आत्मनिर्णय के स्तर पर किस स्वरूप को स्थापित करता है। इसका अध्ययन और विवेचन–विश्लेषण किया गया है। स्त्री जीवन की निजता बनाम सामाजिकता के सवाल, आर्थिक स्वावलंबन, पारिवारिक विघटन एवं समृद्धि तथा सशक्तिकरण, आत्मसम्मान एवं समानता के सवाल आदि से किस प्रकार और किस हद तक बदलाव स्वयं स्त्री जीवन में और समाज में आया है। इस बदलाव से समाज पर क्या –क्या प्रभाव पड़ रहा है, उसका अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। *छठा अध्याय* हिंदी स्त्री आत्मकथाओं की भाषा पर आधारित है। इस अध्याय में भाषा की दृष्टि से स्त्री जीवन के सवालों और उसके संघर्षो को समझने का प्रयास किया गया है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में भाषा और उसकी बुनावट से स्त्री मुक्ति के सवालों एवं संबंधों में किस प्रकार का परिवर्तन आया है, इसका अध्ययन किया गया है। तत्पश्चात स्त्री आत्मकथाओं की भाषा से साहित्य में क्या बदलाव आ रहा है या हो रहा है। इस पर विचार किया गया है।

इन आत्मकथाओं के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि स्त्रियां अपना संपूर्ण जीवन संघर्ष से गुजारती हुईं आत्मनिर्माण और आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया से गुजर रही हैं। अपने जीवन की कहानी खुद लिखी है, इसलिए आत्मग्रस्त होने की गुंजाइश तो है ही, लेकिन यथार्थ की भी पुष्टि हुई है। आज भी औरतों के पास उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी पुरूषों ने उसे अपनी सुविधा के लिए दी रखी है। दिनेशनंदनी डालमिया ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से अपनी पीड़ा को सबके सामने रखा। कुसुम अंसल ने स्त्री जीवन के यथार्थ की पुष्टि की है। कृष्णा अग्निहोत्री ने समाज के सामने स्त्री देह को खिलौना समझने वालों की पोल खोल कर रख दी है। पदमा सचदेव स्त्री को हरेक मुसीबत को हंसते हुए सामना करने की झेलने की प्रेरणा देती हैं। मैत्रेयी पुष्पा गांव व शहर दोनों जगह की स्त्रियों की समस्याएं हमारे सामनें रखती हैं। रमणिका गुप्ता हर हाल में स्त्री को अपनी अस्मिता बचाए रखने के लिए प्रेरित करती हैं और अपनी शर्त पर अपने जीवन को जीने को कहती हैं। मन्नू भंडारी स्त्री के सम्मान को सबसे प्रमुख मानती हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जब तक हो सके स्त्री को अपने परिवार को टूटने से बचाये रखने में विश्वास रखती हैं। इस प्रकार स्त्री जीवन की इच्छाएं–आकांक्षाएं अभिव्यक्त हुई हैं आत्मकथाओं में, जो स्वयं के साथ–साथ समाज में हो रहे बदलाव और उसके परिदृश्य को उपस्थित करती हैं।

बदलाव का यह परिदृश्य कितना सार्थक और विकासक्रम में सकारात्मक हुआ है। इस शोध कार्य में इस पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तावित शोध प्रबंध में इस पर विचार किया गया कि, स्त्री शिक्षा का स्त्री समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? साहित्य में स्त्रियों की उपस्थिति एवं भागीदारी से स्त्री समाज में कितना और क्या–क्या परिवर्तन आया है? पूंजीवादी समाज के उपभोक्तावादी नजरिया ने स्त्री जीवन को किस तरह से प्रभावित किया है? क्या सुंदर और असुंदर तथा स्त्री के गौरवर्ण और श्यामवर्ण के आधार पर भेदभाव इसी उपभोक्तावादी संस्कृति की देन है अथवा इसके पीछे परंपरावादी सामंती नजरिये का भी योगदान है? आधुनिकता और परंपरा के द्वंद्व में स्त्री का मनोविज्ञान कैसे निर्मित होता है तथा उसकी चेतना कैसे प्रभावित होती है? उन स्त्रियों के जीवन की क्या–क्या समस्याएं हैं जो घर के चाहरदीवारी के भीतर ही जीवन बिताने के लिए मजबूर है? उन स्त्रियों के जीवन में कौन–कौन सी समस्याएं आती हैं, जो घर की दहलीज को लांघ कर बाहर की दुनिया में कदम रखती है? स्त्री समाज में स्त्री–पुरुष के बीच आर्थिक गैरबराबरी के क्या कारण हैं, इस गैर बराबरी को कैसे खत्म किया जा सकता है? आर्थिक रूप से सबल होने के बावजूद भी स्त्रियों को आत्मनिर्णय लेने की स्वतंत्रता क्यों नहीं है? क्या आर्थिक रूप से मुक्त हो जाने पर स्त्रियां पूरी तरह से स्वतंत्रता और समानतापूर्ण जीवन जी सकती हैं? राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश से स्त्रियों के जीवन में कैसा बदलाव आया है, क्या वह सबल हो पायी है? इन सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए प्रस्तावित शोध प्रबंध में इस पर विचार किया जाएगा कि क्या स्त्री जीवन में होने वाले बदलाव स्त्री मुक्ति की दिशा में है?

स्त्री सभ्यता–संस्कृति की आधारशिला है। लोकतंत्र में स्त्री अधिकार की आधारशिला है उसका स्वायत्त अस्तित्व। स्त्री के स्वायत्त अस्तित्व को जब तक समाज और स्वयं स्त्री स्वीकार नहीं करती, सारी कवायद बेकार है। स्त्री का अस्तित्व और स्वायत्तता ये उसके दो बुनियादी हक हैं। लोकतंत्र का आरंभ नागरिक संबंधों से होता है और नागरिक संबंधों को नागरिक अधिकारों के जरिये ही संरक्षित किया जाता है और किया जा सकता है। नागरिक भावबोध पैदा करने के लिए हमें स्त्री–पुरुष के प्राकृतिक अंतर को भी मानना होगा और इन दोनों की स्वायत्तता को भी मानना होगा। उसके लिए स्त्री को लिंग के दायरे से बाहर निकलकर नागरिक के दायरे में आना होगा। लिंगबोध को नागरिक बोध में रूपांतरण करना होगा। इस शोध का एक उद्देश्य इस रूपांतरण की ओर कदम बढ़ाना भी है।

आज जरूरत है समाज में लोगों के मानसिक बदलाव की। लोगों को अपनी चेतना शक्ति को तेज कर और अपनी सोच को लिंग, जेंडर से ऊपर उठकर सोचने की। पुरुषवादी अर्थात् पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने आज भी हमारे समाज में हमारी सोच में, हमारे नजरिए में, हमारे जीवन जीने के ढंग में इस तरह गहरी पैठ बना लिया है कि हम इन सब से ऊपर उठकर सोच ही नहीं पाते हैं। जिस कारण; समाज में समस्याएं ज्यों की त्यों ही बनी रहती हैं या फिर बढ़ती ही जा रही हैं। प्रस्तुत शोध कार्य के जरिये समाज में व्याप्त स्त्री जीवन की समस्याएं या उसमें हो रहे बदलाव को स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है।

1990 के बाद बदलते आर्थिक–सामाजिक नीतियों के दबाव से भारतीय समाज की संरचना में तेजी से परिवर्तन आए। मनुष्य और सामाजिक संबंध भावनात्मक न होकर उपयोगीमूलक बन गया। जिसके कारण हाशिये का समुदाय सामाजिक व्यवस्था में केन्द्रिय स्थान पाने लगा। आज स्त्री, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदाय भारतीय समाज साहित्य और संस्कृति की परम्परागत स्थापित मूल्यों को चुनौती पेश कर रहें हैं। 'हाशिये के विमर्श' का तार 'निम्नवर्गीय इतिहास लेखन' से जुड़ता है। रणजीत गुहा के नेतृत्व में 'सबाल्टर्न इतिहासकारों का कहना है कि' इतिहास उनका भी होता है जो समाज की 'पेरी–फेरी' पर अपना–जीवन–यापन करते हैं। स्त्री, दलित, आदिवासी, अप्रवासी, मुसलमानों का इतिहास प्रायः विकृत रूप में पेश किया गया है। अब समाज के ये शोषित वर्ग 'आत्मकथा' के माध्यम से स्वयं नया इतिहास लिख रहें हैं। आत्मकथा की परम्परा में स्त्री सृजनकर्ता दिखलाई नहीं पड़ती है। क्या कारण है! क्या इसे अनपढ़ बनाये रखने की साजिश मानें'? क्या यह स्त्री को न पढ़ने–लिखने देने और उनकी रचनाओं को खारिज करने की खतरनाक कोशिश? क्या, कहीं इन सब के पीछे सामाजिक–सांस्कृतिक कारण क्रियाशील तो नहीं हैं? इसकी पड़ताल होनी चाहिए कि क्यों आत्मकथा की परंम्परा में स्त्री सृजनकर्ता दिखलाई नहीं पड़ती है ?

प्राचीन काल से अद्यतन स्त्रियों के सामाजिक जीवन में काफी उतार–चढ़ाव आया है। आदिम युग में मानव संसाधन व सत्ता में स्त्रियों की अहम भूमिका थी और वंशावली भी स्त्री के नाम से चलता था। लेकिन जैसे–जैसे वह सत्ता–संपत्ति से बेदखल होती गई स्त्री अधिकार का भी अंत शुरू हो गया। परिणति यह हुई कि पुरुषों पर उनकी निर्भरता बढ़ती चली गई और इसी क्रम में पुरुष वर्चस्व की सत्ता कायम हो गई। पुरुष निर्भरता के कारण स्त्री के सामाजिक सरोकार भी काफी हद तक पुरुष की स्थिति पर निर्भर हो गया। छठी शताब्दी में धर्म सुधार आंदोलन के कारण गौतम बुद्ध के संघ में स्त्रियों को जगह मिलने लगी और वह 'शिक्षण–प्रशिक्षण' के कारण वह सामाजिक विडम्बनाओं से मुक्त होकर मानवीय रूप में अपने आप को महसूस करने लगी थीं लेकिन जैसे ही इस आंदोलन का प्रभाव खत्म होता है स्त्रियों की स्थिति समाज में पुनः वैसी ही हो जाती है। इसे यूं कह सकते हैं कि युग बदलते गए लेकिन स्त्रियों की स्थिति नहीं बदली। उन्नीसवीं शताब्दी में धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलन शुरू हुए जिसका प्रभाव स्त्री जीवन पर भी पड़ा। इस काल में स्त्रियां आदर्श की मूर्ति के रूप में विकसित होने लगीं। शिक्षा और परिवार की देखभाल के लिए वे प्रशिक्षित होने लगीं, लेकिन उनकी स्थिति बहुत नहीं बदली। वस्तुतः आधुनिकाल का यह संक्रांति युग था जहां से बदलाव की प्रक्रिया शुरू होती है। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और मां के रुप में किये जाने वाले योगदान को रेखांकित किया जाने लगा। लेकिन मानवीय पहचान उन्हें नहीं मिली। यह स्त्री जीवन संघर्ष की उत्कर्ष और अपकर्ष की कहानी है जो सदियों से इतिहास के पन्नों में लगभग उपेक्षित रही हैं। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्री जीवन का यथार्थ मानवीय इतिहास का अभिन्न पन्ना है, जिसमें मानवीय सभ्यता–संस्कृति की बदलती तस्वीर है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि स्त्री आत्मकथाएं स्त्री जीवन का इतिहास भी हैं जिसमें जीवन की विविध गतिशीलता व्याप्त है। स्त्री जीवन यह की कहानी वस्तुतः किसी भी सभ्यता की कहानी हो सकती है, जिसे उपेक्षित कर उस सभ्यता का मूल्यांकन सभंव नहीं। आज जरूरत है कि समाज में उपेक्षित मानवीय जीवन मूल्यों को एक साथ लेकर पूरी मानवीय सभ्यता का मूल्यांकन व रेखांकन किया जाए।

आभार

कोई भी शोधकार्य बहुत आसान नहीं होता है। जब परिस्थितियां विपरीत हो जाएं तब तो और भी नहीं। यह शोधप्रबंध कार्य भी ऐसा ही रहा। जब लेखन का कार्य जोरों पर था कि अचानक पापा का गुजर जाना, एक पल को मेरे इस कार्य को थप कर दिया। अचानक सब कुछ थम सा गया और बिखरने लगा, क्योंकि मेरा पढ़ना भी उनका एक सपना था। इस मनः स्थिति से निकलने में कई साथियों, परिजनों और मेरे अपनों की अहम भूमिका रही। फिर मैं इस कार्य को पूरा करने में जूट गई। अंततः इस मुकाम पर पहुंची और पीएच.डी. कार्य पूरा हो सका।

इस शोधकार्य को संपन्न करने में कई विद्वतजनों का सहयोग मिला। आपलोगों के प्रति आभार और कृतज्ञता न व्यक्त करना एक अपराधबोध सा लगता है। सर्वप्रथम शोध निर्देशक प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे के सूझाव और सहयोग के बिना यह शोध कार्य संपन्न नहीं होता और मेरी इच्छाएं–शोध करने की पूरी न होतीं। उन्होंने न केवल मार्गदर्शन दिया बल्कि इतनी सुविधाएं मुझे दी कि गृहस्थ जीवन और विपरीत मनःस्थिति में रहकर भी शोधकार्य पूरा किया जा सकता है। जिस कारण से न केवल मुझे अपनी विपरीत मनः स्थिति से मुक्त होने का पूरा मौका मिला बल्कि नन्हीं सी बेटिया जो यह कहती रही कि नानू भगवान के यहां चले गए ठीक हो जाएंगे न, को भी देखभाल का पूरा समय दे सकी। उनके इस सहयोग के लिए मैं बहुत आभारी हूं। प्रो. राम चंद्र ने हमेशा शोधकार्य पूरा करने के लिए प्रोत्साहित करते रहें और अग्रज की तरह सूझाव एवं सहयोग देकर जीवन संघर्ष से जूझने की ताकत देते रहें। मैं उनका शुक्रगुजार हूं।

जीवन साथी प्रवीण कुमार (पिउ) के सहयोग, उत्साह, विश्वास और उम्मीद ने मुझे न केवल आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया, बल्कि मानसिक संबल भी दी। उन्होंने अपने व्यस्त समय में से शोध प्रबंध के टंकन के कार्य की जिम्मेदारी लिये और उसे अंतिम रूप देकर मेरे मनोबल को भी बढ़ाते रहे।

डॉ. विनोद सेन और सखी स्वाती ने हमेशा सस्नेह पारिवारिक उलझनों से मुक्त रखा और मेरी समस्याओं को हल करने में मदद किया। और यह कहती रहीं कि बिटिया को मैं संभाल लूंगी तुम पीएच.डी. पर ध्यान दो। डॉ. ज्योति थानवी (भाभी) और डॉ. ऋचा चतुर्वेदी (भाभी) ने शोधकार्य पूरा करने के लिए हमेशा प्रोत्साहित किया। डॉ शारदा प्रसाद ने न केवल लेखन कार्य में सहयोग किया बल्कि दिल्ली जैसे महानगर में अपनी आवास की पूरी सुविधा उपलब्ध कराये। स्वयं सुविधा से वंचित रहकर दूसरों के लिए सुविधा मुहैया कराना विशाल हृदय से युक्त व्यक्ति ही कर सकता है।

पूरे शोधकार्य के दौरान मम्मी, भाई रवि रंजन, शशि रंजन का सहयोग एवं स्नेह मिलता रहा। आप सबके प्रति आभार महज औपचारिकता है। मैं उस योग्य नहीं हूं कि आपके प्रेम को, स्नेह को शब्दों में व्यक्त कर पाऊं। इस शोध कार्य को समय पर पूरा करने के लिए जिन्होंने प्रेरित किया– प्रो. अजमेर सिंह काजल, प्रो. गरिमा श्रीवास्तव, डॉ. पूनम, डॉ. नामदेव, डॉ नीलम (दी), शीला आर्या। आप सबका बहुत–बहुत आभार।

अध्ययन के दौरान मित्रों की भूमिका सबसे अलग होती है। इस दौरान शिव कुमार रविदास, सुशील, नीलम, सरिता, धीरेन्द्र, जैनेन्द्र, बबिता सिंह, संध्या दीदी, मनीषा दी आदि का सहयोग और स्नेह मिला। आप सबके प्रति आभार। प्रुफ रीडिंग के कार्य में भाई बृजेश कुमार यादव और बहन कविता का सहयोग मिला, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं। जिनके सहयोग के बिना शोधकार्य जमा करना बहुत सहज और आसान हो सका– भारतीय भाषा केंद्र के रावत जी और रमेश तथा अंत समस्त जेएनयू परिवार का आभार, जिन्होंने प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सहयोग दिया है।

आप सबका आभार!

विषय–सूची

भूमिका :	i-vi
पहला अध्यायः आत्मकथा की परंपरा और हिंदी में स्त्री आत्मकथात्मक लेखन	1–20
दूसरा अध्यायः हिंदी स्त्री आत्मकथा में अभिव्यक्त यथार्थ	21–81
तीसरा अध्यायः हिंदी स्त्री आत्मकथाः परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व	82–118
चौथा अध्यायः हिंदी स्त्री आत्मकथाः जीवन संघर्ष और आंदोलन	119–155
पांचवां अध्यायः हिंदी स्त्री आत्मकथा : जीवन का बदलता परिदृश्य	156–194
छठा अध्यायः हिंदी स्त्री आत्मकथाओं की भाषा	195–207
उपसंहार :	208–215
संदर्भ ग्रंथ सूचीः	216–219

पहला अध्याय

आत्मकथा की परम्परा और हिंदी में स्त्री आत्मकथात्मक लेखन

आत्मकथा की पंरपरा से पूर्व आत्मकथा के अर्थों को समझना जरूरी है, जिससे कि आत्मकथा की परंपरा के विवेचन–विश्लेषण में सहजता होगी। इसके बाद ही हिंदी में स्त्री आत्मकथात्मक लेखन की मुकम्मल शुरूआत हो सकती है कि कब से स्त्री आत्मकथा लिखी जा रही है और उसमें व्यक्त स्त्री मन की सच्चाई कैसी है? उसका यथार्थ कैसा है? इतना ही नहीं आत्मकथा स्वयं में समय के अनुरूप अपनी परिभाषा और बोध को भी बदलती रही है। इसी क्रम में आत्मकथा स्वयं में अन्वेषण, सृजन और अनुकरण है। 'स्वयं' का सूक्ष्म परीक्षण है। सबसे पहले आत्मकथा के अर्थ को समझने का प्रयास करते हैं।

1.1 आत्मकथा : अर्थ और परिभाषा

वर्तमान में हिंदी का आत्मकथा शब्द मूलतः 'ऑटोबायोग्राफी' का हिन्दी रूपांतर है। संस्कृत साहित्य में आत्मकथा के लिए 'आत्मवृत्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में 'ऑटोबायोग्राफी' के लिए आत्मकथा, आत्मवृत्त, आत्मचरित, स्व–कथा, आत्मवृतांत, आपबीती, अपनी खबर, जीवन कहानी, स्वकथन आदि शब्द का प्रयोग हुआ है। लेकिन आत्मकथा शब्द ही ज्यादातर प्रचलित रहा हैं। हिन्दी शब्दकोश के अनुसार आत्मकथा शब्द आत्मन् और कथा से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है स्वलिखित जीवन कथा। ''आत्मचरित्र और आत्मचरित हिन्दी में आत्मकथा के अर्थ में प्रयुक्त प्रारंभिक शब्द हैं और तत्वतः आत्मकथा से भिन्न नहीं है। अंतर यह है कि आत्मचरित कहलाने वाली रचना किंचित विश्लेषणात्मक और विवेक प्रधान होती थी और आत्मकथा कही जाने वाली कृति अपेक्षया अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है। आत्मकथा के उद्देश्य आत्मनिर्माण, आत्म–परीक्षण या आत्म–समर्थन, अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह या जटिल विश्व के उलझाव में अपने आपको अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास। आत्मसंबंधी साहित्य लिखने का दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान ऐतिहासिक आंदोलनों और घटनाओं के संपर्क में रहने से डायरी, संस्मरण या आत्मकथा लेखक को यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगों में उसकी रचना उसके युग तथा समय के प्रमाण रूप में पढ़ी जायगी।''[1] अर्थात् आत्मकथा आत्मनिर्माण, आत्मपरीक्षण, अतीत की स्मृतियों का पुनर्जीवित करने का उन्वेषित प्रयास है, जिससें समाज के अन्य लोग लाभान्वित हो सके। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार आत्मकथा जीवन का संबद्ध वर्णन है और उसमें आवश्यक गुण का होना आवश्यक है जैसे उत्तम स्मृति, अपने प्रति तटस्थता, स्पष्टवादिता, अति आत्म समर्थन, अथवा आत्म–संकोच, दोनों प्रकार की मानसिक स्थितियों से मुक्त होना, अपने जीवन की घटनाओं को चुनते समय घटनाओं के सार्वजनिक महत्व के विवेक से समृद्ध अथवा कलात्मक दृष्टि, और आकर्षक निवेदन शैली।''[2] कलात्मक दृष्टि और आकर्षक निवेदन शैली का प्रयोग यह बात सार्थक नहीं लगती है, क्योंकि जीवन के खुरदुरापन में भी सौन्दर्य पाया जाता है और उसका

आकर्षण कहीं अधिक होता है। जहां तक कलात्मक दृष्टि की बात है तो वह भी सटीक नहीं जान पड़ता। रचनात्मकता का प्रवाह जरूर देखा जाना चाहिए। इस क्रम में लेखक घटनाओं के चुनाव में स्वतंत्र्य हैं।

आत्मकथा के अध्ययन और विश्लेषण की दृष्टि से उसमें ऐतिहासिकता और इतिहासबोध को अनिवार्यतः देखने और समझने की जरूरत है क्योंकि जीवन की घटनाओं की सार्थकता की खोज ऐतिहासिक विकास क्रम में ही समझा जा सकता है। इसी क्रम में अनुभव का शृंखलाबद्ध रेखांकन भी होना चाहिए। इसी से रचना की अवधरणा भी स्पष्ट होती है और उसका अध्ययन भी अपेक्षित होता है; क्योंकि अवधरणा की स्पष्टता और उसका विकासक्रम रचनाओं के काल क्रमानुसार प्रकाशन में निहित होता है। साहित्य और इतिहास की संबद्धता रचना की जीवंतता का द्योतक है। स्वयं लिखित 'स्व' का इतिहास कई बार आत्मकथा के साथ डायरी, संस्मरण, पत्र, जीवनी आदि जैसी दूसरी विधाओं को समाहित करने का भ्रम पैदा करती है। विनीता अग्रवाल इसकी चर्चा अपनी शोध किताब–'हिन्दी आत्मकथाएं सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण' में काफी विस्तार के साथ की हैं; जिसका उल्लेख यहां उचित नहीं जान पड़ता है, क्योंकि आत्मकथा एक स्थापित स्वतंत्र साहित्यिक विधा है। विनीता अग्रवाल के अनुसार, ''आत्मकथा संपूर्ण जीवन पर आत्मकथाकार की दृष्टि से पुनर्विचार है, जीवन का प्रतिबिंबन है। जीवन के एक बिन्दु पर खड़े हो कर संपूर्ण जीवन को पुनः जीने या स्मृति में दुहराने का प्रयास है...आत्मकथाकार आत्मकथा में पूरे जीवन का सर्वेक्षण करता है और घटनाओं एवं अनुभवों का चयन जान–बूझकर एक विशेष मनःस्थिति में करता है। (यह चयन उसके अपने वर्तमान की दृष्टि से परिचालित होता है।) आत्मकथा में लेखक सारे अतीत पर अपेक्षाकृत कहीं अधिक परिपक्व और तटस्थ दृष्टि डाल सकने में समर्थ होता है। एक लंबी गहन परिदृष्टि में वह संपूर्ण जीवन की आलोचनात्मक व्याख्या करता है, उसका सही मूल्यांकन और निर्धरण भी।''[3] आत्मकथा वह रचनात्मक साहित्यिक विद्या है जिसमें जीवन के भोगो हुए यथार्थ का क्रमबद्ध अध्ययन है। उसके लिए किया गया संघर्ष और उसी की अभिव्यक्ति है।

इस क्रम में आत्मकथा और आत्मकथात्मक लेखन खासकर उपन्यास पर बात करनी लाजिमी है, क्योंकि आत्मकथाओं के प्रकाशन में प्रकाशक ने आत्मकथा को उपन्यास या आत्मकथात्मक उपन्यास कहकर दिग्भ्रमित करने की कोशिश की है।[4] आत्मकथात्मक उपन्यास उपन्यास की एक शैली है। वह आत्मकथा नहीं हो सकता है, क्योंकि उपन्यास का आवरण उपन्यासकार को बहुत सी छूटें दे देता है जबकि आत्मकथा की आत्मा लेखक को सारी औपन्यासिक छूटों से वंचित करते हुए निहायत ईमानदार स्वीकारोक्तियों से बांधती है। उपन्यासकार जीवन की प्रतीति से बंध कर ही चरित्र और स्थितियों का सृजन करता है जबकि आत्मकथाकार मात्र पुनर्सृजन की छूट पाता है। विनिता अग्रवाल के अनुसार ''आत्मकथा आत्म–उत्कर्ष के लिए आत्म–परीक्षण हैं एवं 'स्व' का औचित्य–समर्थन भी। एक ओर आत्मकथा निजी स्मृतियों को अंकित करने की आकांक्षा है और दूसरी ओर उलझनों एवं विसंगतियों से भरे संसार में निजी 'स्व' को प्रक्षेपित करने का प्रयास भी। अन्ततः मुझे आत्मकथा को अहम की यात्रा 'एन इगो ट्रिप' की संज्ञा से अभिहित करना ही अच्छा लगता है।''[5] अर्थात् आत्मकथा आत्म–उत्कर्ष के लिए निजी स्मृतियों को अंकित करने और 'स्व' को प्रक्षेपित करने का प्रयास है। जिसके आधार पर विनिता अग्रवाल आत्मकथा को 'एन इगो ट्रिप' की संज्ञा देती है।

डॉ. कमलेश सिंह ने अपनी किताब 'हिन्दी आत्मकथाः स्वरूप एवं साहित्य' में आत्मकथा की संभावना को रेखांकित करते हुए लिखती हैं कि ''साहित्य के स्वरूपों में आत्मकथा स्वरूप विशेष लोकप्रिय होता जा रहा है और यह भी संभव है कि आने वाले समय में इस प्रारूप की लोकप्रियता कहानी और उपन्यास से भी कहीं आगे बढ़ जायेगी।''[6] अर्थात् भविष्य में आत्मकथा लोकप्रिय विधा के तौर पर उभरेगी वहीं वे आत्मकथा की धारणाओं को इस प्रकार स्पष्ट करती हैं– ''आत्मकथा एक ऐसी साहित्यिक रचना है जिसमें जीवन के जिये हुए क्षणों का ब्यौरा, जीवन का आत्मनिरीक्षण एवं विश्लेषण, स्वयं का स्वलिखित इतिहास, लेखक ही लेखन का विषय, सत्य एवं यथार्थ की अनिवार्यता निहित होता है। यह व्यक्ति तथा वस्तुलक्षी दोनों होती है।''[7] आत्मतत्त्व के बिना आत्मकथा की कल्पना नहीं की जा सकती है। यह आत्मत्व तीन प्रकार के हैं एक आत्मतत्त्व दूसरा कथातत्त्व और तीसरा परिवेश व वातावरण। किसी भी आत्मकथा में आत्मतत्व के रूप में वैयक्तिकता (सब्जैक्टिविटी), आत्मोद्घाटन(सेल्फ रिविलेशन), आत्मविश्लेषण (सेल्फ रियलाइजेशन) और आत्मगोपन (सेल्फ कंसीलमेंट) आदि तत्व को निर्धारित किया गया है।

आत्मकथा की एक स्वाभाविक आधरभूत परिभाषा यही हो सकती है कि ''उसमें व्यक्ति समूचे समय और समाज के संदर्भ में रखकर अपने शब्द और कर्म, अपनी वैचारिकता और व्यक्तित्व की गहन और पारदर्शी पड़ताल करने की रचनात्मक कोशिश करता है। गहनता 'आत्म' के आद्यान्त विश्लेषण के लिए जरूरी है, तो पारदर्शिता औरों की आत्मीयता अर्जित करने के लिए; क्योंकि आत्मकथा दूसरों के साथ अपने जीवन प्रसंगों का साझा है। वह एक साथ दोनों को संबोधित होती है। इस तरह रचनाकार के व्यक्तित्व और उसके समाज के व्यक्तित्व के बीच लगाव और तनाव की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में वह संभव होती है।... मगर यह चीख़ इसलिए है कि अपने किए और भोगे हुए के लिए सिर्फ हम जिम्मेदार नहीं होते। हमारे पीछे खड़ा सारा समाज इस जिंदगी का साक्षी और सहभोक्ता ही नहीं; इसकी हालत के लिए उत्तरदायी व्यूह रचना भी वह है।...आत्मकथा में हम जीवन के सुख–दुःख को तय करती आयी ठोस सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा शक्तियों और उनसे अपनी सत्ता के संबंधों की प्रकृति को उजागर करने का काम करते हैं।...आत्मकथा की संरचना में एक लोकोन्मुखता व सहधर्मिता निहित होती है।...आत्मकथा एक बाह्यान्तर जनतंत्र की बुनियाद पर खड़ी होती है। आत्मकथा में हम अपने सब कुछ को सार्वजनिक कर देने के साहस और फिर इस सार्वजनिकता में से अपने को दुबारा पा लेने के अचरज के बीच लगातार आवाजाही करते हैं।''[8] यानी आत्मकथा में सत्य के साथ–साथ नैतिकबोध ही नहीं सौन्दर्यबोध भी अनिवार्य तत्त्व है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार ''जहां जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना जाता हो, वहां बड़े लोगों के बारे में सच कहने सुनने की आदत कैसी होगी? हिन्दी में आत्मकथा और जीवनी लेखन की दुर्दशा का मुख्य कारण यहां व्यक्तिगत जीवन की सच्चाई कहने के साहस का और सहने की आदत का अभाव भी है।''[9] अर्थात् मैंनेजर पाण्डेय ने भारत में खासकर हिंदी में आत्मकथा लेखन के अभाव को रेखांकित करते हुए जीवन की झूठी नैतिकता के आवरण को भी हटाने की मांग करता है। साथ ही साहस और सच्चाई के साथ जीवन को वर्णित करने की आवश्यकता है। दरअसल आत्मकथा एक ऐसी विधा है, जो न सिर्फ सत्य कथन की मांग करती है, बल्कि उसका संस्कार भी

देती है कि जीवन व्यवहार में अपनी सोच और संवेदना को सही दिशा देने के लिए आत्मलोचन की सख्त जरूरत होती है।

आत्मकथा की बुनियादी चेष्टाएं–आत्ममंथन, आत्मलोचन और आत्मान्वेषण हैं। जिसके जरिए मानवीय अस्तित्व के जटिल प्रश्नों को सुलझाने और उसके केन्द्रीय सच बताने का प्रयास किया जाता है। आत्मकथा 'सच्चा और गंभीर आत्म–परीक्षण का रचनात्मक विधान है, जिसमें जिये हुए जीवन का मार्मिक और विश्लेषणपरक सिंहावलोकन होता है। सम्यक आत्म–परीक्षण उसका एक अनिवार्य तत्त्व है। इसलिए ''आधुनिक वैज्ञानिक इतिहास–चेतना के बगैर आत्मकथा लिखी नहीं जा सकती है। हमारा वर्तमान 'आत्म' हमारे अतीतकालीन विचारों और कर्मों का परिणाम है, इसका एक इतिहास है, इसलिए इसे ऐतिहासिक अर्थों में ही समझा जा सकता है।'[10] वहीं प्रेमचन्द के अनुसार ''साहित्य में कल्पना भी होती है और आत्मानुभव भी। जहां जितना आत्मानुभव अधिक हेाता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्मकथा का आशय है कि केवल आत्मानुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो।[11] अर्थात् आत्मकथा लेखन सिर्फ आत्मानुभव का लेखन है। साथ ही आत्मकथा में निर्वैयक्तिकता का होना आवश्यक है।

आत्मकथा समाज के लिए प्रेरणा और आदर्श का भी निरूपण करती है। माता प्रसाद के अनुसार आत्मकथा प्रेरणा–उत्साह के साथ–साथ आने वाली पीढ़ी के लिए संघर्ष का इतिहास भी है ताकि विपरीत परिस्थितियों में और हीनग्रंथियों को त्यागकर आगे बढ़ा सकता है। वे लिखते हैं, ''मेरे जैसे निर्धन और दलित परिवार में पैदा हुआ व्यक्ति जिसकी परिस्थितियां अनुकूल नहीं थी, उसने भी कठिनाईयों को दूर करते हुए आगे की ओर कदम बढाया है, इस पर मेरे मन में यह विचार आया है कि क्यों न अपने बारे में लिखूं? इससे समाज के दलित, असहाय, गरीब लोगों को प्रेरणा मिलेगी और उनमें उत्साह पैदा होगा। दूसरा कारण इसके लिखने का यह रहा है कि जिन कठिनाइयों, परिस्थितियों को मैंने भोगा है, उसे हमारे लड़के, पौत्र, पौत्रियां या दूसरे दलित जाति के युवकों को हमेशा याद रखना चाहिए। अपने को जातीयता की हीनग्रंथि में बाधित नहीं रखना चाहिए।''[12] वहीं कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं कि ''मैं लेखिका नहीं हूं, न साहित्यिक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएं सहन करनी पड़ी इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर पड़ा।...मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परंतु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर–घुटन में जीती है। समाज की आंखे खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।''[13] अर्थात् कहा जा सकता है कि विभिन्न परिस्थितियों और मानसिक यांतनाओं के अनुभव से समाज को अवगत कराना है ताकि समाज को उससे मुक्त कराया जा सकता है। कौसल्या बैसंत्री के अनुभव एक दलित का अनुभव ही नहीं है बल्कि एक स्त्री की अनुभूति भी है। दलित और स्त्री दोनों के लिए आत्मकथा लेखन समाज की आंखों पर पड़े पर्दे को खोलती है। वहीं डॉ. रमाशंकर आर्य के अनुसार आत्मकथा का कलेवर महत्वपूर्ण है। उन्हीं के शब्दों में ''जब अभिजात समाज का कोई व्यक्ति आत्मकथा लिखता है तो वह एक व्यक्ति की कुंठाओं, विकृतियों और आत्मव्यथाओं का किस्सा होती है। ठीक इसके विपरीत जब स्त्री या दलित अपनी आत्मकथा लिखते हैं तो वे पूरे समाज की सत्यकथा कहते हैं। स्त्री जब लिखती है तो

वह उस स्त्री की ही यंत्रणा की कथा नहीं होती, बल्कि संपूर्ण स्त्री जाति की यंत्रणा कथा होती है जो लिंग भेद के कारण सदियों से विभेद का दंड झेलती आ रही है।''[14] इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मकथाकारों के लिए आत्मकथा लेखन पूरी परंपरा का ज्ञानबोध के साथ इतिहास निर्माण की प्रक्रिया है। अनुभव–अनुभूति के साथ समतापरक समाज की संरचना करना है। 'स्व' से 'समाज' और 'राष्ट्र' के निर्माण की प्रक्रिया आत्मकथा लेखन की खास विशेषता रही है।

आत्मकथा आत्मकथाकार के मनःस्थिति से शुरू होकर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व तक की यात्रा करती है और उसकी परिधि व आयाम को अपने भीतर समेटती है। आत्मकथा का वातावरण मानसिक मनोदशाओं के वातावरण से लेकर विश्व बंधुत्व की भावना को उजागर करता है। डॉ. कमलेश सिंह के अनुसार ''आत्मकथा में जीवन का स्वरूप निश्चित करने में परिवेश का महत्व इतना है कि उसके द्वारा ही जीवन चित्र की भूमिका बनती है।...जिस घर या समाज में चरित्र नायक रहता है, उस घर या समाज में प्रचलित रीति–रिवाजों, संस्कारों तथा सभ्यता विषयक मान्यताओं का निरूपण उसे परोक्ष रूप से आत्मकथा में करना ही पड़ता है। फिर चाहे वह किसी भी उपकरण से आत्मकथा लिखे। आत्मकथा अनुभवों को प्रस्तुत करने के लिए और निजी जीवन दर्शन को दूसरों के सामने रखने के उद्देश्य से लिखी जाती है।...यदि आत्मकथा को पढ़ चुकने के पश्चात पाठक के मन पर यह छाप पड़े कि आत्मकथा आत्मप्रशंसा के उद्देश्य से लिखी गयी है तो वह उत्तम होते हुए भी अपनी गरिमा से वंचित रह जाती है। आत्मकथा की प्रेरणाओं या प्रयोजनों में एक कारण आत्मप्रशंसा की प्रवृत्ति भी हो सकती है, किन्तु जब कृति में आत्मप्रशंसा दिखायी पड़ने लगती है तब वह अरूचि पैदा करती है। ...आत्मकथा लेखक का उद्देश्य यदि कोई हो सकता है तो वह जिये हुए जीवन का यथातथ्य निरूपण, घटी हुई घटनाओं का यथावत् चित्रण और भोगे हुए क्षणों का रेखांकन ही हो सकता है। जो आत्मकथा लेखक इन उद्देश्यों से परिचित है वह निश्चय ही एक उत्तम कलाकृति प्रस्तुत करेगा।''[15] अर्थात् आत्मकथा तटस्थता, ईमानदारी से भोगे हुए जीवन के यथार्थ का चित्रण है। इसके अभाव में आत्मकथा लेखन संभव नहीं है। आत्मकथा उत्तम पुरूष–एक वचन में लिखी जाती है। यह आत्मकथा के गुण स्वरूप भी मानी जाती है। भाषा की दृष्टि से आत्मकथा की भाषा अन्य साहित्य रूपों से भिन्न प्रकार की होती है। जीवन की घटनाओं तथा परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण होने के कारण आत्मकथा की भाषा जीवंत और लोक व्यवहृत भाषा होती है। इसमें लेखक का व्यक्तिगत भाषा कौशल, भाषा संस्कार एवं भाषा ज्ञान भी यत्र–तत्र झलकता रहता है। ''साहित्यिक हिन्दी में लिखी गयी कृतियों के अंतर्गत व्यक्ति का भाषागत वैशिष्ट्य प्रायः उभर नहीं पाता, क्योंकि एक ही टक्साली भाषा में लिखी जाती है।''[16] अन्य साहित्यिक विधाओं की रचना के समान ही आत्मकथा लिखने की भी शैली होती है। यह शैली सरल विवरणात्मक शैली और पूर्वदृश्य, पत्रात्मक, संस्मरणात्मक, वर्णनात्मक, दैनंदिनी औपन्यासिक शैली आदि हो सकती है। ''व्यक्ति के स्व का जागृत होना ही आत्मकथा के स्वरूप को दृढ़ बनाने की पहली सीढ़ी है और वह क्रमशः और निरंतर अग्रसर हो रही है।''[17] कमलेश सिंह ने आत्मकथा का वर्गीकरण आत्मकथा के तत्त्वों, आत्मकथा में प्रतिपादित विषयों और प्रयोजन आदि के आधार पर किए हैं। तत्व के आधार पर चरित्र प्रधान, कथानक प्रधान, परिवेश प्रधान और जीवन दर्शन प्रधान आदि भागों में विभाजित किए

हैं। शैली प्रधान के आधार पर अलंकृत तथा अनलंकृत, व्यास प्रधान तथा समास प्रधान में बंटवारा किए हैं, शिल्प के आधार पर उपन्यासात्मक, नाट्यात्मक, काव्यात्मक, निबंधात्मक, संस्मरणात्मक, पत्रात्मक डायरी शिल्प में विभाजित किए हैं। प्रतिपादित विषय के आधार ऐतिहासिक, राजनीतिक धार्मिक सामाजिक सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक आत्मकथा में विभाजित किए हैं। वहीं उद्देश्य के आधार पर आत्माभिव्यक्तिमूलक, आत्मस्वीकृतिमूलक, आत्मप्रशंसात्मक और उपदेशात्मक को आधार बनाया है। अवस्था के आधार समग्र जीवन संबंधी और जीवन के कालखंड से संबंधित भागों में रखा गया है जिसमें बाल्याकाल संबंधी, यौवनावस्था संबंधी, प्रौढ़ावस्था संबंधी, वृद्धावस्था संबंधी आदि का वर्णन हो सकता है। मीमांसा के आधार पर देखा जाए तो ये सभी आधार वस्तु किसी एक आत्मकथा में देखी जा सकती है। फर्क सिर्फ रचनात्मक शैली और जीवन संघर्ष के एतिहासिक क्रम में रचनाकार के सामाजिक सरोकारों के कारण आत्मकथाओं में देखा जा सकता है।

1.2 आत्मकथा लेखन की परंपरा :

आत्मकथा लेखन की परंपरा की शुरूआत पूर्व या पश्चिम के देशों में 'कब' और 'कहां' हुई, इसकी मुकम्मल तस्वीर अभी तक साहित्य लेखन में स्पष्ट नहीं हुई है। डॉ. राजकुमार के अनुसार, ''पश्चिम में इसकी परंपरा ऑगस्टाइन की आत्मकथा 'कंफेसियनल' से शुरू होती है। लेकिन इससे पूर्व भी आत्मकथा लेखन होता रहा है परंतु वह मुकम्मल रूप में उपलब्ध नहीं है।''[18] इसकी शुरूआत ईसा पूर्व से मानी जाती है। ''ईसा पूर्व चौथी सदी में प्लेटो की 'सेवेंथ एपिस्टाईल' पहली किताब है जिसमें उन्होंने अपने जीवन के महत्वपूर्ण काल का वर्णन किया है।''[19] रोमन शासक लुटेटिअस, कैटुलस, स्केरस, रुटिलिअस, रुपफस, सुल्ला, कैइसर आदि ने अपने जीवन के बारे में लिखा है। एक अच्छी आत्मकथा की शुरूआत ऑगस्टाइन की आत्मकथा 'कंफेसियनल' से होती है। आत्मकथा आधुनिक स्वरूप में 'सेक्युलर फॉर्म में रेउसीअन'[20] के साथ शुरू होती है वहीं भारत में हिंदी में

भारत में आत्मकथा की परंपरा खासकर हिंदी में 17वीं सदी में बनारसीदास जैन के 'अर्द्धकथानक' से शुरू होती है लेकिन इसकी पृष्ठभूमि प्राचीन काल से मिलती है। जिसका जिक्र आगे किया जाएगा। हिंदी में स्त्री आत्मकथाओं की शुरूआत तो पूरी तरह से आधुनिक युग की देन है। इससे पूर्व स्त्री आत्मकथाओं का उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि भारत में उन्हें न पढ़ने लिखने की इजाजत थी और न 'आत्म–अभिव्यक्ति' की। इस पर विस्तार से आगे चर्चा की जाएगी।

आत्मकथा कभी भी और किसी भी समाज में एकरसता में नहीं मिल सकती है, क्योंकि आत्मकथाएं किसी एक क्षेत्र विशेष की नहीं रही और यह रहना भी संभव नहीं है। इस विविधता के कारण आत्मकथाएं विभिन्न क्षेत्रों के यथार्थ के चित्रण में अपनी भूमिका रेखांकित करती रही हैं। भारतीय सामाजिक संरचना के अनुरूप ही आत्मकथा लेखन की शुरूआत हुई और उसी अनुसार अभिव्यक्ति की भी परंपरा इतिहासबद्ध रही है। इस कारण आत्मकथाओं की परंपरा में भी भारतीय सामाजिक संरचना की मानसिकता को पूर्णतः देखी जा सकती है। पुरुषों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं की संख्याएं स्त्री की आत्मकथाओं से अधिक रही हैं। इसका एक कारण भारत में स्त्री शिक्षा के प्रति उदासीनता है। डॉ राजकुमार के अनुसार, 'भारतीय महिलाओं के व्यक्तित्व को 19वीं

सदी के दूसरे दशक से पूर्व उनको व्यक्तिगत जीवन की कहानी के कथानक/वर्णन में शक्तिहीन रखा गया है। उस समय में उनके लिए मुक्त शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी।''[21] स्वाधीनता के पश्चात संवैधानिक अधिकार प्राप्त होने के बाद स्त्री शिक्षा में बढ़ोतरी हुई जिस कारण से स्त्री लेखन और आत्माभिव्यक्ति की परंपरा मुकम्मल रूप से चल पड़ी।

आत्मकथा सामाजिक दस्तावेज होने के साथ–साथ एक इतिहास भी है। इसमें समय सापेक्ष इतिहासबोध की पूरी परंपरा समाहित होती रहती है। इसमें सामाजिक व्यवस्था की संपूर्ण गतिविधियों की पहचान की जा सकती है। व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ सामाजिक जीवन की सभी घटनाओं का चित्रण रहता है। उसकी गतिशीलता विद्यमान रहती है। अर्थात् आत्मकथा व्यष्टि और समष्टि का समुच्चय होता है। इसमें सामाजिक व्यवस्था की परख की दृष्टि, विज़न भी निहित रहता है और निर्मित भी होता रहता है। विनीता अग्रवाल के अनुसार ''आत्मकथाएं ऐसे अन्तःसाक्ष्यों की शृंखलाएं हैं जो दूसरे व्यक्तियों की जागरूक मुद्राओं के भीतर झांकने की अद्वितीय दृष्टि देती है।''[25] अर्थात् आत्मकथा 'स्व' के जीवन से समाज के भीतर देखने की एक दृष्टि देती है। विनीता अग्रवाल की शोध पुस्तक –'हिन्दी आत्मकथाएंः सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण' और डॉ. कमलेश सिंह की शोध किताब 'हिन्दी आत्मकथाः स्वरूप एवं साहित्य' दोनों ही किताब 1989 में आयी है। जिसमें आत्मकथा की परंपरा पर चर्चा की गयी है। लेकिन दोनों में भिन्नताएं भी हैं।

विनीता अग्रवाल और डॉ. कमलेश सिंह के अनुसार आत्मकथा की एक लंबी परंपरा रही है, वहीं पंकज चतुर्वेदी के अनुसार हिन्दी में आत्मकथा की परंपरा का अभाव रहा है। उन्हीं के शब्दों में ''हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की न तो समृद्ध परंपरा है और न मजबूत वर्तमान। उल्टे इसका आश्चर्यजनक अभाव है। मगर जब हम इस अभाव के सांस्कृतिक कारणों में जाते हैं, तो आश्चर्य नहीं होता है। अतीत में 'आत्म' को नश्वर और महत्वहीन माना गया है, तो आधुनिक काल में आत्मबद्धता और आत्ममुग्धता का साम्राज्य है। अलबत्ता एक चीज सर्व–सामान्य है–यह कि पूरी भारतीय परंपरा में आत्मकथा विधा के अंतर्गत आत्म के सच को उघाड़कर रख देने का नैतिक साहस प्रायः नहीं मिलता।''[23] अर्थात् पंकज चतुर्वेदी के अनुसार आत्मकथा का अभाव है और इसका कारण आत्म के सच को बयान न करने का नैतिक साहस है। वर्तमान शोध क्षेत्र में खासकर हिन्दी में आत्मकथा की परंपरा की शुरूआत बनारसीदास जैन की आत्मकथा, 'अर्द्धकथानक' से मानी जाती रही है। लेकिन जैसा कि पूर्व में जिक्र किय गया है कि भारत में आत्मकथा की परंपरा की पृष्ठभूमि प्राचीन काल से मिलती है। यह पृष्ठभूमि वैदिक युग तक जाती है और उत्तर वैदिक काल में महावीर जैन और गौतम बुद्ध के जीवन संबंधी जानकारी भी मिलती है। अंतर्वस्तु और रूप में यह आत्मकथा अर्द्ध ऐतिहासिक रचना है क्योंकि इसमें लेखक अपने व्यक्तित्व का ऐतिहासिक परिचय दिव्य स्पर्श से देता है। अशोक के शिलालेख और स्तंभ से भी इसका विस्तृत परिचय मिलता है। यह शिलालेख साम्राट अशोक के जीवन, उनके धर्म और उसकी उपलब्धियों आदि की कहानी कहता है। संस्कृत नाटक में चरित काव्य में नाटककार द्वारा 'सूत्राधार' द्वारा जीवन परिचय दिया जाता रहा है जो कि लेखक की आत्मकथात्मक पृष्ठभूमि को बताता है। डॉ. राज कुमार 'दलित पर्सनल नैरेटिव' में आत्मकथा लेखन की परंपरा की शुरूआत अश्वघोष द्वारा रचित 'बुद्धचरित' जो कि प्रथम शताब्दी में रची गई है

से होती हैं।[24] इसी परंपरा में वे बाणभट्ट रचित 'हर्षचरित' सातवीं शताब्दी और कल्हण की राजतरंगिनी 1150 ई. का भी उल्लेख करते हैं। मुस्लिम शासक फिरोजशाह तुगलक की आत्मकथा 'फुतुहत–ए–फिरोजशाही' का भी उल्लेख आया है जिसे भारत में प्रथम मुस्लिम शासक की आत्मकथा कहा गया है, वहीं फारसी भाषा में बाबर का 'बाबरनामा' और गुलबदन बेगम द्वारा रचित 'हुमायूंनामा' की भी चर्चा है। तत्पश्चात जहांगीर की 'तुजुक ई जहांगीरी' जिक्र हुआ है। इसके बाद इतिहास में आत्मकथा लेखन का कहीं कोई जिक्र नहीं मिलता है। फिर 1941 ई. में बनारसी दास कृत 'अर्द्धकथानक' प्रकाश में आता है। जिससे हिन्दी आत्मकथा की शुरूआत होती है और 'अर्द्धकथानक को प्रथम हिंदी आत्मकथा का गौरव प्राप्त है।

प्रथम आत्मकथा बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' है। यह पुस्तक 1641 ई में लिखी गयी है। दयानंद सरस्वती की आत्मकथा– 'स्वकथित आत्मचरित' 1879 ई में प्रकाशित होता है। हिन्दी आत्मकथा के स्वरूप का स्पष्टीकरण और आत्मकथाओं का हिन्दी में लेखन बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ।... 'अर्द्धकथानक' पद्य में लिखी गयी प्रथम आत्मकथा है। खड़ी बोली गद्य में स्वामी दयानंद सरस्वती के स्वकथित आत्मचरित को हिन्दी गद्य का प्रथम आत्मचरित माना गया है।[25] द्विवेदीकाल, छायावाद काल जहां साहित्य की अन्य विधाओं के विकास की दृष्टि से अत्यंत द्रुत गति का काल रहा, वहां आत्मकथा साहित्य का विकास इस समय में अत्यंत बिलंबित गति से हुआ।[26] जीवन–जगत को निस्सार मानना और स्वयं के बारे में लिखने की आवश्यकता न महसूस करने के कारण आत्मकथा लेखन की उर्वराभूमि विकसित नहीं हो पाई।

मौलिक आत्मकथाओं में श्री राधाचरण गोस्वामी के द्वारा लिखित 'मेरा संक्षिप्त जीवन चरित्र', स्वामी श्रद्धानंद जी के द्वारा लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक', अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण आत्मकथा है। साहित्यकारों के द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में बाबू गुलाबराय(मेरी असफलताएं), डॉ श्यामसुंदर दास(मेरी आत्मकहानी) तथा राहुल सांकृत्यायन(मेरी जीवन यात्रा) द्वारा प्रणीत आत्मकथाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजनीतिक नेताओं के द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में से लाला लाजपतराय(स्व0 लाला लाजपतराय की आत्मकथा) तथा डॉ राजेन्द्र प्रसाद(आत्मकथा) की आत्मकथाओं का अपना वैशिष्टय है। अनूदित आत्मकथाओं में से महात्मा गांधी की आत्मकथा (सत्य के प्रयोग) तथा जवाहरलाल नेहरु की आत्मकथा (मेरी कहानी) भारतीय साहित्य में श्रेष्ठतम आत्मकथाएं है। डॉ कमलेश सिंह ने अपनी किताब में यह प्रमाणित किया है कि ''हिन्दी आत्मकथा के उन्नयन काल में हमने इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल में ही हिन्दी आत्मकथा का विकास बहुत ही धीमी गति से हुआ था और उसके लिए हमने भारतीय जनमानस की 'स्व' के प्रति उपेक्षा को मूल कारण माना था। किंतु हमने देखा कि जैसे–जैसे साहित्य में सामान्य जन की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, वैसे–वैसे जीवनी और आत्मकथा के प्रति जो उदासीनता थी, वह भी दूर होती चली गयी। देश के श्रेष्ठ विचारक, नेता, साहित्यकार, क्रांतिकारी तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले महानुभाव अपनी आत्मकथा लिखने को प्रेरित हुए। इतना ही नहीं अपितु इस युग में आकर कवयित्रियां, सिनेतारिकाएं तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाली स्त्रियां भी अपने मूक जीवन को वाणी देने के लिए उत्प्रेरित हुईं। आज का व्यक्ति उन सीमाओं में से बाहर निकलकर 'स्व' की बात अधिक सोचने लगा है, जिनमें बंधकर वह स्वयं के बारे में कुछ भी नहीं

कहता था। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति कहना भी चाहते थे, वे विशिष्ट व्यक्ति ही हुआ करते थे। परंतु अब समाज का प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट होने की स्पर्धा में है।''[27] आत्मचरित में जहां उन्मुक्त मनः स्थिति और अनौपचारिकता आवश्यक है, वहीं भाषा में भी सरलता, स्पष्टता अपेक्षित है। भाषा शैली की चारुता के बिना आत्मकथा लेखक की आत्मन् अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, और जब तक आत्मकथा में आत्मन् अभिव्यक्ति नहीं हो पाती उसे रचनात्मक साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त नहीं हो पाता। हिन्दी आत्मकथा साहित्य प्रारंभ में भले ही उच्च कोटि का न रहा हो, किंतु स्वातंत्रयोत्तर युग में आकर उसका जो विकास हुआ, वह निश्चय ही उसे रचनात्मक साहित्य में परिगणित होने का अधिकारी बनाता है। रचनात्मक साहित्य की तरह ही उसमें भी जीवन का सर्वांगीण चित्रण और व्यक्ति के मनोभावों का विश्लेषण किया जाता है।

बीसवीं शताब्दी के उदय के साथ साहित्य में स्व को प्रतिष्ठित होता हुआ देखा जा सकता है और तभी से जीवनी तथा आत्मकथा आदि रूपों को विकास के पथ पर अग्रसर होता हुआ देखा जा सकता है। आत्मकथा एक ऐसा साहित्य है जिसे पढ़कर जीवन को समुन्नत बनाया जा सकता है। डॉ. कमलेश सिंह के शब्दों में ''इसीलिए आत्मकथा के प्रति पाठक की जिज्ञासा इतनी प्रबल हो उठी है कि आज के युग में प्रबुद्ध पाठक छिछली भावुकता से ओतप्रोत उपन्यास, कहानी आदि छोड़कर विशिष्ट व्यक्तियों की आत्मकथाएं पढ़ने के लिए उत्प्रेरित होता है।''[28] अर्थात् आत्मकथा के प्रति पाठक वर्ग की जिज्ञासा को देखते हुए भविष्य की प्रमुख साहित्यिक विधा के तौर पर देखा जा रहा है। आधुनिक काल में द्विवेदी युग से साहित्य की इस विधा का समुचित विकास होने लगा। स्वामी सत्यानंद, संतराम, तोताराम सनाढ्य, राधाचरण गोस्वामी, भाई परमानंद, स्वामी श्रद्धानंद आदि ने द्विवेदी युग में जो आत्मकथाएं लिखीं, वे लेखकों के जीवन दर्शन को प्रस्तुत करने के साथ–साथ तत्कालीन भारतीय वातावरण तथा भारतीय मनीषा के चिंतन की दिशा को प्रस्तुत करती है। अतएव न केवल साहित्यिक दृष्टि से अपितु तत्कालीन समाज तथा इतिहास के परिज्ञान के लिए इन आत्मकथाओं का अपना महत्व है। इस युग की आत्मकथाओं की पृष्ठभूमि, परतंत्र भारत की परिस्थितियां तथा आर्य समाज के व्यापक प्रभाव से पूरित है। इसीलिए जो स्थिति और वातावरण एक आत्मकथा में प्रस्तुत हुआ, लगभग वही स्थिति और वातावरण उस काल की अन्य आत्मकथाओं में भी बना रहा। ''हिन्दी की आत्मकथा साहित्य का भूतकाल यद्यपि उज्ज्वल और यशस्वी नहीं है, क्योंकि वह युग वैयक्तिकता का न होकर सामूहिकता का था और ऐहिक सुख–दुःख की साहित्य में अभिव्यक्ति अवांछनीय समझी जाती थी। तथापि ऐसे समय में भी श्री बनारसीदास जैन की लिखी आत्मकथा हिन्दी आत्मकथा साहित्य में उनकी एक अप्रतिम देन है।''[29] अर्थात् युग की सामूहिकता के होने से और साहित्य में वैयक्तिकता के अभाव के कारण आत्मकथा का महत्व उतना नहीं रहा जितना होना चाहिए। और बनारसीदास दास ने 'अर्द्धकथानक' लिखकर इसके महत्व को स्थापित किया। छायावाद और छायावादोत्तर युग में हिन्दी आत्मकथा के स्वरूप ने एक व्यवस्थित रूप धारण किया और आत्मकथा को एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्रदान की। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी आत्मकथा का यह काल प्रत्येक दृष्टि से आत्मकथा का उन्नयन काल है। ''स्वातंत्रयोतर काल वास्तव में हिन्दी आत्मकथा साहित्य का वैभव काल है। इस काल में न केवल परिमाण की दृष्टि से अपितु गुणवत्ता की दृष्टि से

भी श्रेष्ठ आत्मकथाओं का प्रणयन हुआ। फिर आत्मकथा का कथ्य और शिल्प गत वैशिष्ट्य भी शनैः शनैः परिष्कृत होते हुए साहित्यिकता और कलात्मकता से परिपूर्ण होता गया। इस काल में लिखित आत्मकथाएं आत्मचरित लेखक की आत्मानुभूति एवं आत्म रंग से इतनी रंजित हैं कि पाठक पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है। साथ ही लेखक के जीवन दर्शन से भी पाठकों को प्रभावित करती हैं और यह प्रेरणा देती है कि वे चाहे तो अपने जीवन को भी तदनुरूप सशक्त और समुन्नत बना सकते हैं।''[30]अर्थात् आजादी के बाद आत्मकथा में साहित्यिकता और कलात्मकता आने लगी और उसका प्रभाव स्थायीत्व होने लगा, जो कि जीवन को सशक्त एवं समुन्नत बनाने के लिए जरूरी लगने लगा है।

साहित्य लेखन की परंपरा में आत्मकथा महत्वपूर्ण क्यों है? यह बात जहां आत्मकथा लेखन की परंपरा ज्ञात होती है वहीं यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि आत्मकथा की रचना क्यों महत्वपूर्ण है। आत्मकथा पर विचार–विमर्श की प्रक्रिया की है तो यह बात उभर कर आती है कि आत्मकथा सिर्फ 'स्व' की खोज नहीं, संबंधों की पड़ताल है जिसका समाज में स्वयं की अस्मिता और अस्तित्व से अनिवार्य संबंध देखा जा सकता है। गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार, ''आत्मकथा' में संबंधों का परिविस्तार प्रायः रचनाकार, उसके आत्मीय–संबंधियों तक ही सीमित होता है। फिर भी, जिन अनुभवों से समाज की छोटी–बड़ी अस्मिताओं के सामूहिक अनुभवों का निर्माण होता है, उनको देखने के लिए 'आत्मकथाएं' महत्वपूर्ण होती हैं। विशेषकर स्त्री के आत्मकथ्य का विश्लेषण–उसका समाज, पीड़ाएं, चोट, लिंगभेद, मनोसामाजिकी, भाषा भंगिमाओं की विशिष्टता को सामने लाने में मदद करता है।''[31] अर्थात् आत्मकथा में जिन संबंधों का उल्लेख होता है वह अनुभव सामूहिकता में अस्मिताओं के उभार का कारण बनता है और वह आत्मकथ्य के विभिन्न सामाजिक तत्वों के परिप्रेक्ष्य में मदद करता है। इसलिए आत्मकथा लेखन की संभावना वहां ज्यादा दिखती है, जहां सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में चेतन और आत्म का संवाद जारी रहता है। संवाद की स्थिति व परिस्थिति के अभाव में आत्मकथा लेखन संभव नहीं है। जार्ज गस्टॉर्फ के अनुसार, ''किसी ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि जहां चेतन और आत्म अपने बारे में ठीक तरह से बात नहीं करते वहां पर आत्मकथा लेखन संभव नहीं।''[32] अर्थात् आत्मकथा लेखन के लिए सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में आत्म और चेतन के बीच संवाद का होना जरूरी है। अन्यथा मुकम्मल आत्मकथा लेखन और उसके माध्यम से समाज के विभिन्न सामाजिक संरचना के विकास का अध्ययन संभव नहीं है।

आत्मकथा लेखन की परंपरा ने जातीय सांस्कृतिक मुहावरा की खोज की है, तोड़ा भी है और उसे गढ़ा भी है। ''सामान्यतः भारतीय संस्कृति किसी आम आदमी को आत्मकथा कहने की इजाजत नहीं देती। साहित्यिक संपदा में आत्मकथा की अनुपस्थिति का कारण संस्कृति है। हिन्दू दर्शन में व्यक्तित्व की स्वतंत्राता अथवा अद्वितीयता को कोई महत्व प्राप्त नहीं है। मनुष्य के अस्तित्व को नश्वर माना जाता है और उसके दिमाग को मूलतः महत्वहीन, किंतु सर्व–सामान्य आकांक्षाओं तथा वासनाओं की अनन्त धारा। चूंकि आत्मा ही वास्तविक है और सभी मनुष्यों में समान है, इसलिए हिन्दू दार्शनिकों का तर्क है कि सारे मनुष्य अन्ततः एक हैं। वैयक्तिकता, आत्मवत्ता, अहं की चेतना या फिर विशिष्टता का बोध–इनको समग्रतः या एक–दूसरे के पर्याय के रूप में 'माया' ही माना जाता है। अपने चिंतन की मौलिकता का दावा करना और अमरता की इच्छा करना–यों आत्म के वर्चस्व

अथवा प्रत्यक्षीकरण के लगभग समस्त रूप निंद्य हैं।...हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति में वैयक्तिकता की बहुत कम कीमत और जगह होती है। आत्मकथा की सांस्कृतिक परंपरा में वैयक्तिकता अनिवार्य तत्त्व और महत्वपूर्ण है। इस वजह से हिन्दू समाज में आत्मकथा लेखन की परंपरा की संस्कृति नहीं रही है।...आत्मकथा वही समाज लिख सकता है, जिसने इतिहास–चिंतन की वैज्ञानिक पद्धति को भली–भांति विकसित किया हो। भारत में इसकी भी कोई परंपरा नहीं रही। चूंकि परिवर्तन की प्रक्रिया को 'माया' के रूप में देखा गया, इसलिए ऐतिहासिक ब्यौरे को केवल मूल्यहीन और महत्वहीन गल्प समझकर खारिज किए जाते रहे हैं। ऐतिहासिक सच केवल सार्वभौम मान्यता–प्राप्त नैतिक सच्चाइयों के रूप में महत्वपूर्ण थे। इसलिए, ऐतिहासिक चेतना के लिए हिन्दू ज्ञान–विज्ञान में कभी महत्वपूर्ण जगह नहीं रही। इसका मतलब यह हुआ कि एक व्यक्ति की जिंदगी के ब्यौरे, उसकी आदतें, मानसिकताएं, भावनाएं और घटनाओं के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएं–यानी जो संक्षेप मे आत्मकथा की कच्ची सामग्री है, वह महत्वहीन मानी जाती रही और कभी लिखने अथवा दर्ज किए जाने के योग्य नहीं पायी गई।...दरअसल आत्मकथा मनुष्य के अंतःजगत् तथा बाह्य जगत् के और उनके बीच के संबंधों के सत्य के अनुभव, अभिव्यक्ति और अन्वेषण की विधा है। जीवन सत्य के विकास में वह योगदान करती है, उसकी बाधा नहीं बनती। अपने सच को सामने लाकर सच की सामाजिक प्रक्रिया को वह जबर्दस्त ढंग से प्रोत्साहित करती है। मनुष्य–सभ्यता के बड़े लक्ष्यों के लिए समर्पित होकर संघर्ष करने में आत्मकथा लिखने की सकारात्मक भूमिका की पहचान जरूरी है। दोनों में कोई अंतर्विरोध नहीं है।...बहरहाल, हमारी परंपरा में 'सत्य' की जो अवधारणा सक्रिय रही है, उसके चलते आत्मकथा और इतिहास और इन दोनों की चेतना का प्रायः अभाव ही रहा है।''[33] इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक इतिहास चेतना के बगैर आत्मकथा लिखी नहीं जा सकती। वह आत्मज्ञान बोध के साथ ऐतिहासिक क्रम में जीवन की सार्थकता की चाह और खोज का साहित्यिक रूप है।

आत्मकथा लेखन की परंपरा की पृष्ठभूमि, लेखन की परंपरा की शुरूआत, विशेषताओं के विवेचन–विश्लेषण के साथ यह बात सहज रूप से सामने आती है कि आखिर आत्मकथा का विकास क्यों नहीं हुआ? क्या भारतीय समाज के पास वैज्ञानिक इतिहास चेतना की कमी रही है? या कोई अन्य कारण रहा है। दरअसल बात वैज्ञानिक इतिहास चेतना की कमी उतनी नहीं रही है जितनी की वैज्ञानिक चेतना के उदय न होने देने की रही है। वैज्ञानिक चेतना जो कि 'स्व' की चेतना की उपज रही है। भारतीय समाज 'स्व' की चेतना पैदा ही नहीं होने देती है। वह जाति और धर्म के बीच बंध जाता है। ''भारतीय सभ्यता में जाति और धर्म की नियामक भूमिका थी। धर्म और जाति पर आधारित सामूहिक अस्मिताएं यहां इतनी सशक्त थीं कि वैयक्तिक सत्ता और वैयक्तिकता के बोध को सम्यक रूप से विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला। संक्षेप में, यह ऐसी सभ्यता थी जहां समाज तो समादृत था और व्यक्ति तिरस्कृत। वैयक्तिकता के विकास के लिए अवकाश नहीं था तो आत्मकथा का कैसे विकास होता?''[34] अस्मितामूलक आंदोलन ने वैयक्तिकता के विकास के लिए खुला स्पेश दिया। जिस कारण दलित साहित्यांदोलन में आत्मकथा लेखन की शुरूआत हुई और सबसे ज्यादा विकसित, परिमार्जित एवं परिष्कृत हो रही है। यह याद रखना आवश्यक है कि वैयक्तिकता का विकास बहुत कुछ

ऐतिहासिक सांस्कृति परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अस्मितामूलक आंदोलन ने दलित और स्त्री दोनों को समाज और उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान को राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया है। व्यक्ति और वैयक्तिकता की अवधारणा संस्कृति सापेक्ष होती है। ''लिंडा एंडरसन ने पाल डी मान के साक्ष्य पर लिखा है कि आत्मकथा एक स्वतंत्र विधा नहीं है, यह पढ़ने या समझने के एक तरीके का नाम है। यह बात केवल आत्मकथा पर नहीं बल्कि अन्य विधाओं की रचनाओं पर भी लागू होती है। इसलिए न तो आत्म और न ही आत्मचरित की कोई सर्वस्वीकृत मान्यता प्राप्त अवधारणा हो सकती है। भिन्न–भिन्न संस्कृतियां अपने विकासक्रम के दौरान आत्म और आत्मचरित की अलग–अलग अवधारणा और रूप को विकसित करती हैं।''[35] सभ्यता–संस्कृति के विकासक्रम में ही 'स्व' की चेतना खुलती गई और वैज्ञानिक इतिहास चेतना का भी विकास देखा गया है। इसी क्रम में आत्मकथा लेखन की परंपरा और उसके विकास की प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

इसी विकास प्रक्रिया में स्व–लेखन की परंपरा विकसित होती गई। समय सापेक्ष साहित्य के विकास क्रम में और उसके इतिहास में आत्मकथा लेखन प्रमुखता से स्थान ग्रहण करता गया। अस्मिता व अस्तित्ववादी लेखन के द्वारा आत्मकथा ने साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त की है। यही कारण है अस्मितामूलक साहित्य में आत्मकथा केन्द्रीय विधा के तौर पर उभरी है।

आत्मकथा लेखन के इतिहास में उसका लक्ष्य भी निहित है। कौसल्या बैसंत्री के शब्दों में ''अगर हम स्वाभिमान से अपनी उन्नति करना चाहते हैं, तब हमें अपने पांव पर खड़ा होकर, अपने पर भरोसा रखकर, आगे बढ़ना होगा। हमें अपने अंदर शक्ति पैदा करनी होगी। किसी का सहारा लेकर चलने से काम नहीं बनेगा।''[36] इसी शक्ति और नये सौन्दर्यबोध के लिए दलित साहित्य की वैचारिकता समाजशास्त्रीय आलोचना की बात करती है। समाजशास्त्रीय आलोचना में सामाजिक व्यवस्था/संरचना की निर्मिति और क्रियान्विति दोनों की पड़ताल /परख होती है। ''भारत के संदर्भ में यह देखना दिलचस्प होगा कि जाति और धर्म जैसी सामूहिक अस्मिताओं के बीच से वैयक्तिक अस्मिता का विकास किस रूप में होता है, और इन दोनों के अंतर्संबंध कैसे बनते बिगड़ते हैं। वस्तुतः जाति, धर्म, पितृसत्ता, परिवार, सामाजिक परिवर्तन, व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों को बेहतर ढ़ंग से समझने में ये 'आत्मचरित' मददगार साबित हो सकते हैं। इन आत्मचरितों के अध्ययन से न केवल उस व्यक्ति से संबंधित लोगों के बारे में, बल्कि व्यापक समाज और समाज के उस हिस्से के बारे में नई अंतर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है।''[37] नई अंतदृष्टि से सामाजिक समस्याओं की समझ बढ़ सकती है और समस्याओं की पहचान से विकास की राह आसान हो सकती है। इसी से नवीन सौन्दर्य की निर्मिति भी हो सकती है। आत्मकथा की परंपरा अपने विकासक्रम में विविधता को समेटती हुई चली है। इस विविधता में सामाजिक संरचना का सौन्दर्य हमेशा से ही नियामक बना रहा है। हिन्दी आत्मकथा की संवेदना में इसे सहज की समझा जा सकता है। महसूस किया जा सकता है।

1.3 स्त्री आत्मकथा लेखन की परंपराः

पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री जीवन का दास्तान बहुत ही संघर्षपूर्ण और यातनामय रहा है। मनुष्यता की भावभावना से अलग अपदस्थ और समाज की सीढ़ियों के पायदान में नीचे अवस्थित उनकी कहानी रही है। अस्तित्व होते हुए भी अस्तित्वविहीन पुरुषों के अधीनस्थ जीवन जीति रही है और अभिशप्त होती रही है। यही अस्तित्वशून्य जीवन चेतना से लैस होती है तो अपने अस्तित्व की रक्षा और अधिकारों के लिए न केवल शिक्षित होती है बल्कि शिक्षित होकर स्त्री जीवन का इतिहास लिख रही है। इसी कड़ी में स्त्रियों ने स्वयं का दास्तान लिखना शुरू किया जो कि स्त्री लेखन के इतिहास में आत्मकथा के नाम से जाना जाता है। सर्वप्रथम 1876ई में राससुंदरी देवी द्वारा बांग्ला भाषा में 'आमार जोबोन' नाम से स्त्री लिखित पहली आत्मकथा प्रकाशित हुई।[38] डॉ नीरू के अनुसार ''आमार जोबोन' में असमानता और अन्याय के कारण दुर्दशा को प्राप्त हुई स्त्री जीवन के दबे ढके को जिस साहस और प्रतिरोधी चेतना के साथ सार्वजनिक किया गया था, वही साहस बांग्ला, मराठी आदि भाषाओं के संग–संग हिंदी की अनेक आत्मकथाओं में भी मुखरित हो रहा है।,''[39] इसी कड़ी में नीरू ने विभिन्न भाषाओं में लिखी जा रही स्त्री आत्मकथाओं की सूची दर्ज करती हुई यह अंकित किया है कि ''सामाजिक सुधारों के उस दौर में स्त्री भी जाग रही थी और वह अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से पुरुष के सार्वजनिक और निजी जीवन के अंतर्विरोध को उजागर कर रही थी।' वहीं इसी क्रम में वे दुःखिनीबाला द्वारा रचित 'सरला :एक विधवा की आत्मजीवनी' को हिंदी की पहली आत्मकथा कही है।''[40] जिसका प्रकाशन धारावाहिक रूप में जुलाई 1915 से लेकर मार्च 1916 तक 'स्त्री दर्पण' नामक पत्रिका में हुआ था। महिला आत्मकथाओं की दृष्टि से बांग्ला में राससुंदरी देवी की आत्मकथा के बाद यह आधुनिक भारत की पहली आत्मकथा हो सकती है लेकिन सवाल उठता है कि क्या इससे पहले स्त्रियों ने अपने जीवन की कथा नहीं कही है या लिखी है? दुखिनीबाला की आत्मकथा प्रकाशन के बाद हंस का आत्मकथा विशेषांक जो सन् 1932 में आया है जिसमें आत्मकथांश है मुकम्मल रूप में आत्मकथा के तौर पर जानकी देवी बजाज की आत्मकथा 'मेरी जीवनयात्रा 1956 में प्रकाशित होती है। यह क्रम निरंतर बढता है और बीसवीं शताब्दी के अंत और इक्कीसवीं शताब्दी की शुरूआत में स्त्री आत्मकथा के इतिहास में हिंदी भाषा की स्त्रियां नए तेवर और नई उर्जा के साथ आत्मकथा लेखन करती हैं। इसी क्रम में पदमा सचदेव की बूंद बावड़ी, कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसै और गुड़िया भीतर गुड़िया, चन्द्र किरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना, रमणिका गुप्ता की 'हादसे' और 'आपहुदरी', आशा आपराद की 'दर्द जो सहा मैंने', और निर्मला जैन की 'जमाने में हम' आदि आत्मकथाएं प्रकाशित होती हैं । जिसमें न केवल दो युग की स्त्रियों की फलसफा है बल्कि उनके संघर्ष और संघर्ष की जिजीविषा भी है जो समाज को परिवर्तित होने, उसके कलेवर को बदलने के लिए, एक नई संरचना के लिए एक नई सोच और एक नया भविष्य है।

साहित्य में आधुनिक युग में आकर जबसे सदियों से अपने अधिकारों से वंचित समूह ने लिखना शुरू किया है तभी से आकर साहित्य में सहानुभूति एवं स्वानुभूति का मामला साहित्य के केंन्द्र में है। इस संदर्भ में

स्त्री चिंतन के अग्रदूत जर्मेन ग्रीयर ने बहुत ही सही लिखा है कि ''जो ज्ञान पुरुष स्त्रियों से उनके बारे में हासिल करते हैं, भले ही वह उनकी संचित संभावनाओं के बारे में न होकर, सिर्फ उनके भूत और भविष्य के बारे में ही क्यों न हो, तब तक अधूरा और उथला रहेगा जब तक कि स्त्रियां स्वयं वह सब कुछ बता नहीं देती, जो उनके पास बताने के लिए है।''[41] अर्थात् पुरुष हमेशा से स्त्री मन की अतल में प्रवेश कर उसे समझने में असफल रहा है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि पुरुष स्त्रियों की समस्याओं को नहीं समझ सकते हैं। समस्या तो यह है कि पुरुष इसे समझना ही नहीं चाहते हैं। इसलिए साहित्य में स्वानुभूति का सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है और आत्मकथा स्वयं से समाज की ओर बढ़ने एवं उसे समझने का माध्यम है।

पितृसत्ता के शिकंजे में कैद स्त्री जीवन समय सापेक्ष बदल तो जरूर रहा है लेकिन स्त्री आत्मकथाएं जिस पितृसत्तात्मक दमन, उत्पीड़न–शोषण को रेखांकित कर रही हैं उसमें उसके स्वरूप में बदलाव तो जरूर हो रहा है लेकिन पितृसत्ता का अंत होने की दिशा में कोई खास कदम नहीं दिखाई दे रही है। स्त्रियां आज भी बच्चों के जन्म को लेकर प्रताड़ित हो रही हैं और इतिहास तो इसका बहुत ही अलग रहा है। यह अलग बात है कि वर्तमान स्त्रियां अपनी चेतना के कारण परंपरा से अलग कुछ सोचने लगी हैं लेकिन कितना अलग सोच रही हैं, यह महत्वपूर्ण है। इसी के साथ यह भी सत्य है कि जितना शोषण–दमन एवं उत्पीड़न उन्होंने अपने जीवन में सहा है उसी से उनके भीतर जब चेतना आई है तो वे उतने ही संकल्प के साथ इस अन्याय अत्याचार आदि के खिलाफ लेखनी भी चला रही हैं और अन्य जरूरी कदम भी उठा रही हैं। लेकिन यह सत्य है कि इस पितृसत्तात्मक समाज की सोच की संरचना और दीवार को वे तोड़ नहीं पा रही हैं।

पितृसत्ता के दायरे और संस्कार में पली–बढ़ी लड़की के लिए उसका मनमोहक रूप जितना आकर्षक है क्या उसके शिकंजे में दबती स्त्री के जीवन के मूल्यों एवं सपनों की आकांक्षा के लिए उतना ही सशक्त प्रतिरोध खड़ा हो रहा है। या वह उसका प्रतिरोध कर रही है। इन आत्मकथाओं की नायिका पितृसत्ता की जिस घिनौनी रूप से बचपन में ही परिचित हो जाती है, क्या उसके खिलाफ विरोध की आवाज उसी समय से जन्म लेने लगी थी जो आज लेखन के माध्यम से निकल रही है? प्रेम विवाह क्या उसी पितृसत्तात्मक समाज के प्रति विद्रोह की कवायद है। मन्नू भंडारी का राजेन्द्र यादव से विवाह और प्रभा खेतान का डॉक्टर के साथ 'लीविंग टूगेदर' में जीना उसी की परिणति है।

स्त्री आत्मकथा एक स्त्री के संघर्ष का दास्तान है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था की दीवार में कैद है। आशा आपराद अपनी आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' में आत्मकथा को परिभाषित करती हुई लिखती है कि ''अपनी गिरवी रखी जिंदगी छुड़ाने में मेरी पूरी जिंदगी बीत गई। यह आत्मकथा उसी संघर्ष की दास्तान है।''[42] सवाल उठता है यह गिरवी है क्या? वे बताती हैं कि यह गिरवी उसी स्त्री की जिंदगी की कहानी है जिसके सूत्रधार कोई और नहीं उसकी अपनी मां है जिसकी आदत है गिरवी रखने की। उन्हीं के शब्दों में, 'उसने मेरी जिंदगी, मेरे सारे अरमान अपने लिए अपने पास गिरवी रख लिए।'[43] यहां यह स्पष्ट होता है कि एक स्त्री की जिंदगी की व्यथा कारक कोई और नहीं एक स्त्री भी है। इसके बावजूद स्त्री आत्मकथा स्त्री मुक्ति का एक साधन है, एक माध्यम है। स्त्रियों के जीवन का जो दर्द, पीड़ा, संत्रास, टीस आदि जो पहले कभी छिप–छिपाकर आंसुओं से

निकलती थी, वही अब समाज के समक्ष लेखन में निकल रही है। इसीलिए आशा आपराद लिखती है कि ''दर्द के समुंदर को कुछ हद तक पार करने का जो प्रयास मैंने किया उसी का वृतांत है मेरी आत्मकथा।''[44] इस संदर्भ में सिमोन द बुआवर की यह बात बहुत ही सार्थक है कि मां पितृसत्ता को हस्तांतरित करती है। वे लिखती है कि ''औरत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह बचपन से केवल दूसरी औरतों के हाथ में प्रशिक्षण के लिए छोड़ दी जाती है।...मां एक ही साथ अपनी लड़की के प्रति स्नेहशील और विरोधी, दोनों ही होती है। वह अपनी बेटी को अपनी नियति के साथ बांध लेती है। उसमें वह अपना नारीत्व फिर स्थापित करना चाहती है। यह एक प्रकार का स्वयं से प्रतिशोध है।''[45] अर्थात् पितृसत्तात्मक व्यवस्था में मां भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष एक स्त्री की दयनीयता को नियति मानकर अपनी भावी पीढ़ी को हस्तांतरित करती रहती है।

21वीं सदी तक स्त्री का सफर कितना सुखद हुआ है। यह तो समय ही बताएगा, लेकिन आत्मकथा लेखिका के जीवन संघर्ष की मुक्ति की कहानी है। वह किसी एक स्त्री की कहानी नहीं है बल्कि संपूर्ण स्त्री जगत की संघर्ष–कहानी है। इसलिए आशा आपराद लिखती है कि ''मेरी यह कहानी सिर्फ मेरी नहीं, यह जैसे समस्त स्त्री जाति की है। जो पुराने नए संदर्भों में परंपरा से चलती आई है जिसका सिर्फ 'जामा' बदला है 'जिस्म' तो वही है नारी का।''[46] ''मैंने अपने आप को ढूंढ़ने की कोशिश जिंदगी भर की। अस्मिता, आत्मविश्वास और अस्तित्व को पाने का प्रयास मैंने जीवनभर किया, क्योंकि अपनों ने जो मेरी पहचान मुझे करा दी थी वह सारी बातें कहीं भी नहीं थीं, इससे मेरे व्यक्तित्व का बोनसायीकरण हो गया। धर्म, रूढ़ि, रीति–रिवाज, परंपरा जैसे अनेक पत्थरों से बनी दीवारों के कारागार में मैं कैद होकर रह गई।''[47] वहीं मन्नू भंडारी के अनुसार आत्मकथा ''यहां मुझे केवल उन्हीं स्थितियों का ब्योरा प्रस्तुत करना था, वो भी जस का तस, जिनसे मैं गुजरी–दूसरे शब्दों में कहूं तो जो कुछ मैंने देखा, जाना, अनुभव किया, शब्दशः उसी का लेखा–जोखा है यह कहानी। जहां मेरे लेखन के क्रमिक विकास, उससे जुड़ी घटनाओं –मुझे सहेजते संवारते, जोड़ते–तोड़ते संपर्कों संबंधों पर ही केन्द्रित रहना इसकी सीमा है, वहीं इसकी अनिवार्यता भी।''[48] इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथा स्त्री जीवन के उतार–चढ़ाव के संघर्ष के साथ–साथ संबंधों की परख को भी रेखांकित करती है। जिसमें किस प्रकार एक स्त्री की जिंदगी को सदा के लिए गिरवी रखी जाती है, उसी का वृतांत मौजूद है। गौरतलब बात तो यह है कि इसमें पुरुषों के साथ स्त्रियां भी शामिल होती हैं। नीरू के अनुसार ''इसमें कोई संदेह नहीं कि मन्नू जी राजेन्द्र जी के प्रेम, विवाह और अलगाव की कहानी इस कृति की संरचना का मूल ढांचा है, मगर फिर भी, यह रचना इतनी सी नहीं है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के भारत का प्रामाणिक दस्तावेज है यह। नारी विमर्श का क्रमिक इतिहास देखना हो, पुरुष की सामंती वृत्ति की क्रूरता का तिलिस्म देखना हो, हिंदी कहानी के विकास की अनेक करवटों से परिचय पाना हो, रचनाकारों के राग–विराग की उजली स्याह छवियां पकड़नी हों, राजनीति के घिनौने खेल का तांडव देखना हो, मूल्यों की सापेक्षता–निरपेक्षता में जीवन का आरोही–अवरोही क्रम जांचना हो–सब यहां मिलेगा।''[49] अर्थात् स्त्री आत्मकथा में स्त्री विमर्श के इतिहास के साथ–साथ मानवीय मूल्यों की सापेक्षता–निरपेक्षता में जीवन को समझने का सूत्र विद्यमान है।

अफ्रो अमेरिकन लेखिका माया एंजेलो के अनुसार ''आत्मकथा लिखना एक नशे की तरह होता है, रचनाकार लिखने लगें तो लिखते ही जाते हैं। माया के अनुसार आत्मकथा काफी लुभावनी होती है। आत्मकथा मात्र किसी एक व्यक्ति के जीवन का लेखा जोखा नहीं होती हैं। उनमें उस समाज और काल का चित्रण होता है। वे दस्तावेज होती हैं। यह विधा बहुत सावधानी और उत्तरदायित्व का काम है।''[50] इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मकथा में निजित्व की बात होती है, लेकिन उसमें सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होता है कि आत्म के साथ समाज के विभिन्न पहलुओं का समझने का सूत्र। संभवत यही वजह है कि गरिमा श्रीवास्तव लिखती हैं कि ''आत्मकथाएं वस्तुतः आत्मकथा विधा को एक नये ढंग से संवादधर्मिता और राजनीतिक समाज वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का अवसर प्रदान करती हैं, जिनके साक्ष्य हमें उन्नीसवीं शताब्दी से मिलने प्रारंभ होते हैं।''[51] अर्थात आत्मकथा एक संवादधर्मी साहित्यिक हस्तक्षेप है और समाज के विभिन्न तत्वों को राजनीतिक समाज वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का माध्यम भी। जिसकी शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी से होती है। स्त्रीवादी आलोचकों ने आत्मकथा की स्त्री परंपरा की विस्मृति कड़ियों को जोड़कर पश्चिम में आत्मकथा की वैकल्पिक सैद्वांतिकी प्रस्तुत की, जिसमें स्त्री रचित आध्यात्मिक गीत, दास आख्यान, राजनीतिक या प्रतिरोधी आख्यान श्रमिक और बंदी स्त्रियों के आत्मकथ्य, डायरियां और अनेकानेक रूपों में लिखी जा रही आधुनिक उपन्यास विधा शामिल है। जब स्त्रियों में अस्मिता की पहचान जगी तो पारिवारिक संबंध, धर्म, नैतिक मूल्य और भावबोध सब में युगांतकारी परिवर्तन दिखाई देने शुरू हुए। ''गुलामों के द्वारा गाए जाने वाले गीत ही शोषण गुलामी उपेक्षा प्रताड़ना से उत्पन्न मानसिक अवसाद को व्यक्त कर सकते थे। उन लोगों तक व्यथा कथा पहुंचा सकते थे जो दास जीवन और उसकी पीड़ा के यथार्थ से अनभिज्ञ थे। इन गीतों का लक्ष्य गुलामों की पीड़ा को अभिव्यक्ति देना और यह बताना थ कि कोई भी अपनी दासता से संतुष्ट नहीं होता गुलामी से संतुष्टि मिथ है।'...'अश्वेत आत्मकथाएं प्रारंभ में 'सलेब्ज नैरेटिव्ज' या दास आख्यानों के रूप में ही सामने आईं, जिनका उद्देश्य पाठकों को यह बताना था कि गुलाम भी मनुष्य हैं, उनमें भी वहीं विशेषताएं गुण या अवगुण विद्यमान हैं, जो श्वेतों में होते हैं, साथ ही पाठकों का ध्यानाकर्षित करके सहानुभूति अर्जित करना भी उनका उद्देश्य था, जिन्होंने अश्वेत आंदोलन को वैचारिक आधार देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।''[52] अर्थात् आत्मकथा न केवल मनुष्य जीवन का आख्यान है बल्कि 'मानवबोध' के लिए संघर्षरत आंदोलन की वैचारिकी भी है।

स्त्री आत्मकथाएं प्रतिरोध की प्रतिज्ञा के साथ रची जाती हैं। सुधा सिंह के अनुसार ''स्त्री के सामने आत्मकथा लिखते समय अजीब द्वंद्व की स्थिति होती है। जिसके बारे में लिख रही होती है, वह वो स्वयं होती है; जिस औजार के जरिए लिख रही होती है यानि भाषा उसमें उसके अपने अनुभव के शब्द नहीं होते। संसार को नामित करने की प्रक्रिया से वह बाजार होती है। इन सबसे मुश्किल स्थिति यह है कि वह जब तक आत्मकथा लेखन में 'सब्जेक्ट'की भूमिका में नहीं होगी, तब तक वह नहीं लिख सकती। स्त्री को 'सब्जेक्ट' की भूमिका में कभी देखा ही नहीं गया है; वह रचना में, भाषा में, समाज में ऑब्जेक्ट ही रही है।''[53] अर्थात् स्त्री आत्मकथा लेखन स्त्री को 'ऑब्जेक्ट से सब्जेक्ट' बनने की प्रक्रिया का प्रतिफलन है। इस पूरी प्रक्रिया में स्त्री मन का न केवल संसार समाया होता है, बल्कि पूरा समाज एक साथ ऊभर कर आता है। ''हिंदी में आत्मकथात्मक साहित्य

का आलम यह है कि साहित्येतिहास की पुस्तकों में पहले भारतेन्दु की रचना 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' को हिंदी की पहली आत्मकथा लेखन का प्रयास कहा गया और फिर जब तक बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' को नहीं खोज लिया गया, आत्मकथा लेखन की शुरूआत नहीं मानी गई। जबकि स्त्रियों द्वारा लिखे गए आत्मकथात्मक गद्य के नमूने पहले भी मिलते हैं, लेकिन उन पर आत्मकथा की कोटि के तहत विचार नहीं किया गया।''[54] इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथा न सही लेकिन स्त्री आत्मकथात्मक लेखन की परंपरा बहुत पुरानी है जिस पर अलग से भी शोध समय सापेक्ष आ रहा है। समस्या यह है कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री लेखन को न केवल नकारा गया, बल्कि उसकी लेखनी को पुरुषवादी नजरिया से देखकर महत्वहीन भी बनाया गया; क्योंकि कहीं न कहीं स्त्री लेखन समाज में पुरुषवादी वर्चस्व को, उस व्यवस्था को चुनौती देती है। सुधा सिंह स्त्री आत्मकथात्मक लेखन की शुरूआत 19वीं सदी के आरंभ से मानती हुई इसके महत्व को रेखांकित करती हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''स्त्री लेखन का संसार उसके अनुभव के संसार से ही शुरू होता है, इसलिए स्त्री के आरंभिक लेखन में स्त्री के अनुभव का संसार अति परिचय की हद तक शामिल है। घर–परिवार, पति–बच्चे, घरूआ वातावरण और इसके भीतर के शक्ति संबंधों की दुनिया सब इतनी ज्यादा पहचानी हुई लगती है कि वह महत्वहीन हो जाती है। ध्यान रखना चाहिए कि महत्वहीन या महत्वपूर्ण साबित करने का काम स्त्री लेखिका नहीं बल्कि पुंसवादी लेखकीय मानदंडों के आधार पर पुरुष आलोचक लेखक करता है। ऐसे में स्त्री के अस्तित्व को लेकर उसके प्रति जो उपेक्षा भाव घर और समाज में होता है, उसी की झलक विचारों और लेखन की दुनिया में भी दिखाई देती है।''[55] अर्थात् कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथात्मक लेखन न केवल स्त्री अनुभव की उपज है बल्कि समाज में स्त्री के प्रति उपेक्षा की मानसिकता के खिलाफ विद्रोह की देन भी है और वह समतामूलक समाज की परिकल्पना की रूपरेखा भी प्रस्तुत करता है। यही वजह है कि 1876 में राससुंदरी देवी द्वारा बांग्ला भाषा में लिखित पहली आत्मकथा 'आमार जोबन' में असमानता और अन्याय के कारण दुर्दशा को प्राप्त हुए स्त्री जीवन के दबे ढके को जिस साहस और प्रतिरोधी चेतना के साथ सार्वजनिक किया गया था वही साहस बांग्ला, मराठी आदि भाषाओं के साथ साथ हिंदी की अनेक आत्मकथाओं में भी मुखरित हो रहा है। स्त्री आत्मकथाओं की दृष्टि से बांग्ला में राससुंदरी देवी की आत्मकथा के बाद 'आमार कोथा' बिनोदिनी दासी 1912 ई, आत्मकोथा देवी शरदसुंदरी 1913; 'सेकाले कोथा' निरंतारिणी देवी 1913; 'पूर्वकोथा' प्रसन्नमयी देवी 1917, 'अमियबाला की डायरी 'अमियबाला 1929; 'जीवन स्मृति' सुदक्षिणा सेन 1932 ई आदि आत्मकथाओं का लगातार रचा जाना यही सूचित करता है कि सामाजिक सुधारों के उस दौर में स्त्री भी जाग रही थी और वह अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से पुरुष के सार्वजनिक और निजी जीवन के अंतर्विरोध को उजागर कर रही थी। इसी प्रकार मराठी में 'आमच्या आयुष्यांतील कांही आठवणी रमाबाई रानडे 1910, 'स्मृति तरंग, अन्नपूर्णाबाई रानडे 1931 ई, 'स्मृति चित्रे लक्ष्मीबाई तिलक 1934ई, जीवन नृत्य मीनाक्षी साने 1934 ई, माझी कहानी पार्वतीबाई आठवाले 1936 आदि आत्मकथाओं में भी स्त्री पुरुष असमानता की पीड़ा और छटपटाहट देखी जा सकती है। मराठी में दलित लेखिकाओं ने भी अपने तिहरे शोषण को बड़ी निर्भिक अभिव्यक्ति दी है जिनमें कुमुद पावड़े की आत्मकथा 'अन्तःविस्फोट'; बेबीताई कांबले की 'जीवन हमारा', शांताबाई कांबले की 'माझया जलमाची चितरकथा', मुक्ता

सर्वगोड की 'मिटलेली कवाड़े' , कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' तथा जनाबाई गिरहे की 'मरणला' आदि उल्लेखनीय है।

इस तरह हिंदी में किसी स्त्री द्वारा लिखित पहली ज्ञात आत्मकथा 'दुखिनीबाला' रचित 'सरला :एक विधवा की आत्मजीवनी' है, जिसमें प्रतिरोध की प्रतिज्ञा का प्रमाण पत्र मिल जाता है। दुखिनीबाला की इस आत्मकथा के बाद हिंदी में स्त्री आत्मकथाओं के क्षेत्र में पसरा लंबा सन्नाटा चौंकाता है। दुखिनीबाला की आत्मकथा के लगभग चार दशक बाद 1956 में जानकीदेवी बजाज की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' लिपिक श्री रिषभ देव रांका बोलकर लिखाई गई थी। बीसवीं शताब्दी बीतते बीतते हिंदी क्षेत्र की स्त्रियां अपना मौन तोड़ती है और एक के बाद एक अनेक आत्मकथाएं साहित्यिक परिदृश्य पर उभरती है। इनमें पदमा सचदेव की बूंद बावड़ी, कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुडल बसै, और 'गुड़िया भीतर गुड़िया', चंद्रकिरण सौनरेक्सा की पिंजरे की मैना', रमणिका गुप्ता की 'हादसे' और 'आपहुदरी', सुशीला टाकभौर की 'शिकंजे का दर्द', निर्मला जैन की 'जमाने में हम', रजनी तिलक की 'अपनी जमीं अपना आसमान', कावेरी की 'टुकड़ा टुकड़ा जीवन' आदि महत्वपूर्ण है। इसी बीच अंग्रेजी, पंजाबी, मलयालम, मराठी, बांग्ला आदि भाषाओं से अनूदित आत्मकथाओं से भी हिंदी जगत समृद्ध हुआ। जिसमें कमलादास, तहमीना दुर्रानी, अमृता प्रीतम, अजीत कौर, दलीप कौर टिवाणा, तसलीमा नसरीन, बेवी हलदार, नलिनी जमीला आदि की आत्मकथाएं उल्लेखनीय हैं।

समग्रतः कहा जा सकता है कि आत्मकथा न केवल आत्म की कथा है बल्कि आत्म निरीक्षण के साथ–साथ आत्म संघर्ष की कहानी तो है ही, उससे बढ़कर समाज और समाज के विभिन्न पहलुओं को समझने तथा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में एक संवादधर्मिता को स्थापित करने का माध्यम भी है। समाज विज्ञान के सभी तत्वों में हस्तक्षेप का सवाल है। स्त्री आत्मकथा स्त्री जीवन के संघर्ष के साथ उनके स्वप्न एवं विजन की कहानी है जिसमें स्वयं के साथ–साथ समाज को समझने का सूत्र भी निहित है। समाज में स्त्री के नजरिए से विभिन्न सामाजिक तत्वों में हस्तक्षेप करने और उसे विकसित करने का एक रचनात्मक उपकरण है। आत्मकथा लेखन की परंपरा हिंदी में बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' से माना गया है लेकिन इसकी पृष्ठभूमि प्राचीन काल से माना जा सकता है। भारत में पहली स्त्री आत्मकथा राससुंदरी देवी की 'अमार जीवोन' 1876 में आई, उसके बाद हिंदी की पहली स्त्री आत्मकथा दुखनीबाला की आत्मकथा 'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' नाम से 1915 ई में आई। तत्पश्चात हिंदी में स्त्री विमर्श और लेखन की दृष्टि से 21वीं सदी में एक रचनात्मक आंदोलन के तौर पर आत्मकथा लेखन की परंपरा शुरू होती है, जिसमें स्त्री जीवन संघर्ष और आंदोलन के विविध पक्षों को स्त्री मुक्ति आंदोलन की दृष्टि से देखा गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञान मंडल लिमिटेड, इलाहाबाद, 1995, पृ. 77
2. विनिता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाएं सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989,पृ. 4
3. वही, पृ. 11
4. कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप', के फ्रलैप और अन्दर के पेज पर आत्मकथात्मक उपन्यास की चर्चा है। राधकृष्ण पेपरबैक्स प्रकाशन द्वारा प्रकाशित मराठी दलित लेखक दया पवार की आत्मकथा 'अछूत' के पिछले पृष्ठ पर उद्धृत कथन में आत्मकथात्मक उपन्यास शब्द का प्रयोग किया गया है।
5. विनिता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाः सिद्धांत और स्वरूप विश्लेषण, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989,पृ. 19
6. डॉ. कमलेश सिंह, हिन्दी आत्मकथाः स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1989, पृ. 2
7. वही, पृ. 5
8. पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 13–14
9. उद्धृत वही, पृ. 15
10. वही, पृ. 19
11. वही, पृ. 21
12. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 67
13. कौसल्या बैसंत्रीा, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ. 8
14. डॉ. रमाशंकर आर्य, घुटन, पृ. 5
15. डॉ. कमलेश सिंह, हिन्दी आत्मकथाः स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1989, पृ. 16
16. वही, पृ. 18
17. वही, पृ. 40
18. डॉ. राज कुमार, दलित पर्सनल नैरेटिवस (रीडिंग कास्ट, नेशन एंड आईडेंटिटी), ऑरिएंटल ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2010, पृ. 14
19. वही, पृ. 9
20. वही, पृ. 18
21. वही, पृ. 43
22. विनिता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाएं सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989 पृ. 1
23. पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. आत्मकथा क्यों
24. डॉ. राज कुमार, दलित पर्सनल नैरेटिवस ;रीडिंग कास्ट, नेशन एंड आईडेंटिटीद्ध, ऑरिएंटल ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2010,पृ.48
25. डॉ. कमलेश सिंह, हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1989,पृ.100
26. वही, पृ. 142
27. वही, पृ. 230
28. वही, पृ. 236
29. वही, पृ. 237
30. वही, पृ. 239
31. गरिमा श्रीवास्तव, सवर्ण स्त्री–'प्रति'–आख्यान, पाखी, मई 2012, पृ. 61

32. उद्धृत, गरिमा श्रीवास्तव, वही पृ. 61 कंडीशंस एंड लिमिट्स ऑपफ ऑटोबायोग्रापफी–जार्ज गस्टॉपर्फ, इनओल्गी ऑटोबायोग्रापफ
33. पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 34–38
34. राजकुमार, आत्म और आत्मचरित, तदभ्व–सृजन से शिखर, सं. अखिलेश, लखनऊ, अंक–25, पृ. 383
35. वही, पृ. 389
36. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 124
37. राजकुमार, आत्म और आत्मचरित, तदभ्व–सृजन से शिखर, सं. अखिलेश, लखनऊ, अंक– 25, पृ. 384
38. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेजः महिला आत्मकथाएं, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009,पृ. 8
39. वही, पृ.
40. वही, पृ. 9
41. जर्मेन ग्रीयरः बधिया स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ.15
42. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, मनोगत, पृ. 7
43. वही
44. वहीं मनोगत पृ. 8
45. सिमाने द बुआवर, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 136
46. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैने, मनोगत, पृ. 9
47. वही, पृ. 8
48. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008, पृ. 08
49. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेजः महिला –आत्मकथाएं, पृ. 74
50. विजय शर्मा, अफ्रो–अमेरिकन साहित्यः स्त्री स्वर, वाणी प्रकाशन, 2014, पृ.44
51. दलित स्त्रीवाद, संपादक– संजीव चंदन और अनीता भारती, पृ. 170
52. वही, पृ. 172
53. सुधा सिंह, सं. मेरा जीवन, रास सुन्दरी दासी, स्वराज प्रकाशन, 2010, पृ. 09 भूमिका से,
54. वही, पृ. 08
55. वही, पृ. 08

दूसरा अध्याय

हिंदी स्त्री आत्मकथा में अभिव्यक्त यथार्थ

''मैं किसी समाज की उन्नति का अनुमान इस बात से लगता हूं कि उस समाज की महिलाओं की उन्नति कितनी हुई है। नारी की उन्नति के बिना समाज एवं राष्ट्र की उन्नति असंभव है।''[1]

– डॉ. बी आर अम्बेडकर

अर्थात् किसी भी समाज की उन्नति का अनुमान उस समाज की स्त्रियों की स्थिति से लगाया जा सकता है। यदि समाज में स्त्रियों की स्थिति ठीक नहीं है, वह तरक्की नहीं कर रही है, तो वह समाज या राष्ट्र की उन्नति या विकास समुन्नत नहीं हो सकता है। डॉ. अम्बेडकर के इस कथन में समाज में स्त्री की स्थिति और उसके अस्तित्व–अस्मिता के साथ–साथ उसकी गरिमा, समानता, स्वतंत्रता तथा न्याय की अवधारणा स्वतः ज्ञात होता है। भारतीय समाज में स्त्री जीवन के यथार्थ को समझने के लिए डॉ. अम्बेडकर का यह कथन बहुत ही सार्थक और सारगर्भीत है।

2.1 यथार्थः

प्रस्तुत अध्याय पर समीचीन रूप से बात करने से पूर्व 'यथार्थ' को समझना आवश्यक जान पड़ता है। बिना यथार्थ की धारणाओं को समझे आत्मकथा में व्यक्त यथार्थ को समझना थोड़ा मुश्किल हो सकता है। सबसे पहले यथार्थ शब्द पर विचार करते हैं। यथार्थ शब्द का विच्छेद करने पर दो पद प्राप्त होते हैं यथा और अर्थ। यथा का समानार्थी शब्द है जैसा और अर्थ के समानार्थी है वस्तु, तत्व, द्रव्य पदार्थ आदि ज्ञानेन्द्रियों का विषय है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान ही यथार्थ है। साहित्य में जिस यथार्थवाद का चित्रण किया जाता है; वह मुख्य रूप से वस्तुजगत और भावजगत का पूरी ईमानदारी के साथ यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण से साहित्य के क्षेत्र में जो विचारधाराएं प्रमुख हैं उनमें यथार्थवाद भी एक है। यथार्थवादी साहित्य आदर्शवादी साहित्य की भौतिक केवल कल्पना और आदर्श पर ही आधारित नहीं होता वरन् वास्तविक जगत के सत्य को उसकी संपूर्णता के साथ चित्रित करता है। सत्य की तरह यथार्थ का भी विविध रूप एवं संदर्भ है। प्रत्येक व्यक्ति या समाज का यथार्थ अलग–अलग हो सकता है; क्योंकि उनके अनुभव एवं परिस्थितियां एक जैसी नहीं होती हैं। तात्पर्य यह है कि यथार्थ सुंदर भी हो सकता है और विकृत भी। वह बाह्य जगत से भी संदर्भित हो सकता है साथ ही आंतरिक दुनियां से भी। समय तथा परिस्थितियां के दवाब में यथार्थ भी निरंतर बदलते हुए विकसित होता रहा है। इसी बदलाव एवं विकास की क्रमबद्धता के कारण यथार्थ रूढ़ि बनने से बच जाता है। इसकी व्यापकता का आलम यह है कि 19वीं सदी के बाद प्रायः सभी विचारात्मक आंदोलनों तथा सर्जकों ने इसकी व्याख्या अपने–अपने ढंग से की है और सभी जगह यथार्थ की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। इन विमर्शों के बीच यथार्थवाद के स्वरूप की निष्कर्षपूर्ण परिभाषा देते हुए शिवकुमार मिश्र का कहना है कि ''सच्चे

तथा महान यथार्थवाद का लक्ष्य समाज, जीवन तथा मनुष्य के यत्र–तत्र बिखरे स्फुट अंशों को ही परखने और मूर्त करने का नहीं होता, वरन उनकी दृष्टि इनके संपूर्ण रूप को उभारने की ओर रहती है। वह उन्हें इनकी संपूर्णता में ही देखने पर बल देता है।''[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि यथार्थवाद किसी भी विषय–वस्तु की समग्रता में अध्ययन है। उसका विवेचन–विश्लेषण है। यह अध्ययन, विवेचन–विश्लेषण एक पद्धति और दृष्टिकोण दोनों ही स्तर पर हो सकता है। इसलिए शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि ''लुकाच का सारा विवेचन कलागत वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए ही एक पद्धति तथा दृष्टिकोण दोनों रूपों में यथार्थ को स्वीकृति देता हुआ अग्रसर हुआ है।''[3] अर्थात् साहित्य या कला में यथार्थ की वैचारिकी और स्वरूप 'पद्धति और दृष्टिकोण' दोनों से है। वहीं अंर्स्ट फिशर का यथार्थ के संबंध में अभिमत है कि कला के क्षेत्र में यथार्थ संबंधी धारणा दुर्भाग्यवश बहुत लचीली और अस्पष्ट है। उसके अंतर्गत कभी कभी यथार्थ को एक दृष्टिकोण के रूप में व्याख्यायित किया जाता है और कभी एक शैली या पद्धति के रूप में।[4] दोनों ही स्तर पर यथार्थ की व्याख्या की जाए तो कहा जा सकता है कि यथार्थ न तो स्थिर है न एक समान। यथार्थ हमेशा नई सामग्री प्रदान करता है और पुरानी सामग्री को दृष्टि से हटाता है, लेकिन वह उसके बहाव में पड़कर भी उन प्रवृत्तियों को सामने लाने में सफल हो जाता है जिनकी महत्ता पहले नहीं समझी गई थी। नए रूपों का विकास यथार्थ के इसी सक्रिय अविरल परिवेक्षण से गहरे में जुड़ा है। इस अर्थ में कला विकासमान है और सभी कलाकृतियां चाहे उनका संबंध विकास के किसी भी चरण से हो, अंततः सौंदर्यात्मक रूप में समान हैं।

यथार्थ का परिप्रेक्ष्य से बहुत गहरा संबंध होता है। परिप्रेक्ष्य के साथ यथार्थ न केवल अपना स्वरूप ग्रहण करता है बल्कि अपना सौन्दर्य एवं वैचारिकी भी स्पष्ट करता है। इसलिए जार्ज लुकाच का कहना है कि ''बिना परिप्रेक्ष्य के यथार्थ का सौन्दर्य नहीं उभर पाता है। परिप्रेक्ष्य और साहित्यिक रचनात्मकता के बीच सामान्य संबंध को दिखाना ही पर्याप्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि एक लेखक का परिप्रेक्ष्य ही उसकी कला का ऊर्जा और प्रेरक शक्ति का निर्णायक कारक है। जहां तक व्यक्तिगत चरित्र और कलाकृति में चरितार्थ परिप्रेक्ष्य की मात्रा के बीच संबंध (सीधा नहीं, जटिल और घुमावदार) होता है वहीं परिप्रेक्ष्य का यह प्रभाव भी निर्णायक होता है।''[5] अर्थात् यथार्थ का संबंध जीवन के विभिन्न परिप्रेक्ष्य से जुड़ा होता है और जीवन की व्याख्या में निहित दर्शन तथा विचार से यथार्थ जुड़कर यथार्थवाद में तब्दील हो जाता है। एक व्यापक विचारधारा का स्वरूप ग्रहण करता है। यही यथार्थ आज स्त्री आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। स्त्री की सच्चाई से शुरू अभिव्यक्ति वर्तमान एक विचारधारा का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। जिसके व्यापक प्रभाव को इतिहास की धारा कभी न रोक सकती है और न मोड़ सकती है। सच कहा जाए तो स्त्री जीवन का यथार्थ यथार्थवादी विचारधारा का एक व्यापक एवं अभिन्न अंग के बतौर स्वीकृत हो रहा है। जो मानव जीवन के उस रूप के चित्रण पर बल देता है, जो वास्तविक सत्ता से युक्त है और हो सकता है। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार जीवन जगत के यथार्थ में परिवर्तन आता–जाता है और इस दृष्टि से साहित्यिक यथार्थ के स्वरूप में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। इस संदर्भ में समकालीन स्त्री आत्मकथाओं का यथार्थ वही नहीं है जो इससे पहले के काल का यथार्थ रहा है बल्कि वर्तमान में वह प्रासंगिक और नवीन अर्थ में प्रतिफलित होता है। दर्शनकोश के अनुसार ''यथार्थवाद

कलात्मक विधि है जो कला के वस्तुगत रूप में संज्ञानात्मक तथा सौन्दर्यबोध की दृष्टि से रूपात्मक स्वरूप की सर्वाधिक पूर्ण अभिव्यक्ति है। यथार्थवाद की अभिलाक्षणिकता है यथार्थ के साथ अपने बहुसंख्यक संबंधों में मानव व्यक्तित्व का सच्चा परावर्तन तथा चित्रण के जरिए जीवन में उसका प्रदर्शन, जो नियमसंगत और आम है। यथार्थवाद के तत्वों और प्रवृत्तियों ने अपने को कला के इतिहास की आरंभिक मंजिलों में प्रकट किया था। परंतु विशिष्ट कलात्मक विधि के तौर पर यथार्थवाद ने पुनर्जागरण काल में साकार रूप ग्रहण किया।''[6] अर्थात् यथार्थ के साथ मानव संबंधों का वास्तविक चित्रण और कला साहित्य में जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति है। इसी में कला–साहित्य में व्यक्त यथार्थ और यथार्थवाद को भी देखा जा सकता है।

यथार्थ और यथार्थवाद का संबंध रचना के उद्देश्य में भी निहित होता है, क्योंकि एक रचनाकार जब लेखन करता है तब वह उन विचारों को चित्रित करने का काम करता है जो उनके मस्तिष्क में कौंधता है। बेलिंस्की के अनुसार कला का उद्देश्य है जीवन का चित्रण। उन्हीं के शब्दों में ''कला का उद्देश्य है चित्रित करना, शब्दों, ध्वनियों, रेखाओं और रंगों में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को पुनः मूर्त करना।''[7] इस प्रकार कहा जा सकता है कि कला और साहित्य में जीवन का चित्रण ही यथार्थवाद है। यहां यथार्थवाद के स्वरूप को लेकर मतभेद हो सकता है लेकिन वास्तविकता यह है कि जीवन का सही चित्रण यथार्थवाद की रूपरेखा तैयार करता है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्री जीवन की कहानी भारतीय समाज का वह यथार्थ है जिसपर भारतीय समाज का भविष्य खड़ा है। वह जनमानस को कितना प्रभावित करती है। इतिहास में अपनी उपस्थिति कितना दर्ज करती है। यह तो समय ही बताएगा। लेकिन कोई भी साहित्यकार जब सामाजिक स्थिति का चित्र उपस्थित करता है तब उसका दृष्टिकोण यथार्थपरक ही रहता है। उसका उद्देश्य जनमानस में उस आक्रोश को जन्म देना रहता है जिसके बिना किसी भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रांति की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः यथार्थवाद विचारधारा के अतिरिक्त एक ऐसी धारणा है जिसके बिना किसी का काम ही नहीं चल सकता है। काल्पनिक साहित्य भी यथार्थ का एक रूप होता है क्योंकि कल्पना भी एक यथार्थ है। यह दीगर बात है कि दोनों के यथार्थ में निहित विचार तत्व और जीवन मूल्य भिन्न होता है।

स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त यथार्थ स्त्रीजीवन का समकालीन यथार्थ है। जिसे वह जीती आई है या भोग रही है। वह यथार्थ एक समान नहीं है और न ही उसके जीवन का यथार्थ एक समान है और न ही उसका कोई एक फ्रेम हो सकता है। वैसे भी समकालीन यथार्थ की वैचारिकी को किसी एक फ्रेम में निर्धारित करना संभव नहीं है। क्योंकि न यथार्थ एक समान है और न ही उनका हैपोथेसिस। यह हैपोथेसिस यथार्थवाद और आधुनिकतावाद के स्वरूप पर निर्भर करेगा। अतएव यह कहना न केवल मुश्किल है बल्कि कठिन भी है कि समकालीन यथार्थ की वैचारिकी क्या बनेगी आने वाले समय में। ''समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धांतों को तब तक निर्धारित नहीं किया जा सकता जब तक यथार्थवाद और आधुनिकतावाद के बीच विरोध को ध्यान में न रखा जाय। अतीत के बारे में समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धांतकार इस बात के प्रति पूर्णतया जागरूक थे। उन्होंने हमेशा ही सौंदर्यशास्त्र में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा स्थापित करने के संघर्ष में महान आलोचनात्मक

यथार्थवादियों को अपना सहयोगी माना। लेकिन यह गठजोड़ केवल सैद्धांतिक ही नहीं है। इन रचनाओं में ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि और उन अंतर्दृष्टियों को प्राप्त करने के लिए अपनाई गई पद्धति, उन शक्तियों को समझने के लिए जरूरी है जो वर्तमान और भविष्य को गढ़ रही है।''[8] अर्थात् समकालीन यथार्थवाद की वैचारिकी को समझने के लिए रचनाओं में निहित अंतर्दृष्टि और उनकी पद्धति को समझना अनिवार्य होगा जो भविष्य की रूपरेखा तैयार करती है। इस दृष्टि से स्त्री आत्मकथाओं को किसी एक दृष्टि या विचारधारा से देखने–समझने की कोशिश कट्टरवादिता को जन्म दे सकती है। इसं संदर्भ में यह भी कह सकते हैं कि स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन किसी एक वैचारिकी अंतर्दृष्टि और उसकी पद्धति के जरिये से समझने की कोशिश जार्ज लुकाज के शब्दों में 'कठमुल्लापन' ही कहा जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में ''हर आलोचना से समाधान की मांग करना या उसके पूर्णतया कम्युनिस्ट सिद्धांतों पर आधारित होने की मांग करना कठमुल्लापन है।''[9] अतएव कहा जा सकता है कि समकालीन यथार्थवाद की वैचारिकी समय–सापेक्ष यथार्थ को समझने वाली अंतर्दृष्टि, उसकी पद्धति, उसकी स्थितियों–परिस्थितियों तथा विभिन्न मानवपरक दर्शन की वैचारिकी पर निर्भर करेगी। इस परिप्रेक्ष्य में स्त्री आत्मकथा जो कि समकालीन साहित्य है में यथार्थ का तानाबाना स्त्री जीवन के विविध स्वरूपों को जो कि आत्मकथाओं में व्यक्त है को समझना है।

आत्मकथा की प्रकृति अभिव्यक्ति में स्वानुभूत यथार्थ की मांग करता है वहीं अन्य साहित्यिक विधाओं में कल्पना का समावेश होता है। डॉ. नीरू ने स्त्री आत्मकथा के यथार्थ के संदर्भ में बहुत ही अच्छी बातें कही हैं कि ''यथार्थ किसे माना जाए? कागजों पर उकेरे गए सत्य को या जीवन में जिए जाने वाले सत्य को? या कि दोनों को ही? क्योंकि स्वार्थ और सुविधा ही जिसके जीने और सोचने की कसौटी हो, वह प्रसंग और अवसर के अनुकूल ही अपने आचरण और व्यवहार को बदलने की कला में माहिर तो होगा ही! पितृसत्ता के सांचे में ढले पुरुष के लेखक रूप और पुरुष रूप का द्वैत इसी संदर्भ में समझा जा सकता है।''[10] इस प्रकार नीरू आत्मकथा में यथार्थ को एक विशेष फ्रेम में देख रही है। जिसका एक विशेष अर्थ यह है कि पितृसत्तात्मक समाज में यथार्थ की व्याख्या भी पुरुषवादी मानसिकता के बीच हुई है और अब जब स्त्रियां लिख रही हैं तो उनके लेखन से यथार्थ की व्याख्या में भी बदलाव हो सकता है। इसके बावजूद आत्मकथा में व्यक्त यथार्थ को सामाजिक संरचना के तत्वों – सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं के बीच समझना जरूरी है। इन्हीं तत्वों के आलोक में स्त्री आत्मकथा के यथार्थ को एक विकासक्रम में समझना इस अध्याय का निहितार्थ है।

2.2 सामाजिक व्यवस्था :

भारतीय समाज की सरंचना वर्णाश्रमधर्म पर आधारित है और उसका नियंता पुरुष है जिसके कारण से इस समाज में जीवन के सभी पहलुओं का नियंता और संचालन पुरुषों के ही द्वारा होता रहा है। 21वीं सदी के सफर तक में भी हमारा समाज इससे मुक्त नहीं हुआ है बल्कि उसका विकराल रूप आज और देखने को मिलता है जब इसके खिलाफ कोई मोर्चा बांधता है। इस संदर्भ की बारीक पहलुओं को रेखांकित करती हुई

कृष्णा अग्निहोत्री, न केवल सामाजिक असमानता का विरोध करती है बल्कि सामाजिक समानता की मांग भी करती है। उन्हीं के शब्दों में ''पुरुष वर्ग ही कहें कि मैंने किसका शोषण किया है ? किसे पीड़ा दी ? यह तो ऐसा ही है कि जख़्म भी मैं खाऊँ व मुझे ही शिकारी कहा जाए। उसमें कई लोग शामिल हैं और शामिल हो रहे हैं। अपनी कमजोरियों एवं पीड़ाओं को व्यक्त करने के लिए साहस व गुर्दा चाहिए, नाटकीयता नहीं। कहो कुछ, करो कुछ, कहकर झूठ बोल जाओ। मैं मां सरस्वती की आराधना करके कहती हूं कि मैं अब की कई लोगों को रुसवा होने से बचा रही हूं, क्योंकि उनके परिवार को भी मुझे बचाना है। यदि मैं अपराधी हूं तो आपके पास भी कलम है। लिख डालें मेरे विरुद्ध पर कम से कम मेरे बुढ़ापे को तो बेहूदा गाली न दें।''[11] अर्थात् कृष्णा अग्निहोत्री यह कहना चाहती हैं कि समाज में अन्याय और शोषण का जो यथार्थ रूप है; उस यथार्थ को लिखने में एक सकारात्मक सोच है लेकिन यथार्थ को व्यक्त करने के बाद किसी की अभिव्यक्ति को संकट में डालना या उसे नकारात्मक नजरिए से देखना दूसरी बात है। उनके इस आलोचनात्मक संवाद में निहित समाज के विकास के मार्ग को समझा जा सकता है। साथ ही स्त्री आत्मकथाओं के सामाजिक यथार्थ को भी समझा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री जीवन के यथार्थ को व्यक्त करना या उसे कहना कितना कठिन है। वहीं प्रभा खेतान अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से समाज में कुंवारी लड़कियों या युवा स्त्रियों की स्थिति के साथ–साथ विधवाओं, परित्यक्तताएं, आदि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को रेखांकित करती है। वे लिखती हैं कि, ''यहां सिर्फ कुंआरी कन्याओं और पत्नियों की जरूरत है। बाकी कौन बची ?विधवाएं और वृद्धाएं तो तीरथ में या बड़े दिन की छुट्टियों में जब कलकत्ता क्रिकेट और पिकनिक से गुलजार रहता है तो ये औरतें मुरारी बापू का प्रवचन सुनने जाती है। लेकिन परित्यक्तताएं, ,वंचिताएं तलाकशुदा स्त्रियों को कहां रखा जाए।''[12] अर्थात् स्त्री आत्मकथाएं सिर्फ कथाकार के जीवन का वर्णन नहीं है बल्कि समाज में किसी भी अवस्था की स्त्रियां– युवा, विधवा, वृद्ध आदि सभी की सामाजिक स्थिति का वर्णन है, कि जहां एक तरफ युवामन अपनी तरूणाई के उमंग में रहती हैं वहीं परित्यक्तताएं और वृद्ध भजन–कीर्तन–प्रवचन में जीवन को काट रही होती है। पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से वे उपेक्षित हैं। वहीं मन्नू भंडारी पितृसत्तात्मक समाज में पत्नी को सिर्फ 'नर्स' की दृष्टि से देखने वाले यथार्थ को उजागर करती हैं। वे लिखती हैं–'' अपने को विशिष्ट मानने वाले राजेन्द्र की धारणा पत्नी की भूमिका के बारे में विशिष्ट ही नहीं, सचमुच चौंकाने वाली थी। इनके हिसाब से पत्नी को एक नर्स की भांति होना चाहिए जो सिर्फ़ पति की सेवा करे, बदले में उससे अपेक्षा कुछ ना करे।''[13] अर्थात् पितृसत्तात्मक समाज में प्रगतिशील माने जाने वाले पुरुष भी यह चाहता है कि उसकी पत्नी एक 'नर्स' की भूमिका निभाती रहें और उससे कुछ अपेक्षा न रखें। यहीं सोच हिंदी साहित्य में स्त्रियों के हिमायती कथाकार राजेन्द्र यादव की है, जो घर से बाहर प्रगतिशील हैं लेकिन मन्नू भंडारी की दृष्टिकोण से एक पुरुष हैं जो पितृसत्ता को जीता है।

आज की नारी आर्थिक व सामाजिक बंधनों व लाचारियों से निरन्तर मुक्त होती जा रही है। जिन विशेषताओं के कारण समाज में पुरुष श्रेष्ठता प्राप्त करता रहा है। भारतीय समाज में अधिकांश स्त्रियों का आर्थिक स्थिति उसके पति की आर्थिक स्थिति पर निर्भर है। यही कारण है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की

सामाजिक स्थिति भी पुरुष के अनुकूल ही हैं क्योंकि आर्थिक और सामाजिक स्थितियां दोनों एक–दूसरे की पूरक हैं। आप जितने पैसे वाले है समाज में आपकी इज्जत भी उतनी ही ज्यादा है। स्त्री आत्मकथाओं में उनकी व्यक्त स्त्रियों की सामाजिक स्थिति उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। हिंदी की जिन आत्मकथाओं का जिक्र है उनमें से अधिकांश स्त्रियां भारतीय संदर्भों में अभिजात समुदाय की हैं। यही वह वर्ग है जिसके पास अपने अनुभवों के दारूण यथार्थ को व्यक्त करने का सामर्थ्य और उसकी भाषा भी है। ये स्त्रियां पितृसत्ता की कसौटियों को चुनौती देती दिखाई देती हैं या फिर पहले ही उसके दबावों की पकड़ और पहुंच से मुक्त हैं, या मुक्त हो सकने लायक आत्मविश्वास और प्रबुद्धता से लैस हैं। यही कारण है इन स्त्रियों ने जोखिम उठाई हैं और अपनी स्थितियों का समाज के सामने रखने की कोशिश की हैं। इन स्त्रियों ने पितृसत्ता द्वारा निर्धारित सीमाओं को तोड़कर जीवन को अपने हिसाब से जीवन जीना चाहती हैं और इस क्रम में स्वयं अपनी छवि को भी निर्धारित की है। अपनी स्वतंत्रता की कीमत चुकाई है। अर्चना वर्मा स्त्रियों की इस स्वतंत्रता की कीमत को इस प्रकार रेखांकित हैं। वे लिखती हैं कि,''स्वाधीनता का मूल्य चुकाकर उसने स्वाधीनता की मूल्यवला जानी है और स्वाधीनता के लिए उसकी प्रतिबद्धता ने उसे आंदोलन की अगुवाई के लिए प्रेरित भी किया।''[14] अर्थात् स्त्रियों को अपनी स्वतंत्रता का मूल्य चुकाने के बाद ही उसे स्वतंत्रता मिली है और वह अपने अधिकारों के लिए आंदोलन का स्वरूप खड़ा कर पाई है। आंदोलनधर्मी रूप में ही संघर्ष के साथ पितृसत्तात्मक समाज का अंत भी किया जा सकता है और स्त्री–पुरुष असामानता को भी खत्म किया जा सकता है।

2.2.1 स्त्री–पुरुष में असमानताः

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक है। पितृसत्तात्मक समाज में पुत्र–पुत्री में न केवल असमानता वाली प्रवृत्ति होती है बल्कि समाज में पुत्री को दोयम दर्जे की स्थिति प्राप्त होती है। स्त्री आत्मकथाओं में इस असमानता को बड़ी सिद्दत के साथ महसूस भी किया जा सकता है और उसके परिणाम को भी समझा जा सकता है। मैत्रेयी पुष्पा इस असमानता को रेखांकित करती हुई कहती हैं कि ''आज कलेजा टीसता है तो महसूस हुआ। पिछले दिनों वे शान्त रही हैं। चरित्र धुला–पुछा, साफ–शफ्फाक है तभी तो बेटी की दबी–दबी घृणा और अनकही धिक्कार से कलंकित हो जाने का डर सताता है। यरु गंभीर सतोगुण धारिणी कस्तूरी यकायक दुख में डूबने लगती हैं और गंभीरता का पर्दा फटने लगता है। सब कुछ उधड़ न जाए, वे गरुह बनकर रहती हैं। जहां तक वश चला स्त्री मंगल की औरतों को मुँह खोलने का मौका न दिया। रहवास से लेकर स्त्री मंगल तक का अनुशासन नट की तरह साधा। बस इसीलिए बेटी के मामले को लेकर हलकान हैं। किसकी हिम्मत थी कि उन्हें चुनौती दे सकता, मगर देख रही हूं कि दबावों के बादल चारों ओर से उमड़ने लगे, इसी में वह अपमान शामिल हैं, जिसके चलते लगता है, औलाद की आमद सजा है और मां बाप का खत्म हो जाना है, उसका बड़ा हो जाना।[15] अर्थात् एक समय था कि पितृसत्ता के विविध तंत्रों को कोई चुनौती नहीं दे रही थीं लेकिन आज उसे चुनौती मिल रही है। जिस कारण से स्त्रियों पर अत्याचार और अन्याय भी बढ़ा है लेकिन इसके बावजूद यह महत्वपूर्ण है कि क्या पितृसत्ता की नींव कमजोर हुई है? स्त्री–पुरुष में समानता की बात हो रही है। मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं कि ''मखौल मत उड़ा। बोर्ड की रीति–नीति पर बात कर और समझ की

दिन–रात काम में जुटी औरत कब अंगरेजी पढ़े ? वह कोई बचपन से स्कूल में पढ़कर नहीं आती, जन्म के शुरूआती दिन से गाली खाती है। भगाई–खदेड़ी औरत की मानसिक अवस्था कैसी होती है, तू क्या जाने ? जैसे–तैसे कोई हीला मिलता है तो बालबाड़ी, प्रौढ़ शिक्षा, चार–चार ग्रामलक्ष्मी सेंटरों की देखभाल के बाद उन औरतों की सेवा में हाजिर रहना, जो सुख–सुविधा वाले घरों में पैदा होकर पढ़–लिख गईं और अब 'देवी' के आसन पर विराजती हैं। चौबीस घंटे की चाकरी करने वाली से अंगरेजी की सनद मांगना कहां का न्याय है ? सर्टीफिकेट न देने पर नौकरी छीन लेना कैसा स्त्री मंगल है ? तुझ जैसी समाज– कार्य करने वाली लड़की को इसी तरह से सोचना चाहिए और जैसे बने, वैसे मदद के लिए तैयार रहना चाहिए कि वे अपमानित इंसान सम्मानित जिन्दगी पा जाएं। इस यज्ञ में हम और क्या आहुति दे सकते हैं ?''[16] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि एक स्त्री को मानवीय और इंसानियत की जिंदगी जीने के लिए स्त्रियों को अपनी आहुतियां देनी पड़ती हैं। यह एक बहुत बड़ा सवाल मैत्रेयी पुष्पा खड़ा करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था कितनी खराब और लचर है कि वह एक स्त्री को सुरक्षा भी नहीं प्रदान कर सकती है– जिस स्त्री की गोद में वह पैदा होता है। पितृसत्ता द्वारा स्त्रियों के लिए असुरक्षा और गुलामी की ऐसी परिस्थितियां पैदा की जाती हैं या उसका जाल बुना जाता है कि स्त्रियां आत्महत्या कर लेती हैं या आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाती हैं। भारतीय समाज में लड़कियां बिना शादी की रह नहीं सकती हैं क्योंकि समाज उसे ऐसा जीवन जीने की इजाजत नहीं देता है पर कोई लड़की ऐसा करती है तो उसे ऐसा करने नहीं देता है और ऐसा माहौल तैयार करता है उसके खिलाफ कि वह घूंट–घूंट कर कुंठा भरा जीवन जीने लगती हैं और शादी के बाद वह पितृसत्ता के चंगुल में फंस जाती हैं। दोनों ही परिस्थितियां स्त्रियों के लिए विपरीत हैं भारत में। इन्हीं परिस्थितियों को उजागर करती हुई प्रभा खेतान लिखती हैं कि '' क्या शादी ही सब कुछ है, बिना शादी के तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं, तुम्हारी साहित्यिक कृतियां, तुम कुछ नहीं, नहीं मैं कुछ नहीं...मेरी कोई पहचान नहीं... मेरी कोई पहचान नहीं। माना कि मिसेज केडिया के शब्द नए नहीं, सुन चुकी हूं पहले भी बहुत–बहुत सुन चुकी हूं। जहां जाती हूं वहीं तो सुनना पड़ता है। "आपकी शादी किससे हुई है ?" डाक्टर साहब के छोटे वाले लड़के लड़कियों को देख, "क्या ये आपके बच्चे हैं ?" बड़े दोनों को देख, "क्या ये आपके भाई बइन हैं ? कभी हां कहती...कभी ना।[17] अर्थात् भारतीय समाज में स्त्रियां बिना शादी रह नहीं सकती हैं और समाज उसे ऐसा रहने भी नहीं देता है। दोनों की परिस्थितियां पितृसत्ता की उपज हैं जो स्त्रियों के स्वतंत्र अस्तित्व और जीवन को नकारता है। इस प्रकार प्रभा खेतान भारतीय समाज में न केवल स्त्री–स्त्री की असमानता की बात करती हैं बल्कि स्त्री–पुरुष असमानता की नींव की ओर संकेत करती है। इतना ही नहीं प्रभा खेतान अपने मित्रों के बीच स्त्री–पुरुष अधिकार और समानता की चर्चा करती हुई कहती है कि अपने मित्र के सवाल 'तुम स्त्री की चिन्ता बाद में करना पहले मजदूर की चिन्ता करो।' के जवाब में कहती है कि "क्यों मैं स्त्री की गुलामी की चिन्ता क्यों न करुँ ? तुम भी तो कोई मजदूर के पेट से पैदा नहीं हुए ? तुम्हें अपनी मां का शोषण समझ में नहीं आता ?"[18] अर्थात् प्रभा खेतान न केवल समाज की आर्थिक विषमता में ही स्त्री की असमानता की मानसिकता को रेखांकित करती हैं बल्कि संपूर्णता में स्त्री की गुलामी की खात्मा में ही स्त्री की समानता और गरिमा को समझने की

कोशिश करती है। वहीं रमणिका गुप्ता अपनी आत्मकथा 'हादसे' में मानसिकता के स्तर पर स्त्री–पुरुष असमानता को उजागर करती हुई लिखती हैं कि ''हम राजनीतिक तौर पर आजाद तो हो चुके हैं, पहनावे में भी पश्चिम की नकल कर रहे हैं किन्तु सोच के स्तर पर विशेषकर स्त्री और सेक्स के बिन्दु पर हमारी मानसिकता मध्यमवर्गीय ही है, बल्कि कहा जाए तो 16वीं सदी की मानसिकता ही हम आज भी ढो रहे हैं। हम 'सूडोमॉर्डन' हैं– मॉडर्न नहीं। दूसरों को अपमानित करने के लिए पहले उन्हें 'डिमौरेलाइज' करना, फिर अपनी शर्तें रखना, यही अन्दाज बुर्जुवा राजनीतिज्ञों या पत्रकारों का रहा है। ये छठे–सातवें दशक की बात है। आठवें दशक के बाद मानसिकता में कुछ बदलाव जरूर आया। वह सभी के लिए ही था ऐसा नहीं कहा जा सकता। मुझे अभी तक एक पत्रकार का चेहरा याद है, जो हर स्त्री नेता के निजी संबंधों को लेकर बड़ा खोजी या और रहस्य पता लगाने पर उससे अपने संबंध भी कायम करने का प्रयास करता था।''[19] अर्थात् कहा जा सकता है कि रमणिकता गुप्ता स्त्री–पुरुष के बीच असमानता का आधार मानकिसता को मानती हैं। जब तक मानसिकता नहीं बदलती है तब तक आप कितने भी आधुनिक क्यों न हो जाते हैं आपकी मानसिकता वैसी ही रहेगी। यही वजह है कि जब पितृसत्तात्मक मानसिकता या तंत्र को स्त्रियों को गुलाम बनाए रखने में कोई सफलता नहीं मिलती है तब वह उसके निजी संबंधों को आधार बनाकर पहले उसे(स्त्री) को मानसिक तौर पर अपमानित और हीनताबोध में जकड़ देता है फिर उसे उस आधार पर गुलाम बना लेता है या ब्लैकमेल कर उसका शोषण करता है, उस पर अत्याचार करता है। इसी के साथ रमणिका गुप्ता सहकर्मी या सहयोगी वर्ग द्वारा किस प्रकार स्त्रियों का शोषण, अत्याचार आदि के माध्यम से समाज में असमानता पैदा की जाती है, को उजागर करती हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''मैं जिस पुरुष वर्ग की बात कर रही हूं वह नेतृत्व में होड़ लगाने वाला या साथी सहयोगी वर्ग होता है जिनहें कभी–कभी तो स्वयं औरत ही सहारा देकर ऊपर उठाने या उसके व्यक्तित्व के विकास में मददगार होता है। अगर इस वर्ग के मन की बात नहीं चलती तो वह मौका पाकर हँसता है, भस्मासुर की भूमिका अदा करता है और औरत के खिलाफ चरित्र हनन का हथियार अपनाता है/ऐसे लोगों से कड़ाई से पेश आना पड़ता है और 'पुनः मूर्षिकों भव' का 'फॉर्मूला' भी अपनाना पड़ता है।"[20] अर्थात् पितृसत्ता ने स्त्रियों को गुलाम बनाने के लिए उसकी गरिमा को तार–तार करने से बाज नहीं आती है, बल्कि स्त्री के ऊपर चरित्र हनन का आरोप मढ़कर उसका शोषण करना भी न केवल स्त्री को गुलाम बनाने के आधार को मजबूत करती है बल्कि स्त्री–पुरुष के बीच खाई को भी चौड़ा करती है। यह खाई चौड़ी होती होती पति–पत्नी के संबंधों के बीच बच्चों तक को भी अपने आगोश में समेट लेती है। बच्चों का मां और बाप दोनों से समान रिश्ता होता है, लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था में बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी को मां तक सीमित कर देना और पिता को बाहरी दुनिया से जोड़कर उसे बच्चों की देखभाल से मुक्त कर देना भी घोर पुरुषवादी मानसिकता है। इसी की पड़ताल करती हुई मन्नू भंडारी *'एक कहानी यह भी' में* मां को मां और पिता को आया के रूप में व्यवस्थित करने वाली मानसिकता को उजागकर करती हैं। वे लिखती हैं कि '' मैं नौकरी करने जाऊँगी और वे बच्ची को लेकर घर में रहेंगे तो उनके लेखक –मित्र यही तो समझेंगे कि ये तो बच्ची की आयागिरी कर रहे हैं; जो उन्हें किसी भी ....किसी भी सूरत में बर्दाश्त नहीं था। कई बार मन होता कि पूछूं कि मां अगर बच्चे को रखे तो मां

और अगर बाप बच्चे को रखे तो वह बाप न होकर आया कैसे हो गया? पर जानती थी इनसे कुछ भी कहना, सुनना, पूछना अब बेकार है। बस, इन्हें इस स्थिति से उबारने का मेरे पास एक ही रास्ता था कि मैं इसे वापस कलकत्ता भेज दूं। सो तीन साल की उस नन्हीं –सी जान को मैंने वापस कलकत्ता भेज दिया और वह चुपचाप चली भी गई।''[21] अर्थात् यह जो बच्चों की परवरिश को लेकर स्त्री –पुरुष में असमानता की स्थिति पैदा होती है वह पूरी तरह से सामाजिक संरचना में व्याप्त असमानता की सोच की वजह से होती है। अन्यथा जिस बच्चों को स्त्री–पुरुष दोनों जीवन देता है वही स्त्री–पुरुष कैसे उसकी खुशी और जीवन को छीन सकता है! यह बहुत बड़ा सवाल है। इसे समझने की जरूरत है। पश्चिम में इसी 'बेबी सिटिंग' की धारणा आई थी। लेकिन वह पश्चिम जगत है, यह भारत है जिसमें यह संभव नहीं है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे का मैना' में स्त्री–पुरुष असमानता का चित्रण इस प्रकार करती हैं – 'पत्नी को हर हाल में पति से कम पढ़ा–लिखा और हर तरह से झुका होना चाहिए– सो मेरे सब गुण ब्याह के बाजार में अवगुण सिद्ध हुए। मेरठ में दो–चार, हमारी बिरादरी में, शिक्षित परिवार भी थी, 'जहां सिर पर पांव रखने वाली बात न होती पर वे उतने ही अमीर भी थे। बाबूजी की हैसियत वहां बात चलाने की नहीं थी। सोलह वर्षीय चंद्रकिरण अब बाबूजी की सबसे बड़ी चिंता थी।'[22] इसका मतलब यह है कि समाज हमेशा से यह मानकर चलता है कि स्त्रियों को पुरुष से कमतर होना चाहिए। इसी कमतर का परिणाम यह है कि लड़कियां समाज में असमानता का शिकार हुई हैं। यह असमानताएं इतनी विकराल है कि लड़कियों को जन्म से पहले ही भ्रूण हत्या के रूप में उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। हमारा समाज 21वीं सदी में प्रवेश कर चुका है। जहां एक ओर पुरुष का शिक्षित होना उसकी उपयोगिता और ओहदा दोनों बढ़ा देता है, वहीं स्त्रियों के ओहदे में ह्रास होता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के भी सारे गुण विवाह के बाद बाजार में अवगुण सिद्ध हुए। यह एक बहुत बड़ा सवाल है और बहुत बड़ी समस्या भी। आज भी जब अभिभावक अपनी बेटी की शिक्षा पर बल नहीं देते हैं तो यह समस्या और भी चिंताजनक विषय हो जाता है। इसी चिंता का चित्रण करती हुई चंद्रकिरण सौनरेक्सा लिखती हैं कि ''इस इक्कसवीं सदी में विज्ञान की तरक्की के साथ, लिंग पहचान की सुविधा ने कन्या का भ्रूण–हत्या का नवीनतम अस्त्र मानव–समाज को दे दिया है। यह इस बात का प्रमाण है कि लड़की के जन्म पर आधुनिक समझे जाने वाले, शिक्षित परिवार तक, हर्षित नहीं होते। इस सामाजिक बुराई से हम आज भी, क्या शहर, और गांव–हर जगह जकड़े हुए हैं।'[23] इसका आशय यह है कि गांव से लेकर शहर तक लड़कियों के प्रति समाज का रवैया एक सा है। लड़का–लड़की में असमानता की प्रवृत्तियों को बढ़ाने में विज्ञान तंत्र का आविष्कार अभिशाप बनकर उभरा। पुत्र की चाहत में कन्या भ्रूण हत्या की बढ़ती प्रवृत्ति ने भारतीय समाज की व्यवस्था को ही बिगाड़ दिया है। पुत्र की चाहत में लगातार बेटी का जन्म होना भी परिवार की अज्ञानता और समाज में उनकी दयनीय स्थिति को जन्म देती है। इतना ही नहीं वह जाति, रंग, धर्म, पुरुष, अर्थ आदि तमाम तरह की प्रताड़ना की भार स्त्रियां सहती हैं। इन्हीं भेदभाव के कारकों को चित्रित करती हुई सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि ''इज्जत–आबरू के भय के साथ–साथ आर्थिक कठिनाइयों का सामना हमेशा होता। मां और पिताजी अपनी बुद्धिमानी, हिकमत और मेहनत से जीवन का मार्ग बनाते चलते। इसके लिए उन्हें अपमानित भी होना पड़ता या

और खतरों का सामना भी करना पड़ता, फिर भी भूखे रहने या मांगने की अपेक्षा वे स्वाभिमान के साथ जीने का रास्ता ढूँढ़ लेते।''[24] अर्थात् इस इज्जत और आबरू एवं आर्थिक संसाधन के बीच एक संबंध है। यह संबंध परिभाषित एवं नियंत्रित होता है भारतीय समाज की जातिवादी संरचना और उसके तंत्रों से। इस जातिगत शोषण का वर्णन करती हुई सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे कादर्द' में लिखती हैं कि, ''अक्सर सवर्ण लोग दलित आत्मकथा पढ़कर दलितों के प्रति दया और सहानुभूति का भाव दिखाते हैं। यह उनकी समझ का फेर है। असल में उन्हें मनुवादी–वर्णवादी, जातिवादी अन्याय शोषण की द्रष्ट नीतियों पर लज्जित होना चाहिए। अपने पूर्वजों के कुचक्रों और छल कपट पर शर्म करनी चाहिए। दलित आत्मकथाएं मनुवादियों की कंलकित नीतियों को बताने वाली सच्ची कथाएं हैं।'[25] अर्थात् स्त्री आत्मकथा स्त्री जीवन के साथ–साथ भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था संरचना के कारण हो रहे स्त्रियों मूल्यों की अवमानना, उनके शोषण, उत्पीड़न आदि को रेखांकित करती है।

समाज में किसी भी समस्याओं का हल समाज की नीतियां और संवाद में निहित होता है। सामाजिक नीतियां समस्याओं के हल के लिए संवाद को आमंत्रित करता है और संवाद नीतियों को एक नया स्वरूप देता है। उसी से समाज में भ्रातृत्व बोध भी पनपता है। संवाद से स्त्री–पुरुष के जीवन में मजबूती मिलती है लेकिन पितृसत्तात्मक समाज में संवाद की जगह आदेश की व्यवस्था है। पुरुष आदेश देता है और स्त्रियां उसका पालन करती हैं। इसे यूं भी कह सकते हैं कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री–पुरुष के लिए संवाद की गुजाइश नहीं है। ऐसी स्थिति में परिवार–समाज एक विकट संकट से गुजरता रहता है जिसकी परिणति परिवार का विघटन है। स्त्री आत्मकथाओं में जीवन के इस पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। आशा आपराद अपनी आत्मकथा में जीवन के इस पहलुओं को उजाकर करती हुई लिखती हैं कि, ''अपने दिल की बात किस के पास कहूं? ऐसा कोई मेरा हमदर्द, हमदम नहीं था। किसी अनजान, दुर्गम द्वीप पर अकेली हूं, कितना भी जोर से चिल्लाओं कोई भी अपनी आवाज सुननेवाला नहीं है, यह एहसास मुझे और अधिक अगतिक, विफल, विकलांग बना रहा था।''[26] अर्थात् पति–पत्नी का रिश्ता बहुत ही अलग रिश्ता है जिसमें हमदर्द और हमदम का भी सुख–दुख है। लेकिन इसी समाज में सभी को यह संयोग नहीं मिलता है। इसी दर्द से परिवार में कडुवाहट आती है। पति–पत्नी दोनों एक दूसरे के होते हैं और इससे अच्छा दोस्त कोई होता भी नहीं है। इसके विपरीत आशा आपराद लिखती है कि '' पति ही नहीं देता तो और कौन देगा? मां तो मालकिन के नखरे में रहती, वह भी एक पैसा मुझे नहीं देती। मैंने भी कभी न पति के पास न मां के पास हाथ पसारा,....मैं बड़ी सुबह जागकर खाना पकाती, डिब्बा भरती और मां आगे बढ़कर उनके हाथ में थमा देती। बाहर जाते वक्त 'वे जाता हूं'' ऐसा मां से कहकर विदा होते। मैं वहीं पर खड़ी रहती, इंतजार रहता वे मुझसे भी कुछ कहेंगे, लेकिन नहीं। मेरा मन विषाद से भर आता। दूसरे दिन दुबारा वही काम, वही इंतजार और वही विषाद का सिलसिला। बात छोटी सी थी पर दिल के अरमान आंसुओं में बह जाते और वफा का जवाब बेवफाई में मिलता...।''[27] अर्थात् यह पितृसत्ता की चरम मानसिकता है जिसमें सिर्फ एक पुरुष ही नहीं है बल्कि एक स्त्री की भी अपनी भूमिका है। जो पति–पत्नी के संबंधों को विषाक्त बना रहा होता है। यह तो एक तहर का अपराध ही है। इससे बढ़कर और अपराध क्या होगा, जब किसी को उसके

अपने उनके दिल के खिलाफ एक कैदखाना से निकालकर दूसरे कैद खाने में डाल दे। ''इन सब बातों का मुझे बड़ा दर्द हो रहा था । सबसे ज्यादा दर्द, अपमान इस बात का था कि ' वे क्यों नहीं कहते कि मैं नहीं भेजूंगा उसके दिल के खिलाफ।' सब कुछ मां का ही सुनना और अमल में लाना। मेरे रोने का असर मां के दिल पर नहीं होता। ठीक है लेकिन मेरे आंसुओं की कदर मेरे पति को भी न हो? इससे बढ़कर स्त्रीत्व का अपमान और क्या हो सकता है?''[28] इसी तरह वे अपने अस्तित्व को लेकर ही अब नफरत करने लगती हैं। यह सब होता है उसकी मां की वजह से। वे लिखती हैं कि ''मेरा अस्तित्व ही उसके लिए नाजायज था। और मैं। उसके लफ्ज–लफ्ज के प्रहार से जाने अनजाने दबती दबती जा रही थी, मिट्टी की कब्र की तरह...। मानो मैं एक बोझ थी । सच तो यह था कि मुझे मेरी ही जिंदगी बोझ लग रही थी, पेट में बच्चा था जिसकी आस पर यह बोझ ढो रही थी। ...किसी लाचार, बेबस कुत्ते को हर बार, हर दरवाजे से धुतकारा जाता है, मेरी अवस्था उससे कम नहीं थी। सिर्फ दुनियावालों को दिखाने के लिए मेरा कुछ था लेकिन उस कुछ पर मेरा रत्तीभर भी अधिकार नहीं था, और इस बात का एहसास हर पल मुझे कराया जाता था। सोच–सोचकर सर में दर्द होने लगता, मैं किसी पागल की तरह सोच में डूबती, खोती जा रही थी।... हम दोनों एक ही स्त्री द्वारा होने वाली प्रताड़ना और अवहेलना सह रहे थे, बिलकुल चुपचाप से। हम दोनों मतलब मैं और भाभी ने इतने पास रहकर भी कभी खुलकर इस विषय पर बातें नहीं की। शायद हया, मर्यादा ने हमें मौन बना रखा था। यही स्वभाव आड़े आ रहा था। और कोई नहीं था जिसके पास दिल खोलकर अपना दर्द कह सकूं। मुझे बड़ी घुटन हो रही थी।''[29] अर्थात् भारतीय समाज की पितृसत्ता ने अपनी झूठी शान और मर्यादा में स्त्री को मौन बना दिया है। इसी मौन की वजह से स्त्रियों को शोषण और उत्पीड़न शुरू होता है और दिन ब दिन बढ़ता ही जा रहा है। जिसका एक पक्ष स्त्रियों की चेतनशीलता है तो दूसरा पक्ष पितृसत्ता का नया पैंतरा और स्वरूप है जिसकी पहचान होना बहुत जरूरी है। पितृसत्ता के मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी समझने की जरूरत है जो स्त्रियों को अप्रत्यक्ष रूप से उत्पीड़न, शोषण करता है और यह यहां तक बढ़ जाता है कि स्त्रियां आत्महत्या तक कर लेती हैं। इस रूप में देखा जाए तो किसी भी समाज में आत्महत्या उस समाज की मानवीय जिंदगी की विपरीत परिस्थितियों की अंतिम परिणति है। यह दिलचस्प बात रही है कि किसी भी स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री आत्महत्या की घटना की बात नहीं होती है लेकिन उसकी बनती हुई परिस्थितियों का जिक्र है। प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री, आशा आपराद, सुशीला टाकभौरे आदि ने अपनी जिंदगी में मरने की बात की है जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। ऐसी स्थिति स्त्रियों में एक तरफ पितृसत्ता की देन है तो दूसरी तरफ स्त्रियों में अज्ञानता, अंधविश्वास और अचेतनशीलता है।

2.2.2 अज्ञानता, अंधविश्वास और स्त्री

भारतीय समाज में अंधविश्वास के कारण स्त्रियों की जिंदगी हमेशा से तबाह होती रही है। अंधविश्वास के कारण होनी वाली किसी भी घटना का जिम्मेदार स्त्रियों को ठहराया जाता है। डायन, चुड़ैल आदि कहकर स्त्रियों को मारना, पीटना आदि घटनाएं समाज में अज्ञानता, अंधविश्वास और अचेतनशीलता की वजह से होती

है। आशा आपराद ने 'दर्द जो सहा मैंने' में इसका खुलकर चर्चा की है और 'फीका भैया' जो कि उसकी जेठ थे, के मरने का तोहमत आशा आपराद पर लगाय जाता है। उसके बाद आशा आपराद की स्थिति कैसी हुई इसका जिक्र करती हुई वे लिखती है कि वह खुद लाश की तरह महसूस करने लगीं। उन्हीं के शब्दों में, '' मरने के बाद ऐसी बदनामी ? मेरे दिल को बहुत सदमा पहुंचा, भैया अपने पर बड़ी शर्म आई। लगा आसपास के लोग भी उसी शक की, गंदी निगाहों से मुझे जांच रहे हैं, निहार रहे हैं।'' [30] अर्थात् यह एक अज्ञानता ही है कि किसी की मौत का कारण किसी स्त्री को ठहराया जाता है। यह सब अज्ञानता, अशिक्षा आदि की वजह से ही होता है। विडम्बना यह है कि इस तरह के प्रकरण में स्त्रियां भी शामिल होती हैं। यह विशेष किस्म की पितृसत्ता है जिसमें एक तरफ पुरुष जो अप्रत्यक्ष हो जाता है और दूसरी तरफ स्त्रियां प्रत्यक्ष रूप से उस पितृसत्ता की संस्कृतिकरण से लैस होकर स्त्री का ही उत्पीड़न करती है। विभिन्न परिस्थितियों में एक के बाद एक दुर्घटना और उसका संबंध लोगों और घरवालों दोनों द्वारा आशा आपराद से जोड़ देना बड़ी अजीबोगरीब कहानी बनकर सामने आती है। उनसे मुक्त होने के लिए संघर्षरत आशा आपराइ इस आशा से संघर्ष करती है कि एक न एक दिन जीवन बेहतर होगा। आशा आपराद लिखती हैं, ''बरबादी की फिसलन से फिसली जिंदगी कहीं जाकर कैसे और कब मेरे हाथ आएगी?'' ... एक ही घड़ी में नसीब और लोगों ने हमारे साथ मानों युद्ध शुरू किया था। हम बड़े कम नसीब सिद्ध हुए। जिसे जी जान से प्यार करते थे उसे ही जान से मारने का कलंक। दाग लेकर यूं खड़े थे जहां दलील के लिए जरा भी मौका नहीं था... न ही कोई लफ्ज... या मेरे मौला कैसा यह इम्तहान? हमारा घर तो फना हुआ ही उसके अलावा मेरी दुर्दशा में बढ़ौती हो गई। मां ने मेरे जन्म से ही मुझसे किसी जन्म का बदला लेने जैसा बैर रखा था, अब मेरे ससुराल वालों भी बैरी बन गए। मेरी कुछ भी गलती न होते हुए भी मेरे मायके और ससुराल वालों ने दुर्घटना का सारा जिम्मा मेरे माथे पर थोप दिया। नियति ने शायद मेरी सजा और बढ़ा दी। मेरे सामने अंधकार फैल गया... घोर अंधकार... मैंने धड़कते दिल पर हाथ रखा, ''इसको ही जीना कहते हैं तो ,यूं ही जी लेंगे, उफ ना करेंगे, लब सी लेंगे आंसू पी लेंगे...गम से अब घबराना कैसा, गम सौ बार मिला... जाने वो कैसे लोग थे, जिनके प्यार को प्यार मिला...।''[31] अर्थात् यह स्त्री जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ है हर परिस्थिति में उसी का इम्तहान होता है। घर की दुर्दशा के लिए उसी को जिम्मेदार ठहराया जाता है, जो कि वह होती नहीं है। 'यह स्त्री जीवन की विडम्बना ही है कि उनको प्यार के बदले में बदनसीबी मिलती है। यह सब स्त्रियां नियति और पुर्वजन्म का खेल मानकर जीती है और पितृसत्ता उसे इसका बोध इस रूप में कराता आया है और वह खुद भी इसे स्वीकार करती चली आ रही है।

2.2.3 समाज और राष्ट्र का संकट

भारतीय समाज में लोगों की स्थिति जाति और धर्म से संचालित होती है और उससे नियंत्रित भी होती है। धर्म के द्वारा संचालित शुद्धतावादी मानसिकता के कारण से समाज में भेदभाव और छुआछूत की भावना बहुत तेजी से उभरती रही है। मैत्रीय पुष्पा और कुसुम अंसल की आत्मकथाओं में धर्म के कारण होने वाले भेदभाव को दिखया गया है। कुसुम अंसल के घर जब मुस्लिम दोस्त आती है, तब उनकी सास के द्वारा 'जिस बर्तन में

खाना दिया गया था उसको गर्म राख से शुद्ध करना और मुस्लिम दोस्तों को मलेच्छ' कहना 'हिन्दूत्व मानसिता' है, जो आपस में बैरभाव पैदा करती है। उन्हीं के शब्दों में, ''शुद्ध कर रहे हैं बर्तन, मलेच्छों को खाना खिला दिया तुमने... अशुद्ध हो गया सबकुछ... मैं हतप्रभ उन्हें देखती रही। ऐसी स्थिति जीवन में पहली बार आई थी, मनुष्य और मनुष्य का विभाजन, प्रेम और घृणा का यह विभाजन, हिन्दू–मुसलमान का भेदभाव अलीगढ़ में तो नहीं था। कुम्मी की अम्मा अख्तर आपा, पापा को राखी बांधती थीं। छतारी के नावब साहब ने अपने सदर दरवाजे से गुजरती मेरी बारात को रोककर उसका स्वागत किया था, इत्र फुलेल, लगाये थे... और मैं भी तो उनकी हवेली में ईद की सेवईयां खाकर इतनी बड़ी हुई थी, उनका पोता, हुमायूं मेरी गोद में खेला था। मैंने हंसकर कहा – "भाभीजी, ऐसा करें, आप ये कुछ कोयले मेरे भीतर भी डाल दें, मैं भी तो उनके बर्तनों में उनके साथ, उनके बर्तनों में खाती–पीती रही हूं...। मेरी सास ने दहकती आंखों से मुझे देखा, मानों मेरा दृष्टिदाह कर रही हों... बर्तनों के अंगारे मेरे भीतर उतर गये, मेरे भीतर एक आंसूओं का संसार सृजित करने लगे।"[32] वहीं मैत्रेयी पुष्पा लिखती है कि ''नंबरदार के रिश्तेदारों में कानाफूसी हुई – नीच कौम के तीन–चार आदमी नंबरदारनी के यार हैं। जफरु फकीर तक को इसने नहीं छोड़ा। तभी तो नंबरदार बिचारे मुसलमानों से दबते हैं। कब से ? तभी से, जबसे हिन्दुस्तान–पाकिस्तान के बँटवारे का किस्सा चला था। कहते हैं जमींदारनी ने अनशन कर दिया था – एक भी मुसलमान गांव से नहीं जाएगा। किसी को खींचा–खिचोड़ा नहीं जाएगा। किसी को चोट–फेंट नहीं लगनी चाहिए। गांव–गांव, शहर–शहर कत्लेआम होने लगा। और नंबरदार बिचारे अपने रजिस्टर में मुसलमानों को हिन्दू नामों से दर्ज कर रहे थे। मंगला, हरि, गोपाल, नत्थू, लालसिंह। माया सुनहरी, राजकुमारी। इतनी पक्षदारी की कि नंबरदार के लिए खिच्चो चक्की वाले ने गीत बना डाले–

स्टेशन पर बैठी छोरी मुसलमान की

बाबूजी मेरी टिकट काट दो पाकिस्तान की

ना बामन की ना बनिये की छोरी शेख पठान की

बाबूजी मेरी टिकट काट दो पाकिस्तान की

एक लाखा, एक चूड़ा घर से ले आऊँगा

मैं बनिये का लाल तेरी जान बचाऊँगा।"[33]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म और जाति आधारित समाज में जहां एक तरफ 'हिंन्दूत्व' का खतरा है वहीं दूसरी ओर मुस्लिम को हिंदू नाम देकर रखना भी उसके अस्तित्व के लिए खतरा है। स्त्री आत्मकथाओं का यह परिदृश्य भारतीय समाज में जाति–धर्म के नाम पर हो रहे राजनीति को बेपर्दा करता है। इतना ही नहीं यह आत्मकथा यह भी बताती है कि राष्ट्रीयता के नाम पर चल रहे आंदोलनों में जब लड़कियां भाग ले रही थीं, तो इस समाज की ब्राह्मणवादी मानसिकता इस आंदोलन में भाग ले रही लड़कियों के अभिभावक को इज्जत, प्रतिष्ठा के नाम पर घेरने लगती हैं। यह भी असमानता है। इसका जिक्र करती हुई मन्नू

भंडारी लिखती हैं कि आजाद हिंद फौज के साथ जब हम लड़कियां आंदोलन में सरीक होने लगी थीं तभी पिता जी के दकियानूसी मित्र घर आकर यह कहते हैं कि ''अरे उस मन्नू की तो मत मारी गई है भंडारी जी, पर आपको क्या हुआ ? ठीक है, आपने लड़कियों को आजादी दी, पर देखते आप, जाने कैसे–कैसे उल्टे–सीधे लड़कों के साथ हड़ताले करवाती, हुड़दंग मचाती फिर रही है वह। हमारे –आपके घरों की लड़कियों को शोभा देता है यह सब ? कोई मान–मर्यादा, इज्जत–आबरु का ख्याल भी रह गया है आपको या नहीं।"[34] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं में परिवार से लेकर समाज और समाज से लेकर राष्ट्र की परिकल्पना में स्त्री की सामाजिक स्थिति का वर्णन किया गया है। सभी जगह स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की है।

राष्ट्र की परिकल्पना में एक भाषा, एक राज्य एवं एक धर्म की भावना होती है। लेकिन सवाल उठता है कि भारत जैसे बहुभाषी–संस्कृति वाले देश में यह परिकल्पना सहज है। इस परिकल्पना में स्त्रियों के योगदान को नकारा तो नहीं जा सकता है लेकिन समाज उसे सहज भी स्वीकार नहीं करता है। दिनेशनंदिनी डालमिया राष्ट्रीयता के बारे में अपनी आत्मकथा 'मुझे माफ करना' में लिखती हैं कि सामाजिक परंपराओं की तोड़–फोड़ से घर के लोगों में एक उदास फुसफुसाहट और राजकीय लोगों में एक सनसनी फैली। जिसने उनके सम्मान और कीर्ति की पताका को हमेशा के लिए झुका दिया। उन दिनों की सामाजिक क्रांतियों के विरोध में इन अनेक विवाहों का कदम काले पत्थर के अनगढ़ रोड़े की तरह कानून को चुनौती देता रहा। ... "इधर ये वर्तमान राजतंत्र के विरुद्ध वक्तव्य देने लगे, जो इनके अधीन छपने वाले सभी समाचारपत्र मुख्य–पृष्ठों पर छापते। उनमें सरकारी नीतियों की कूट आलोचना, उनका खुला खंडन और चुनौतियां होतीं। कभी–कभी गहरे व्यक्तिगत व्यंग्य और आक्षेप होते, सरकार को उलटने की धमकियां होतीं – इन बातों को इनके बंधुगण पसंद नहीं करते थे। वे अपने विरोध को अभिव्यक्त करने का सीधा तरीका न अपनाकर इधर–उधर चर्चाएं करते। मेरे विवाह के बाद तो विरोध का यह तत्त्व और भी जोर पकड़ गया। लोग इस सबके पीछे मेरा हाथ मानने लगे थे – जबकि सत्य यह है मैं इन्हें भारतीयता और राष्ट्रवादी वैचारिक मान्यताओं के निकट लाने का प्रयास करती थी।"[35] अर्थात् सामाजिक परंपरा की जड़तावादी नीति कैसे राष्ट्र के विकास में बाधा डालती है, यहां इसे सहज ही समझा जा सकता है। इसी क्रम में देश में गांधी के असयोग और स्वदेशी आंदोलन को भी समझा जा सकता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा लिखती हैं कि ''सन इक्कीस में असहयोग आंदोलन ने देश में तूफान उठा दिया था। स्कूलों में, बच्चों ने गांधी टोपियां पहनकर, 'वन्दे मातरम्' के नारे लगाये। अंग्रेज सरकार ने जुलूसों पर लाठीचार्य किये, सत्याग्रही जेल गये। बाबूजी सरकारी नौकर थे। सामान्य सुख–सुविधा के बीच शांतिपूर्वक जीना चाहते थे। मन में वह देश की स्वतंत्रता भले ही चाहते हों, पर शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार गांधी के अहिंसावादी सत्याग्रह से भारत को आजादी दे देगी – इस पर उन्हें विश्वास नहीं था। बारीक मलमल की मैनेचेस्टर या लंकाशायर की विदेशी मिलों से बनती धोती की जगह, हाथ से कते–बुने मंहगे खद्दर के कपड़ों में उन्हें रुचि नहीं थी।"[36] अर्थात् देश की आजादी और फिर विभाजन की वाली घटनाओं ने देश को नफरत की आग में झोंक दिया है। स्त्री आत्मकथाओं में इस नफरत की आग और उसके कारण स्त्रियों के साथ होने वाली अमानवीय घटनाओं को जिक्र

आया है। इस संदर्भ में प्रभा खेतान लिखती हैं कि "हिन्दू मुसलमान का दंगा भड़कता जा रहा था, रातों–रात सैय्यद अली लेन वाला मकान मामाजी लोगों को खाली करना पड़ा, जकरिया स्ट्रीट से मारवाड़ी भाग रहे थे। देश स्वतंत्र होने के बाद, मिलिट्री बैरक, पूर्वी पाकिस्तान से आए शरणार्थियों से भर गए। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था... "घर से बाहर मत निकलो। कुछ हो जाएगा।" राशन की तंगी, कालाबाजारी, घर में भरा हुआ खाने–पीने का सामान, तेल से भरी हुई टंकियां।'[37] इसी के साथ वे आगे लिखती हैं कि "देश प्रेम के दो रूप हैं। अपने जैसे लोगों के लिए कल्याणकारी, अपने से भिन्न के प्रति हिंसक। लेकिन क्या यह देश महज कुछ लोगों का है? क्या यह देश सबका नहीं ? हमें यह कैसी आजादी मिली कि देश का नेतृत्व कालाबाजारी, मुनाफाखोर लोगों के हाथ में आ जाए और इनके इशारे पर सत्ता नाचती रहे। इनके कहे पर आम आदमी को पुलिस गोलियों से भून दे।"[38] अर्थात् कहा जा सकता है कि आजादी की विडम्बना को भी स्त्री आत्मकथाओं में देखा जा सकता है कि किस प्रकार आजाद भारत में जहां लोगों का सपना था कि सब बराबर होगें, सभी को काम मिलेगा, सभी एक साथ रहेंगे ,कैसे वह सब बिखर गया और आजादी की सत्ता कालाबाजारी, मुनाफाखोरों और ब्राह्मणवादियों के हाथ जा बैठी है। यह एक विचारणीय प्रश्न स्त्री आत्मकथा समाज के सामने रखती है।

राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्री के शोषण को उजागर करती हुई रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि किस प्रकार लड़कियां अपने शारीरिक शोषण को नजरअंदाज करती हुई राष्ट्रीय हित में काम करती रही हैं। उन्हीं के शब्दों में, '' अब मैंने उससे कहा – "देखो पहले तो तुम रोना बन्द करो और ऐसे दिखाओ कि जैसे हम किसी से डरने वाली नहीं है, तभी हम इनकी दरिन्दगी का मुकाबला कर सकते हैं। दूसरे यदि ये हमारे साथ बदतमीजी करते भी हैं तो उसे उस रूप में मत लो। हमारे साथ घटा यह हादसा देश के लिए हमारी कुर्बानी माना जाएगा। हम किसी मकसद से चले हैं, ये रास्ते की रूकावटें हैं जो झेलनी पड़ सकती हैं। ऐसी स्थिति में जो भी घटेगा उससे हमारी बदनामी नहीं होगी बल्कि उससे मुकाबला करना हमारी बहादुरी माना जाएगा। रूस पर जब हिटलर ने हमला किया तो जर्मन सेनाएं दूर अन्दर तक बढ़ गई तो जवान रूसी लड़कियां अपनी आबरु की चिंता न करके, दुश्मनों की गुप्त सूचनाएं अपने देशवासियों को लाकर देने के लिए रातभर जर्मन अफसरों के कैम्पों में बिताती थी। उनकी देह का भले जर्मन अफसरों ने शोषण किया लेकिन वास्तव में वे लड़कियां अपने देश को बचाने के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए अपनी देह का इस्तेमाल होने दे रही थी।"[39] इस प्रकार रमणिका गुप्ता जिस देह और देश की कुर्बानी की बात करती है क्या वास्तव में ऐसा करना राष्ट्र के हित की बात है! क्या सचमुच में उनकी कुर्बानी राष्ट्रीय कुर्बानी मानी जाएगी? किसी स्त्री की आबरू राष्ट्र की आबरू होती है, ऐसा मानने को हमारा समाज तैयार है?

आजादी की विडम्बना और ब्राह्मणवादी राजनीति की वजह से न केवल देश का विभाजन हुआ बल्कि वह दरार आज तक हमारे देश में बनी हुई और उस पर राजनेता राजनीति की रोटी सेंक रहे हैं। मन्नू भंडारी ' एक कहानी यह भी' में साड़ी बनाने वाले जिस रंगरेज मुस्लिम की चर्चा करती हैं और उससे अपने समाज की आत्मीयता की बात बताती हैं। वह राष्ट्र प्रेम ही है, जिसमें कर्म का सौन्दर्य है तो मनुष्यत्व का फुल भी। लेकिन इसी के साथ उसे पाकिस्तान चले जाने की घटना आत्ममंथन के लिए मजबूर करती है। ''... अचानक बाबा का

आना बन्द हो गया। हम लोग हैरान–परेशान। कुछ दिनों बाद मालूम पड़ा कि वो पाकिस्तान चले गये। पर क्यों ?... क्या तकलीफ थी बाबा को ... किससे डर था ?... कोई ढ़ाई –तीन साल बाद की बात है। मैं अजमेर में थी और एक दिन अचानक सुना.... रंगरेऽऽऽज। मैं चौंकी, फिर सोचा भ्रम है कि तभी उस आवाज की पुनरावृत्ति। दौड़कर मैं ही बाहर नहीं आई, अड़ोस–पड़ोस की दो–चार लड़कियां–भाभियां और निकल आईं। हम सबसे घिरा, दोनों हथेलियों में माथा टिकाए जमीन पर गुमसुम बैठा बाबा और प्रश्नों की झड़ी लगाती हम सब लोग – 'कहां चले गए – क्यों चले गए थे ... तुम्हें क्या जरूरत थी जाने की...। अचानक बाबा फफककर रो पड़ा और बार–बार जमीन से मिट्टी उठा–उठाकर माथे पर लगाने लगा। अनवरत आंसुओं और हिचकियों के बीच बस एक ही वाक्य उसके मुंह से निकलता जा रहा था – "अपनी मिट्टी को छोड़कर कोई रह सकता है क्या ... अपनी मां को छोड़कर कोई रह सकता है क्या ?"[40] निश्चय ही मन्नू भंडारी का सवाल एक मनुष्यत्व का सवाल है जिसमें देश की नफरतभरी राजनीति की गंध नहीं। नफरत की आग पर राजनीति की खड़ी नींव मनुष्यत्व की जड़ को खोदने में लगी हुई है, जो न केवल समाज के लिए संकट है बल्कि राष्ट्र के लिए बहुत बड़ा संकट है। इस प्रकार स्त्री आत्मकथाएं सामाजिक और राष्ट्रीय संकट को रेखांकित कर रही हैं।

2.2.4 पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था और स्त्री :

भारतीय समाज की सरंचना न केवल जाति और धर्म आधारित है बल्कि इसकी संरचना भी पुरुषवादी है। जिसमें समाज के सभी तत्वों का निर्माण पुरुषों ने अपने हित के लिए किया है। सामाजिक तानाबाना से लेकर मनुष्य की जिंदगी के विविधि आयाम पुरुष द्वारा संचालित और नियंत्रित है। उस सत्ता में स्त्री महज एक उपभोग की वस्तु की तरह है और उसकी मानसिक स्थिति आज ऐसी हो गई है कि वह उसी पितृ की दी हुई वस्तु पर बहुत खुश होती है। लेकिन समय सापेक्ष उसमें बदलाव आया है और वर्तमान में स्त्री अपनी वजूद, अस्तित्व, अस्मिता, गरिमा आदि के लिए उठ खड़ी हुई है। जिस कारण से पितृसत्तात्मक व्यवस्था कमजोर हुई है और उसका खातमा नहीं हुआ है। मैत्रेयी पुष्पा जब अपने अधिकारों के लिए उठ खड़ी हुई थीं तो वे बेसिक तौर पर अपनी जिंदगी के महत्व को समझती हुई सम्मानपूर्ण जीवन के लिए, सामाजिक समानता, मानवीय गरिमा आदि के लिए ही आवाज बुलंद कर रही थीं। वे लिखती हैं कि '' मैं नाच के लिए नहीं उठी थी, अपने हक के लिए खड़ी हुई थी। जिनसे मेरी जिन्दगी के सम्मान का वास्ता था। मुझे प्रेरित करने के अपराध में वह घृणा के पात्र हों मैं कल्पना नहीं कर सकती मैंने तो जो संकेत पाया वह सूर्य की ओर था कि मेरे ही भीतर घिरे अंधरे तिरोहित होने लगे। निश्चित ही डॉ. सिद्धार्थ ने मेरे वजूद में तिरस्कारों की सुई उतरते देखी होगी, तभी तो प्रेम और समानता का यह नजारा बना।"[41] इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री अस्मिता व अस्तित्व का संघर्ष पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ है। इस संदर्भ में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पहचान जरूरी है। लेकिन इसी के साथ यह सवाल उतना ही कठिन होता जा रहा है कि पितृसत्ता की बारीक से बारीक रेशे तैयार हो गए हैं, वह मनुष्य के नस–नस में समा गया है कि उससे मुक्ति उतनी आसान नहीं है परंतु वह मुश्किल नहीं।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में स्त्रियों के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पुरुषों का नियंत्रण होता है। इस क्रम में सबसे पहले वह स्त्रियों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण करता है। या यह भी कह सकते हैं कि स्त्रियों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण इसका सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में उत्तराधिकार में संपत्ति का हस्तांतरण पुरुषों के बीच में ही होता है। इस उत्तराधिकार में एक स्त्री की यौन सेवाओं का सिर्फ एक व्यक्ति के लिए उपलब्ध होना आवश्यक है क्योंकि इससे यह सुनिश्चित रहता है उत्तराधिकारी संतति जैविक रूप से शुद्ध है।

पितृसत्ता शब्द का अर्थ समाज की उन प्राचीन परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है जब पुरुषों ने सामाजिक सत्ता पर अधिकार प्राप्त कर लिया। सर्वप्रथम परिवर्तन कृषि कार्य से आरंभ हुआ, पुरुष मुख्य भूमिका निभागने लगा और स्त्री गौण होती चली गई। फलस्वरूप निजि संपति की उत्पत्ति एकनिष्ठ विवाह और पितृसत्तात्मक समाज की उत्पत्ति हुई।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था की एक विशेषता यह भी है कि इसके अंतर्गत स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के अलावा उसकी उत्पादकता या श्रम शक्ति पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। उत्पादन या श्रम शक्ति पर नियंत्रण प्राप्त करने से तात्पर्य है कि पुरुष, स्त्रियों को अधीन रखकर उनसे आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं। स्त्री आत्मकथाओं में पितृसत्ता की बारीक रेशों की पहचान होती है। पितृसत्ता का विरोध और अपनी जिंदगी अपनी शर्तों पर जीने की जद्दोजहद स्त्री आत्मकथाओं में दिखाई पड़ता है। मैत्रेयी पुष्पा से लेकर आशा आपराद तक की आत्मकथाओं में किसी न किसी रूप में पितृसत्तात्मक व्यवस्था उजागर होती है। कई बार तो यह सब पुरुषों के द्वारा न होकर स्वयं स्त्री के हाथों देखा जा सकता है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था का सांस्कृतिकरण भी हुआ है। वह पुरुषों से स्त्रियों में भी समा गया है। यही वजह है कि स्त्रियों का शोषण स्त्रियों के द्वारा भी किया जाता रहा है और आज भी किया जा रहा है। प्रभा खेतान की मां और आशा आपराद की मां को इस दृष्टि से देखा जा सकता है।

पितृसत्ता से मुक्ति का सवाल सभी स्त्री आत्मकथाओं में देखी जा सकती है लेकिन सवाल उठता है कि वह किस हद तक हुआ है और किस रूप में वह मौजूद है। यह कहना असंभव है और जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक पितृसत्ता से पूरी तरह मुक्ति संभव नहीं है। आदि से अंत तक स्त्री आत्मकथाओं में यह प्रश्न देखा जा सकता है। स्त्री आत्मकथाकारों ने पितृसत्ता की मुख्य प्रवृत्ति एकनिष्ठता पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं। दिनेशनंदिनी डालमिया ने 'मुझे माफ करना' में स्पष्ट लिखा है कि एक बार उनकी मां के साथ उनका छोटा भाई आया था, तो उन्होंने अपने छोटे भाई को प्रेम से चूम लिया। डालमिया जी भी वहीं थे उन्होंने दिनेशनंदिनी जी से कहा हम ये बर्दाश्त नहीं कर सकते मुन्नी की मां (दूसरी पत्नी) का हाथ जब नौकरों को चाबी देते समय उनके हाथों को छू जाता है तभी हमारा खून खौलने लगता है तुमने तो इसे चूमा है हम कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं। यही स्थिति कुसुम अंसल के साथ भी होती है जब वो नाटक में अपनी भूमिका निभाते समय अपने प्रेमी का हाथ अपने हाथ में लेती हैं। सास–ससुर उससे बोलना बंद कर देते हैं तो पति कुछ ना कहते हुए भी नाराज

नजर आते हैं। कृष्णा अग्निहोत्री के साथ तो स्थितियां इन दोनों से बदतर हैं। एक बार इनके पहले पति पार्टी में अपने ही किसी दोस्त के साथ हंसकर बात करने पर उन्हें लात और घूसों से मारते हैं। यह पितृसत्ता की एकनिष्ठता की प्रवृत्ति ही है जो केवल स्त्रियों पर ही लागू होती है, और इसकी अपेक्षाएं सिर्फ स्त्रियों से ही की जाती हैं। पद्मा सचदेव, मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा सुशीला टाकभौरे कोई भी स्त्री आत्मकथाकार ऐसी नहीं है जिसके पति या प्रेम ने उनसे एकनिष्ठता न चाही हो जबकि डालमिया जी का पत्नियों के अलावा अन्य स्त्रियों के साथ शारीरिक संबंधों का उल्लेख निदेशनंदिनी ने 'मुझे माफ करना' में किया है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने अपने जीवन की सच्चाईयों को समाज के सामने खोल कर रख दिया है। पितृसत्ता का खुला रूप इन आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। जिसके अंत और परिवर्तित होने की परिकल्पना भी इन आत्मकथाओं में है। कोई भी परिवर्तन एक दिन में नहीं होता है उसके लिए नींव की जरूरत होती है और ये आत्मकथाएं उसी नींव का कार्य कर रही हैं। कृष्ण अग्निहोत्री अपने दोनों पतियों के अतिरिक्त अन्य संबंधों का उल्लेख 'लगता नहीं दिल मेरा' में खुल कर करती हैं तो मन्नू भंडारी ने राजेन्द्र यादव की 'घाघरा पलटन' का उल्लेख 'एक कहानी यह भी' में किया है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के पति तो उनकी आंखों के सामने अपने बच्चों से भरे घर में दूसरी लड़की को लेकर आते हैं। इसे विडम्बना नहीं तो क्या कहें जहां पितृसत्ता के चलते स्त्रियों को कदम–कदम पर खून के आंसू रोने पड़ रहे हैं। कब बदलेगा ये समाज, कब सुधरेगी ये पुरुष मानसिकता, कब होगा स्त्रियों की समानता का सपना पूरा?

किसी भी संबंध में समर्पण है। बिना समर्पण के रिश्तों की बुनियाद मजबूत नहीं होती है। लेकिन पितृसत्तात्मक समाज में यह समर्पण सिर्फ स्त्रियों के लिए ही है। पुरुष इस समर्पण से मुक्त रहता है। ऐसा क्यों? क्या संबंधों की बुनियाद या रिश्तों की यह शर्त सिर्फ स्त्रियों पर ही क्यों ? पुरुषों पर क्यों नहीं? सभी स्त्रियों से उनके पति एकनिष्ठता चाह रहे हें जबकि स्वयं के अन्य स्त्रियों से संबंध हैं। यह पितृसत्ता ही है। दोहरी मानसिकता नहीं तो क्या है। समस्या एकनिष्ठता की प्रवृतित की है जो सिर्फ स्त्री पर ही लागू होती है यही पितृसत्ता है।

दिनेशनंदिनी डालमिया हमेशा अपने पति से भयभीत रहती हैं कि संपत्ति की मांग करना तो दूर खाने–पीने तक में कई बार वह मजबूर दिखती हैं, क्योंकि वो खुलकर कुछ भी कह नहीं पाती है अपने पति की अमीरी का आतंक हर पल उन्हें घेरे रहता है। कुसुम अंसल की स्थिति इनसे थोड़ी भिन्न है, वे अपने पति के पैसे का लाभ तो उठाती है लेकिन उनके व्यवसाय में भी मदद करती है। अपने स्कूल के निर्माण में वे स्वयं को भूलकर दिन–रात एक कर देती हैं लेकिन उनके नाम कितनी संपत्ति है, वे कितने की हकदार हैं इसका जिक्र कहीं नहीं है। कृष्णा अग्निहोत्री को न पहले पति से, न दूसरे पति से और नहीं अपने मायके से कोई हिस्सा मिलता है। वे हर जगह अपने हक के लिए लड़ती हैं लेकिन मिलता नहीं है और अपना हक मांगने के लिए अपमान ही उन्हें मिलता है। यही स्थितियां चंद्रकिरण सौनरेकसा, मन्नू भंडारी, सशीला टाकभौरे, प्रभा खेतान,

मैत्रेयी पुष्पा, आशा आपराद के यहां भी हैं। यानी पितृसत्तात्मक समाज की दूसरी और मुख्य प्रवृत्ति संपत्ति पर पुरुषों का एकाधिकार का सवाल सभी स्त्रियों ने उठाया है और उसके चलते होने वाली परेशानियों का भी जिक्र स्त्री आत्मकथाओं में मिलता है। बच्चों के पालन–पोषण को लेकर उत्पन्न हुई समस्याएं हो या घर के कामों को लेकर हुए झंझट सभी जगह स्त्रियों को ही पिसना पड़ता है। 'दर्द जो सहा मैंने' और 'शिकंजे के दर्द' में स्त्री संपत्ति और अधिकार को लेकर जिस दयनीय स्थिति का वर्णन है वह निश्चित ही हमारे समाज की सामाजिक संरचना के बुनियादी संकट को ही दर्शाता है।

पितृसत्तात्मक समाज की यह कैसी विडम्बना है कि वह जिस स्त्री का साथ चाहता है, जिसे वह अपनी जिंदगी में जीना चाहता है। उसे ही वह वस्तु की तरह इस्तेमाल करता है। मानव से वस्तुकरण तक की स्थिति का यह दास्तान पुरुष समाज ने स्वयं ही रचा है। जिस की खामयाजा उन्हें जा भुगतना ही पड़ रहा है। स्त्री की मानवीय स्वरूप से उसे देवी और फिर वस्तु में ढालने की वाली मानसिकता की ही उपज है कि आज स्त्रियां स्वयं समाज की बुनियाद पर प्रश्न खड़ा कर दे रही है और उसकी जड़ पर प्रहार करने लगी है। मानव होकर भी मानवीय अस्तित्व के लिए कर रही संघर्ष में वह स्वयं जहां टूटती है वहीं पुरुष उससे अछूता नहीं है। इसी कारण वह अपने इस टूटन को स्त्रियों पर मढ़ देता है जिसका कारक वह स्वयं हैं। इस प्रक्रिया में पितृसत्ता ने स्त्रियों को यंत्र की तरह तब्दील किया है। इस प्रक्रिया में स्त्रियों के मातृत्व को भी चुनौतियां मिली हैं। जिसकी कीमत उसे संपत्ति की बेदखली से लेकर दोयम दर्जा –भोग्या रूप से लेकर कन्या भ्रूण हत्या के रूप में मिली है।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। इस सामाजिक व्यवस्था में पितृ परिवार का कर्ता होता है, तथा पुरुषों को स्त्रियों की तुलना में विशेष अधिकार और महत्व दिया जाता है। इस प्रकार के भेदभाव स्त्रियों के साथ व्यवहार जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त होता रहता है। समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में परिवार का मुखिया कोई पुरुष ही होता है। परिवार के सभी सदस्यों, संपत्ति व आर्थिक संसाधनों पर उसका नियंत्रण होता हैं वंश भी उसी के नाम से चलता है। इस व्यवस्था में पुरुष का स्थान स्त्री से ऊंचा रहता है। स्त्री पुरुष के उपभोग की वस्तु मानी जाती है तथा वह उसका वंश बढ़ाने का माध्यम मात्र है। प्राकृतिक रूप से जो स्त्री जिस बच्चे को जन्म देती है वही उसकी मां है, यह बात स्पष्ट रूप से जाहिर है, लेकिन उस बच्चे का पिता कौन है यह पता नहीं चल पाता। पुरुष कैसे सुनिश्चित करे कि यह बच्चा उसका ही है? इसी कारण से पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में विवाह की संस्था को जन्म दिया। इसके द्वारा मुख्य रूप से स्त्रियों की यौनिक और प्रजनन पर नियंत्रण रखा जाता है। इससे पति को मालूम रहता है कि उसकी पत्नी के गर्भ में उसी की संतान है। इस तरह से पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने प्रजनन क्रिया को एक सामाजिक रूप प्रदान किया है और उसके साथ कई प्रकार के रीति–रिवाज, रूढ़ियां और परम्पराएं जुड़ गई हैं। स्त्री आत्मकथा पितृसत्ता से मुक्ति की आकांक्षा प्रस्तुत करती है।

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री का वस्तुकरण इस कदर बढ़ा कि मानवीय संबंधों को और उसकी सामाजिकता में संबंधों का विच्छेद या रिश्तों की सामाजिकता ऐसा टूटा कि भाई–बहन तथा पिता–पुत्र का रिश्ता भी तार–तार होने लगा है। प्रभा खेतान के साथ जर्बदरस्ती उसके चचेरे भाई के द्वारा रिश्तो का कायम करना और उसकी यौनिकता का भंग किया जाना अथवा 'अन्या' के रूप में जीवन जीना उसी मानवीय रिश्तों का वस्तुकरण का परिणाम है। यह पितृसत्ता का चरम स्थिति है। प्रभा खेतान एक पढ़ी–लिखी आत्मनिर्भर स्त्री होकर भी संपूर्ण जीवन एक अन्या की तरह जिंदगी जीती रही। उनके जीवन की वास्तविकता है कि अपने जीवन के लगभग ढाई दशक उन्होंने आंसुओं के बीच जिए हैं। उन्होंने बस दिया ही दिया है न कुछ पाना चाहा और न पाया। उनके पास जो कुछ था अर्पित करने के लिए, पाने के लिए कुछ नहीं। मनचाहे के साथ बिता सकने वाले कुछ क्षण भी नहीं। और जिसे उन्होंने सब कुछ दे डाला उसके पास सब कुछ पाने ही पाने को था, खोने के लिए उत्सर्गिता को देने के लिए कुछ भी नहीं। प्रभ खेतान ने जिस जीवन का चुनाव किया वह पितृसत्ता के लिए बहुत बड़ी चुनौती था, तभी वह सामाजिक रूप से सम्मान नहीं प्राप्त कर पाईं। भले ही उनके आगे लोग उनकी इज्जत करते थे, क्योंकि वो आर्थिक रूप से सशक्त थीं, लेकिन पीठ पीछे लगभग सभी उनके जीवन–यापन करने के तरीके की बुराई करते थे। पितृसत्ता के स्वरूप पर प्रभा खेतान लिखती हैं, ''क्रूर समाज था, क्रूर परिवेश, उनकी क्रूरता जितनी त्रासद थी, उतनी ही बेतुकी थी और ऐसे परिवेश में अपना कटा हुआ सर अपनी हथेलियों में लिए घूम रही थी। मुझे कोई शारीरिक सजा नहीं मिली, किसी दैहिक पीड़ा का अहसास कभी नहीं हुआ, लेकिन एक चरम मानसिक यंत्रणा को भोगते रहने को, एक स्थायी आतंक को झेलते रहने को मैं बाध्य थी।''[42] अर्थात पितृसत्ता सिर्फ शारीरिक शोषण और उत्पीड़न नहीं करती है बल्कि वह मानसिक शोषण और उत्पीड़न की जाल भी बुनती है जिसके कारण ही पढ़ी–लिखी आत्मनिर्भर स्त्रियां चाहकर भी कुछ नहीं कर पाती हैं। यह बहुत ही चिंता का विषय है।

पितृसत्तात्मक समाज की एक खास विशेषता रही है कि जो स्त्रियों के शोषण का एक कारक है; वह यह कि वह स्त्रियों की योग्यता व उपलब्धियों को कमतर करके आंकता है। स्त्री की बुद्धि के प्रति हमेशा सशंकित रहना। स्त्री के दैहिक सौन्दर्य को खोजने का आग्रह और फिर यह कहना कि 'ब्यूटी विद ब्रेन'। 'अन्या से अनन्या' में डॉ. सर्राफ के साथ प्रभा खेतान के जीजाजी जिसकी मानसिकता में यह अवस्थित है। जैसा कि प्रभा खेतान लिखती हैं कि एक स्त्री के पास व्यापारिक बुद्धि? इसी के साथ प्रभा खेतान द्वारा बनाए गए 'संपल' को देखकर उनके जीजाजी जो कमेंट करते हैं। उन्हीं के शब्दों में ''प्रभा तुम्हारे पास तो व्यापरी बुद्धि नहीं। व्यापार की दुनिया में तुम कभी कुछ कर नहीं पाओगी।''[43] या इसी तरह प्रभा खेतान द्वारा मंहगे बैग खरीदने पर डॉ. सर्राफ कहता है ''व्यापारिक बुद्धि? तुम्हारे पास बुद्धि नाम की चीज भी है।''[44] इतना ही नहीं वे आगे कहते हैं कि मैंने तुम्हें पैसा कमाना सिखाकर गलती की।''[45] इस प्रकार देखें तो स्त्री की गुलामी का कारण जहां एक तरफ उनकी प्रजन्न क्षमता है वहीं दूसरी तरफ आर्थिक संसाधन की कमी है। उत्पादन न करने की स्थिति में भी उत्पीड़न शोषण और करने पर भी। कारण यह है कि पितृसत्तात्मक समाज यह कतई बर्दाश्त नहीं करता है कि स्त्री किसी भी स्थिति में पुरुष के साथ बराबरी करें। और स्त्रियों के जीवन की स्थिति बदले। ऐसा क्यों होता है

इसका कारण इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि जब डॉ सर्राफ बुढ़ापे की तरफ ढल रहे थे और प्रभा खेतान अपनी जवानीकी तरफ। इस संदर्भ में डॉ. सर्राफ की यह आशंका कि जैसा कि प्रभा खेतान लिखती है कि 'एक दिन चिड़िया उड़ जाएगी।''[46] यही वजह है कि डॉ. सर्राफ अपने प्रेम को पितृसत्ता के शिकंजे में कसकर रखता है। अन्यथा प्रेम तो पितृसत्ता की जड़ता को तोड़ता है और वह उसके विरोध में ही नहीं विपरीत होता है। जिस प्रेम से जीवन का परिदृश्य बदलता है वही प्रेम पितृसत्ता के सामने दम तोड़ता है। इसी की परिणति है कि जब व्यापार के क्षेत्र में प्रभा खेतान आगे बढ़ती है और व्यापार के सिलसिले में उसके कई मित्र हो जाते हैं तो डॉ. सर्राफ का यह कहना कि ''अरे छोड़ो ये जुमले। तुम इस हद तक गिरी हुई हो, मैं सोच भी नहीं सकता था। कहो और कितने यार हैं तुम्हारे? और कितने चक्कर चलाओगी तुम?''[47] यह होती है पितृसत्ता जो स्त्रियों को कभी भी अपने शिकंजे से अलग नहीं देखना चाहती है। और लगातार यह सवाल पूछती रहती है कि कौन था, क्यों आया था, किसका फोन था, क्या कह रहा था आदि। इसी मानसिकता के थे डॉ. सर्राफ कि प्रभा खेतान की हर चिट्ठी उनके टेबल से होकर गुजरती थी। अनुमान किया जा सकता है कि प्रभा खेतान जो एक व्यापारी हैं, पढ़ी–लिखी स्त्री हैं कितनी मानसिक पीड़ा से गुजर रही होंगी। इन सब से संघर्ष करती हुई प्रभा खेतान आगे बढ़ती हैं तो एक दिन तो हद ही हो जाती है कि जब डॉ. सर्राफ कहते हैं कि ''रंडीखाना खोल लो।''[48] इससे क्षुब्ध प्रभा खेतान लिखती हैं कि एक स्त्री के लिए बाहरी दुनिया में सफर करना कितना कठिन है। कहना मुश्किल है, बयान नहीं किया जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में ''मेरी जैसी औरत के लिए बाहरी दुनिया में जाना चाहे मेरी मजबूरी कहिए या फिर चुनाव लेकिन मैं कहना चाहती थी कि यदि स्त्री बाहरी दुनिया में मौजूद है तो क्या उसके संपर्क में पुरुष नहीं आएंगे? और कैसे प्रमाणित करूं कि मेरे और उस फलां पुरुष के बीच ऐसी वैसी कोई बात नहीं है लेकिन डॉक्टर साहब थे कि शब्दों के चाकू से मुझे चीरते रहते।''[49] और प्रभा खेतान की यह कौन सी मजबूरी थी कि वह समाज से विद्रोह तो सकती थी लेकिन डॉ. सर्राफ का उत्तर तक नहीं देती है। क्या उनका चुपचाप रहना ही उनका उत्तर था या फिर उनकी बेवशी! इतना ही नहीं प्रभा खेतान तो यहां तक लिखती हैं कि ''मुझे लगता, मैं समाज से लड़ सकती हूं पर डॉक्टर साहब से नहीं। यों ही लोग मेरे इस अवैध रिश्ते के कारण मुझे बुरी औरत कहते हैं और अब यदि डॉक्टर साहब से भी लड़ाई ठन जाए तो लोगों की नजर में मैं एकदम गिर जाउंगी। डॉक्टर पुरुष हैं समर्थ हैं, लोग तो उन्हीं की बातों पर भरोसा करेंगे, मुझ पर नहीं।''[50] अर्थात् प्रभा खेतान की मजबूरी, बेवशी का कारण इसी वाक्य में छिपा है। एक अवैध रिश्ता, यानि समाज की स्वीकृति के बिना रिश्ता, डॉ. साहब पुरुष हैं, समर्थ हैं, लोग तो उन्हीं की बातों पर भरोसा करेंगे, मुझ पर नहीं। अर्थात् पितृसत्ता से लड़ना आसान नहीं, पुरुष से तो लड़ा जा सकता है। इस सब के बाद तो स्त्री खुद में ही खामियां खोजने लगती है। इसी बोध को तो पितृसत्ता जगाना चाहती है। जिससे उसकी सत्ता कभी खतरे में नहीं आ सकती है अन्यथा जिस दिन स्त्री खुद को अपने 'स्त्रीपन' को मजबूत हथियार बना लेगी, उसी दिन से वह विजयी होने लगेगी। ऐसी स्थिति न पैदा हो इसके लिए पितृसत्ता पुरुष के अपराध को भी स्त्रियों के ऊपर ही थोपता है और पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियां इसे स्वीकार भी लेती हैं।

आज भी स्त्रियों के पास उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी अपनी सुविधा के लिए पुरुषों ने उसे दी है। आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करके भी कोई स्त्री सुखी व शांतिमय जीवन यापन नहीं कर सकती क्योंकि सबसे बड़ी समस्या पितृसत्ता हैं 'अन्या से अनन्या' को ''जहां एक बोल्ड' और निर्भीक आत्मस्वीकृति की साहसिक गाथा के रूप में अकुंठ प्रशंसाएं मिली हैं, वहीं बेशर्म और निर्लज्ज स्त्री द्वारा अपने आपको चौराहे पर नंगा करने की कुत्शित बेशर्मी का नाम भी दिया गया है।''[51] यह पितृसत्तात्मक समाज का यथार्थ है जो स्त्रियों को न केवल दोयम दर्जा देता है बल्कि उसकी पूजा भी करता है और उसको नंगा–निर्लज्ज भी। स्त्री चिंतन में इसका न केवल विरोध है बल्कि उसके खिलाफ युद्ध की घोषणा भी कह सकते हैं। वहीं मन्नू भंडारी अपनी आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' में जब लिखती हैं कि 'सामंती संस्कारों से ओत–प्रोत इस पौरुषीय अहम की कचोट मैं समझती नहीं होऊं, यह बात नहीं थी, पर उसका निराकरण मेरे पास नहीं, राजेन्द्र के पास था। लेकिन उस दिशा में उन्होंने कभी कदम नहीं बढ़ाया और मैं उन्हें मजबूर करना तो क्या, उन पर किसी तरह का दबाव भी नहीं डालना चाहती थी।' तथा इसी प्रकार मैत्रेयी पुष्पा जब 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में पितृसत्ता की रूढ़ियों पर खुलकर आक्षेप करती हुई लिखती हैं कि 'इस समाज में वो मनुष्य तो क्या, औरत भी नहीं, रांड हैं, विधवा, बस! ऊपर से निपूती। साख के लिए कोई रूख तो क्या, कोंपल तक नहीं। पुरुषों जैसे काम करने से पुरुष जैसी नहीं मान ली जाती स्त्री। सामाजिक कामों के चलते उसे किसी पुरुष की जरूरत होती है, भले वह पांच या दो साल का हो। पति और बेटा कहां से लाए कस्तूरी? कांपते कलेजे को पुरुषों के आतंक ने कस लिया। चेहरे पर दर्द उभर आया। बदनामियों से बचकर निकल आने वाली औरत किस स्थिति में मुंह के बल गिरेगी, पता नहीं होगा। धीरे–धीर दर्द होंठों पर उद्वतता का रूप ले गया 'मैं स्त्री नहीं, मां नहीं, रांड हूं।' तो इससे भारतीय समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति क्या है, का सहज ही पता चल जाता है। जिस पुरुष को वह जन्म देती है वहीं पुरुषवादी समाज उसे मां से भिन्न अलग 'नाम' देता है। क्या यह सामंती समाज की उपज है? समाज की इसी संदर्भ को उजागर करती हुई चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे की मैना' में पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों की सामंतशाही का चित्रण ही नहीं करती हैं बल्कि 'घर' और 'स्त्री' को स्त्री की नजरियों से परिभाषित भी करती हैं। घर यानि 'पिंजरा' और 'मैना' यानि पालतू जीव। पितृसत्ता के शोषण का चित्रण करती हुई लिखती है कि ''क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही मैं इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल–तिल खपा रही हूँ? तीन वर्ष के विवाहित जीवन के बाद कोई विश्वास का आधार नहीं बन पाया अब तक, तो आगे क्या आशा बन सकती है?... ''मैंने ऐसे व्यक्ति का साथ चुन लिया है, जो शक के ही चश्मे में सब कुछ देखता है।''[52] अर्थात् यह संबंधों की विडम्बना ही कही जाएगी जिसमें विवाहित जीवन का विश्वास नहीं है और 'उसे शक' की निगाह से देखा जा रहा है। यह भी पितृसत्ता का ही रूप है जो स्त्री–पुरुष के मानवीय संबंधों को शक और अविश्वास के नजर से देखता है। रिश्ते में अविश्वास का पैदा होना ही मानवीय संबंधों को तार–तार कर देता है। इससे मुक्ति ही मानवीय संबंधों की स्थापना हो सकती है। कृष्णा अग्निहोत्री भी 'लगता नहीं दिल मेरा' तथा 'और और औरत' दोनों में पितृसत्ता से मुक्ति के सवाल को उठाती हैं। वह स्वयं इस शोषण का शिकार हुई है और समाज के सामने अपने शोषण को खुलकर रखती है। जिन सवाल और मुद्दे को उन्होंने

अपनी आमकथा में उठाई हैं वह पितृसत्ता के विरूद्ध एक स्वतंत्रता की मांग है। एक पति को उनकी जिन बुराईयों के कारण छोड़ा तो दूसरे उनसे भी बड़े कमीने निकले। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि पितृसत्ता का जब तक अंत नहीं होता है तब तक स्त्री मुक्ति का सवाल अधूरा ही है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी स्त्री आत्मकथाओं में पितृसत्ता का कड़ा विरोध है। पितृसत्ता की शिकार और उससे उत्पन्न होने वाली पीड़ा की भुक्तभोगी की दास्तान हैं स्त्री आत्मकथाएं। लगभग सभी स्त्रियां पितृसत्तात्मक रूढ़ियों को तोड़ती नजर आती हैं। अंतरजातीय विवाह, स्वयं की आत्मनिर्भरता और पारिवारिक आंतरिक पीड़ा से मुक्ति के लिए स्वयं के द्वारा चयन किया गया कर्म आदि रूपों में पितृसत्ता को चुनौतियां दी गई है जिस कारण से समाज में स्त्रियों का 'चालू' या अन्य कई उपाधियों से नवाजा जाता है। यह भी एक तरह की पितृसत्तात्मक सोच ही है। जिसके खिलाफ एक आंदोलन का रूप इन स्त्री आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। दिनेशनंदिनी डालमिया और प्रभा खेतान का अंतरजातीय विवाह, सुशीला टाकभौरे का 'शिक्षक' बनना और अपनी संतानों का अंतरजातीय विवाह करना, कुसुम अंसल के द्वारा 'नाटक और रंगमंच' का चयन, मैत्रेयी पुष्पा के द्वारा 'नबंरदार' को चुनौती देना, चंद्रकिरण सौनरेक्सा का शिक्षक के रूप में काम करना और आकाशवाणी में कार्य करना, रमणिका गुप्ता का राजनीति का चयन करना और अपनी इच्छा अनुसार 'संबंध' का चयन तथा आशा आपरदा का अंततोगत्वा 'शिक्षक' बनना आदि 'पितृसत्ता' को चुनौती देना ही है।

भारतीय समाज में नारी की स्थिति में स्वातंत्र्योत्तर काल में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। हमारे देश में प्रजातांत्रिक शासन पद्धति के लागू होने के साथ ही अधिकारों की समानता, विकास के लिए अवसर की समानता, धार्मिक व जातीय विभेद के ह्रास, भ्रान्त धारणाओं व परम्पराओं के नकार परिवार के स्वरूप में परिवर्तन, स्वर्ग और नरक की अवधारणा में आए परिवर्तन आदि के फलस्वरूप जीवन मूल्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अब नारी की शैक्षिक स्थिति बहुत अच्छी हो चली थीं और उसमें अन्याय व शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की शक्ति उत्पन्न हो गई। अबला के सबला हो जाने के संकेत मात्र से इतना परिवर्तन आया कि अब नारी अपने स्वतंत्र अस्तित्व की महत्ता समझने लगी। अपने अधिकारों की प्राप्ति तथा अपने अस्तित्व की स्वतंत्रता के लिए भारतीय नारी समाज में अब केवल मां, पत्नी अथवा बहिन के रूप में नहीं वरन समाज के एक शिक्षित व जागरूक सदस्य के रूप में निरन्तर सम्मान प्राप्त करती जा रही है। ग्रामीण समाज की नारी की तुलना में शहरी नारी की सामाजिक स्थिति अधिक अच्छी है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरों में साधन व सुविधाएं अधिक हैं। आज भारतीय नारी जीवन व सेवा कार्य सभी क्षेत्रों में पुरुषों की बराबरी कर रही है। सरकारी प्रयास तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलाई गई नारी उत्थान संबंधी योजना व संगठनों ने समाज में नारी की स्थिति को आदरणीय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है नारी जीवन को उसकी समस्त सच्चाई और यथार्थ के रूप में उजागर कर उसकी शक्ति का एहसास कराने का कार्य स्त्री आत्मकथाकारों ने बढ़–चढ़कर किया है। आज नारी किसी पुरुष के नाम से नहीं अपनी अस्मिता के कारण भी जानी जाने लगी है। स्त्री आत्मकथाकारों की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए कई आयामों पर गौर करना होगा। उनकी पारिवारिक स्थिति, विवाह की स्थिति, प्रजनन के समय सुविधाएं, साक्षरता, उनका रहन–सहन, उन्होंने क्या–क्या उपलब्धियां हासिल कीं,

सामाजिक दृष्टि से उन्हें कितना मान–सम्मान मिला, उन्होंने अपने जीवन में क्या–क्या हासिल किया और सामाजिक दायरे में वे कहं तक फिट बैठती हैं। ये सभी पैमाने निर्धारित करते हैं कि स्त्री की सामाजिक स्थिति क्या है।

स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त सामाजिक यथार्थ उच्च वर्ग और वर्ण से लेकर निम्न वर्ग और वर्ण, हिंदू धर्म से लेकर सिख–मुस्लिम धर्म तक की सच्चाई का वर्णन है। प्रभा खेतान की आत्मकथा में मारवाड़ी और बंगाली उच्च वर्ण की कथा है। कृष्णा अग्निहोत्री, मैत्रेयी पुष्पा, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, शीला इन्द्रानी, रमणिका गुप्ता आदि की आत्मकथा मध्यवर्गीय परिवार की हैं वहीं सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा एक दलित परिवार की है और आशा अपराद की आत्मकथा एक निम्नवर्गीय मुस्लिम परिवार की कथा है। जिसकी सामाजिक व्यवस्था अलग–अलग पृष्ठभूमि के होने के बावजूद भी स्त्री के सवाल पर कहीं न कहीं उनमें एक समानता है। उसकी आनी–अपनी सामाजिकता है। कुसम असंल की सामाजिक स्थिती का अदांजा इसी से लगाया जा सकता है कि उन्हीनें अपने नाम से साहित्यिक पुरस्कार की स्थापना कर रखी है। वो दिनेशनंदनी डालमीया की तरह अमीर तो हैं, लेकिन अपने अस्तिव को लेकर ज्यादा चौकन्नी हैं। उनका नाम साहित्य में अपनी रचनाओं के कारण जाना जाता है।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' में मध्यवग्रीय नारी के जीवन मूल्यों का अंकन हुआ है। इस पितृसत्तात्मक समाज में खुद को जीवन जीती हुई एक शादी के बाद दूसरी शादी करती है और वहां भी उनका पति प्यार के बदले उसी पितृसत्तात्मक निगाह से सिर्फ देह को ही देखा। दूसरे पति द्वारा 'वेश्या' नाम दिया और अपनी बेटी की कमाई खाना आदि कहना भी पितृसत्ता का ही लक्षण है। कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं कि 'समाज–परिवार ने मुझे दूसरी शादी करने पर क्षमा तो नहीं किया, अपमानित ही हुई, मेरी बेटी का भविष्य भी अधंकार में था।' ...तुम वेश्या हो, चार–चार आने की वेश्या हो। तुम अपनी लड़की की शादी नहीं करोगी। उसकी कमाई खाओगी। तुम पैसे की लालची हो।' ..'जो भी पुरुष आया, उसने शरीर पर पहले दृष्टि डाली, मदद नहीं दी। अपने तन को बचाते–बचाते मैं थक गई। तन शुद्ध मन आहत।.. वह नाटकीय ही था, पर अंत में धोखा देकर सबका महत्व घटा दिया। मैं पुनः असुविधाओं व अकेलेपन से लड़ाई लड़ती आगे बढ़ने लगी, निश्चित ही यह दैवी सहयोग था कि मैं जी गई।[53] अर्थात् पितृसत्ता में स्त्री सिर्फ भोग्य की वस्तु समझी गई। वह एक मानवीय स्त्री जीवन को नहीं पा सकती है।

पितृसत्ता के विभिन्न तंत्रों में फंसी स्त्रियों की स्थिति कैसी हो सकती है और कैसे वह मानवीय जीवन के लिए लगातार संघर्ष करती हुई आगे बढ़ती है, मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' हैं। इसमें विधवा मां की समस्याओं के साथ मैत्रेयी पुष्पा के जीवन संघर्ष की कहानी है, वहीं चन्द्रकिरण सौनरैक्सा ने 'पिंजरे की मैना' के माध्यम से स्त्री संबंधित समस्याओं से रूबरू करवाया है। उन्हीं के शब्दों में ''मैं देश के निम्न–मध्यवर्गीय समाज की उपज हूं। मैंने स्वयं देश के बहुसंख्यक समाज को विपरीत परिस्थितियों से जूझते, कुम्हलाते और समाप्त होते देखा है। वह पीड़ा और सामाजिक आर्तनाद ही मेरे लेखन का

आधार रहा है।''[54] इस प्रकार उन्होंने मध्यवर्गीय समाज की स्त्रियों की दशा को रेखांकित किया है तो सुशीला टाकभौरे 'शिकंजे का दर्द' में दलित और दलित स्त्री की जिंदगी के संघर्ष को चित्रित करती हैं। वे लिखती हैं, ''दलित होने के साथ ही मैंने स्त्री होने की पीड़ा भी भोगी है।' यह 'आत्मकथा मनुवाद द्वारा निर्मित पुरूषसता प्रधान समाज में स्त्री शोषण में उजागर करती है। जैसे स्त्री धरती है, वह सहन करती है फिर भी धीरज रखती है और अपनी धुरी पर घुमती रहती है। लेकिन कब तक?''[55] इस प्रकार सुशीला टाकभौरे दलित समाज में पितृसत्ता को रेखांकित करती हैं तो आशा आपराद की आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' में मुस्लिम समाज में व्याप्त पितृसत्ता की जकड़ और उसमें स्त्री जीवन की त्रासदी को अभिव्यंजित करती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं में भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था का यथार्थ उजागर होता है जो भारतीय समाज की संरचना में व्याप्त स्त्री जीवन के विविध आयामों का मूल्यांकन करता है कि पितृसत्तात्मक संरचना वाली किसी भी व्यवस्था में स्त्री एक मानव की पहचान नहीं रखती है बल्कि वह 'मात्र भोग्या' के रूप में जानी जाती है। समाज की सामाजिक व्यवस्था की संरचना ही उस समाज की संस्कृति को भी निर्मित करती है। जिस पर पूरे समाज की नींव खड़ी रहती है। इस आलोक में यदि देखा जाए तो क्या पितृसत्तात्मक समाज की संस्कृति 'पितृसंस्कृति' से अलग कही जा सकती है?

2.3 सांस्कृतिक स्थितिः

संस्कृति मानव जीवन का आधार है। बिना संस्कृति के किसी भी समुदाय या समाज की जिंदगी व्यवस्थित नहीं हुई और न ही हो सकती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य का जीवन सांस्कृतिक कर्मों के बीच घिरा रहता है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन के विविध पहलुओं का सांस्कृतिक पक्ष उभर कर सामने आता है। संस्कृति के विभिन्न तत्वों का स्त्री जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है या पड़ रहा है। तीज–त्योहार, शादी, जन्म, मरण तथा अन्य संस्कार जो भारतीय संस्कृति में मौजूद है, उन सभी का चित्रण स्त्री आत्मकथाओं में है।

वैवाहिक जीवन किसी भी समाज के सांस्कृतिक मूल्यों में से एक हैं। यह मूल्य जीवन का एक ऐसा मूल्य है जिसमें जीवन के तमाम स्वप्नों का तानाबाना को देखा जा सकता है। स्त्री–पुरुष सभी के जीवन में इस सांस्कृतिक जीवन का अपना महत्व रहा है। स्त्रियों के जीवन में तो यह सबसे अहम सांस्कृतिक मूल्य है। जिसके कारण न केवल वह अपने मायका का त्याग करती है बल्कि एक नई जिंदगी में भी प्रवेश करती है। उनमें नई उमंग और नए उत्साह को भी महसूस किया जा सकता है। ऐसी ही अभिव्यक्ति स्त्री आत्मकथाओं में मिलती है। ''उसके जीवन में वह शुभ और नेक घड़ी आने की है, जिसमें अपने अपने कहे जाने वाले घर की ड्योढी पर उसका स्वागत होगा। दीवारों पर ऐपन गेरू से बनी घोड़ी और चांद–सूरज पूजकर देहरी पर अन बिखेरती हुई, जल की बूंदों से महावर भिगोती हुई आंगन में आ खड़ी होगी। देखते ही देखते पायजेब छनकाती हुई दालान में आ जाएगी। झरोखेनुमा खिड़की से झांकेगी वह। बाहर की दुनिया में नीम के हरियल पेड़ पर बैठे नटखट तोतों से बतियाएगी।''[56] अर्थात् किसी भी समाज की संस्कृति में लड़की का बचपन से ही अपनी ससुराल के प्रति एक स्नहमयी भाव देखा जा सकता है। उनमें कई तरह की आकांक्षाएं रहती हैं। जीवन साथी के स्वभाव से लेकर

परिवार के सदस्यों के व्यवहार तक और घर से लेकर बच्चों के भविष्य वह अपने मन में संजोए रखती है। इसी संदर्भ का उल्लेख करती हुई मैत्रेयी लिखती हैं कि अनूठा विश्वास अनोखी निष्ठा। अपने भाग्य के प्रति कृतज्ञ है लड़की। मन ही मन प्राण सखा के साथ जीवन लीला रचती है। आसपास के कोरों पर बेलबूटे खिलाती है। बंजर में रही है मैत्रेयी, घर का अरमान जागा है। फूलों वाला पलंगपोश और 'शुभारामन' का मेज पोश काढ़ लिया है। 'स्वागतम्' लिखा हुआ तकिया पलंग पर रखने की कल्पना से उसका चेहरा लाल हो जाता है। अकेले में मुस्कराती है लड़की। 'फिर भी स्त्रियों के जीवन में वह खुशी नहीं, जिसकी वह कल्पना करती हुई नई जिंदगी में प्रवेश करती है। लेकिन पितृसत्तात्मक सोच के शिकार यह स्त्रियां बीच में ही अपनी इच्छाओं को खत्म कर लेती हैं या उनकी इच्छाओं को पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा खत्म कर दिया जाता है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु स्त्रियां पति की सेवा में लग जाती हैं लेकिन वह उसे पूरा नहीं कर पाती हैं। ऐसा इसलिए भी होता है कि भारतीय संस्कृति उन्हें शिक्षा देती है कि पति परमेश्वर हैं और उनकी आज्ञा का पालन हर हालत में होनी चाहिए। इसी संदर्भ को उजागर करती हुई दिनेशनंदिनी डालमिया 'मुझे माफ करना' में लिखती हैं कि अपने पति की खुशी के लिए स्वयं चंद्रा (उनकी पूर्व पत्नि) बन गई लेकिन वह खुशी उसे हीं मिलती है। उन्हीं के शब्दों में, ''मैंने खुद चन्द्रा बनने का निश्चय किया, इसलिए चंद्रा के स्वभाव की छोटी–छोटी बातें भी, उससे पूछती; और कुछ समय बाद मैं ही चन्द्रा हूं, यह विश्वास मेरे भीतर घर करने लगा।''[57] अर्थात् 'मैं ही चन्द्रा हूं' का भ्रम नहीं या चन्द्रा होना उसके अस्तित्व का अंत नहीं? डालमिया को यह विश्वास क्यों है कि चंद्रा बन जाने के बाद उनका पति खुश हो जाएगा। यह विश्वास उन्हें उनकी संस्कृति देती है। संस्कृति के तत्व ज्ञान, विश्वास, नैतिकता, परम्परा और धर्म आदि तत्वों के संरक्षण की जिम्मेदारी तो सिर्फ स्त्रियों पर है और स्त्रियां ही उसे संभालती हुई, संरक्षित करती हुई आ रही हैं। या यूं कह सकते हैं कि भारतीय स्त्रियों को यह सांस्कृतिक जीवन विरासत में प्राप्त हुआ है, जिसे वह जीती नहीं हैं बल्कि ढोती भी हैं।

धर्म संस्कृति का अंग है। वह हमारी अस्मिता को रचती भी है और रक्षा भी करता है। इस पर सहमति–असहमति हो सकती है लेकिन बाह्य अस्मिता के तौर पर सुरक्षा भी प्रदान करता है। कृष्णा अग्निहोत्री 'लगता नहीं है दिल मेरा' में लिखती हैं कि ''मां दुर्गा ने मुझे संभाला है, मेरी स्नेह–एकांत समर्पित साधना को भी स्वीकारा है। इसलिए मैं अपने सारे व्यवधानों को उसके ही चरणों में सौंप रही हूं, ताकि इस देश की किसी और लड़की को मां सरस्वती की अराधना में सफल होने के लिए इतनी घोर यातनाएं न सहनी पड़ें, मेरी स्मृतियों का गीलापन, रूढ़ियों की पक्की मिट्टी व स्त्री के प्रति सोच को थोड़ा भी ढहा सके तो जीवन के अंत होने की प्रक्रिया में अंत होने पर स्वर्ण शत दलों को देखने का सुखद अहसास होगा।''[58] यानी इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति में देवी दुर्गा और सरस्वती को क्रमशः शक्ति और ज्ञान की देवी कहा जाता है लेकिन क्या वह शक्ति और ज्ञान प्रदान करती है? यदि ऐसा करती है तो सचमुच में स्त्री अबला का प्रतीक क्यों और ज्ञान मार्ग में बाधक के रूप में क्यों जानी जाती है? वहीं प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा का प्रारंभ भी 'सती प्रणाम' से करती हैं। आश्चर्य नहीं तो इस 'सती' को समझने की जरूरत है। भारतीय संस्कृति का एक अर्थ पति की चिंता में समा जाना है। इसे यह भी कह सकते हैं कि पति के प्रति एकनिष्ठ समर्पण। यह समर्पण ही स्त्रियों

के अस्तित्व के लिए संकट पैदा किया है। उन्हीं के शब्दों में, ''सती को प्रणाम! सती मां! तेरा आदर्श मेरे सामने हमेशा रहा, मैंने खुद को उसी परम्परा में ढ़ालने की कोशिश की। मेरे लिए सती का अर्थ था, पति की एकनिष्ठ भक्ति, सूचना समपर्ण, किसी पराए मर्द की ओर अंख उठाकर भी नहीं देखना। लेकिन आज मेरे भीतर की बली हुई स्त्री को प्रणाम। बहुतेरे रूपों में बहुत दिन जी चुकी हूँ।''[59] अर्थात् पति के प्रति एकनिष्ठ भक्ति और समर्पण से बली हुई स्त्री तक का सफर अंततः स्त्री की अस्मिता, अस्तित्व एवं गरिमा का ही अंत है। वहीं 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी आर्यसमाज की संस्कृति का बयान करती है। आर्यसमाज में मूर्ति पूजा नहीं है लेकिन यज्ञ की प्रथा रही है। साथ ही यह भी देखा गया है कि आर्यसमाज का एक सामाजिक पक्ष भी है जो मुख्यतः वैदिक परंपरा ही है और वह समाज सुधार का कार्य करता है। वे लिखती हैं कि ''आर्यसमाजियों वाले हवन–यज्ञ और मन्त्रोच्चार भी कभी नहीं हुए हमारे यहं। पिताजी ने उनका समाजसुधार वाला पक्ष ही अपनाया।''[60] क्या यह संभव है? इस प्रकार स्त्री आत्मकथाओं में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की स्त्रियों के द्वारा किए जाने वाले सांस्कृतिक अनुष्ठान को समझा जा सकता है जो उन्हें 'पितृ' से मुक्त नहीं करती बल्कि बांधती है।

भारतीय समाज की संस्कृति सामासिक संस्कृति है। जिसमें भारत के सभी धर्मावलंबियों का सादर समन्वय स्वरूप देखने को मिलता है। सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' और आशा आपराद की आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' में भारत की इसी सामासिक संस्कृति का परिचय मिलता है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि ''हम लोग ताजुद्दीन बाबा को मानते थे दूर–दूर से लोग बाबा की दरगाह पर चादर चढ़ाने नागपुर जाते थे। हमारे लोगों का अपना कोई धर्म ही नहीं था। हम हिन्दू, मुस्लिम, सिख सभी धर्म के देवी–देवता, पीर–फकीर, गुरू और महापुरूषों मानते थे लेकिन हिन्दू कभी किसी दूसरे धर्म की बातों को नहीं मानते। हम मानते थे मतलब हम हिन्दू नहीं थे। हमें अपना धर्म पता ही नहीं था। भय और भ्रम के साथ हमें हिन्दू बना दिया गया था। हम हिन्दू धर्म मानते हुए अछूत होने के कष्टों का और अपमान का जीवन जी रहे थे।''[61] यानी इससे यह तो स्पष्ट होता है कि भारत में धर्म के नाम पर भेदभाव और शोषण की परंपरा रही है। इसी का अंत सामाजिक संस्कृति में कहा गया है। लेकिन 21वीं सदी में यह धार्मिक भेदभाव और शोषण दिखाई पड़ता है तो उसके अतीत की कड़वी यादों को नकारा नहीं जा सकता है। सच तो यह है कि भारत की संस्कृति सामाजिक संस्कृति को आत्मसात करने की जरूरत है। आशा आपराद भारतीय सामासिक संस्कृति का बयान कुछ इस प्रकार करती हैं, ''हिंदू गली में रहने से हिंदू रीति रिवाज, तीज त्योहार, रूढ़ि परंपरा, चाल ढाल यह सब हमारी भी संस्कृति का एक हिस्सा रहा। जिंदगी जीने का तरीका यही संस्कृति का मूलाधार था।' आगे वे इस सामासिक संस्कृति के प्रेम का उल्लेख करती हुई लिखती हैं कि '' हमारी गली ,यहां के सीधे सादे लोग इनके बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इतना प्रेम, ममता, आधार इन गलीवालों ने हमें दिया। हर एक ने मुझे कुछ न कुछ दिया। इस मिट्टी के लोगों ने जो दिया है वह कभी भी भूला नहीं जा सकता। मेरे अपनों के प्रेम से मैं हमेशा वंचित, दरिद्री रही लेकिन जाति, धर्म, उम्र के परे इन लोगों ने मुझे इतना प्रेम दिया कि मैं प्रेम के बारे में बड़ी अमीर बन गई...। हमारी गली में मुसलमान का एक ही घर था। वह था हमारा। लेकिन किसी भी हिंदू घर ने यह अहसास कभी भी होने नहीं दिया। हर हिंदू घर में तीज–त्योहार में जो भी पकवान बनाते वह

बर्तन में भरकर हमारे घर भेजे जाते। पुरण पोली, रोटी सब्जी, बाजरी के हुंडे, दीवाली का फराल(मिठाइयां) सब कुछ।...हमारे घर पर वर्ष में दो ईद मनाई जाती– रमजान और बकरी ईद। इस वक्त मां खसखस, दूध, सूखा मेवा, पेड़े, गुड़ या शक्कर, सेंवई इनसे बनाया शीरखुर्मा बड़े भगोने में बनाती। भांडे में गोस्त, शोरबा, बिर्यानी ऐसा खाना बनाती। भईजी गली के हर घर में दावत देते। मां आग्रह से बरतती, मेरी सारी सहेलियां खाने और दो तीन शीरखुर्मा पीने आतीं।''[62] अर्थात् अखंड भारत और अखंड मानव की संस्कृति का उदाहरण देती हैं आशा आपराध। जाति–धर्म से परे मानवीय संवदेना को रेखांकित करती हैं, ''यह पनाले का दरगाह हिंदू–मुस्लिम लोगों की एकता के लिए, जिन्होंने अपनी जिंदगी दी उस वली की पवित्र जगह है। इसके जितने बंदे हैं मुस्लिम, उससे ज्यादा हिंदू बंदे(भक्त जन) हैं। आसपास के पंचकोशी से सब जात धर्म के लोग आते हैं। नारियल, मिश्री, अगरबत्ती, पेड़े, मिठाई लेकर बाल बच्चों के साथ दर्शन के लिए आते हैं। मन्नत मांगते।'[63'] अर्थात् भारत की सामासिक संस्कृति है जिसमें सभी अपने पराया का भेदभाव मिटा कर मानवीय संस्कृति को जीते हैं। लेकिन सवाल उठता है कि वर्तमान में भारत यह महान परंपरा और महान संस्कृति का मानवीय पक्ष दिनब दिन गायब क्यों होता जा रहा है? क्यों संस्कृति का प्रतीक राजनीति का शिकार हो रहा है? यह विचारणीय सवाल स्त्री आत्मकथाओं का सांस्कृतिक पक्ष रख रहा है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि विवाह संस्कृति का अहम अंग है। भारतीय संस्कृति में वैसे तो आठ प्रकार के विवाह संस्कार हैं लेकिन मुख्यतः दो रूपों में प्रचलित है–एक परिवार की सहमति से और दूसरा अपनी मर्जी से। जिसे क्रमशः परंपरागत विवाह और प्रेम विवाह कहा जाता है। दोनों विवाह में फर्क सिर्फ इतना ही है कि परंपरागत विवाह में पति–पत्नी के सुख–दुःख में परिवार का साथ होता है लेकिन प्रेम विवाह चूंकि अपनी मर्जी से होता है, इसीलिए इसमें सुख–दुःख की घड़ी में आप स्वयं होते हैं, परिवार का साथ उन्हें नहीं मिलता है। स्त्री आत्मकथाओं में इन दोनों ही विवाह का प्रकरण है। दोनों ही विवाह में विवाह की नैतिकता और विश्वास का अनुखा संगुफन है। स्वयं कई आत्मकथाकारों ने प्रेम विवाह किया है। मैत्रेयी पुष्पा, कुसुम अंसल, सुशीला टाकभौरे को छोड़कर सभी स्त्री आत्मकथाकारों ने प्रेम विवाह किया है लेकिन प्रेम विवाह की मर्यादा विश्वास और नैतिकता को कहीं भी नहीं छोड़ा है। दिनेशनंदनी डालमिया ने डालमिया जी से प्रेम विवाह किया तो उसे हर दुख तकलीफ सहते हुए निभाया भी, कृष्णा अग्निहोत्री ने एक विवाह परिवार की मर्जी से किया और दूसरा अपनी मर्जी से लेकिन दोनों को ही छोड़ना पड़ा परंतु उन्होंने भारतीय संस्कृति में मौजूद विश्वास और नैतिकता को नहीं छोड़ा बल्कि उन्हीं के विश्वास को बार–बार खंडित किया जाता रहा। उन्हीं से पाक और पवित्र होने के प्रमाण मांगे जाते रहे, जिसके चलते उन्हें दोनों पतियों को छोड़ना पड़ा। यह त्याग और समर्पण का मामला पति परमेश्वर और पितृसत्ता की उपज है जिसमें विवाह तो होता है लेकिन प्रेम नहीं, समर्पण नहीं। इन आत्मकथाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह तो पता चलता है कि भारतीय स्त्रियों की जो स्थिति का जो यथार्थ उभरकर आया है। उसमें द्वंद्व की स्थिति लगातार बनी हुई है। यह द्वंद्व परंपरा बनाम आधुनिकता का द्वंद्व है। जिसपर अगले अध्याय में काफी विस्तार से बात की जाएगी।

आधुनिकता और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से उपजी नारी परंपरागत समाज की नारी से बिल्कुल भिन्न है। वह परंपरागत संस्कार को त्याग कर आधुनिक होना चाहती है। इस प्रक्रिया में न केवल भारतीय समाज का सांस्कृतिक मूल्य बदल रहा है बल्कि स्त्री जीवन भी उससे अछूता नहीं है। सभी स्त्री आत्मकथाकार पढ़ी लिखी हैं, वह अपना फैसला स्वयं लेती है। नैतिकता के सामाजिक पक्ष को भी समझती है और अपनी सीमाओं को भी। सहमति–असहमति के साथ स्त्री आत्मकथाओं में सांस्कृतिक नैतिकता का अपना पक्ष उभर कर आया है। सांस्कृतिक आधार पर होने वाले अन्याय–अत्याचार का विरोध भी है वहीं संस्कृति के मूल्य जो स्त्री के विकास में सहायक है का समर्थन भी है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि 'मैं बहकी, बहुत बहकी पर यह सब मेरे व्यक्तिगत मामलों तक ही सीमित रहा। सामूहिक मामलों में मेरी ज़िद और मेरे निर्णय से, मेरी ये ग्रंथियां हारती नहीं। मेरा बहिर्मुख मेरे अन्तर्मुख पर हावी होता रहा। इस परस्पर विरोधी व्यक्तित्व के कारण व्यक्तिगत मामलों में मैं बार–बार पछाड़ खाई और हारी भी, लेकिन इन सबकें बावजूद मेरा बहिर्मुख बार–बार मुझ पर हावी होकर, मुझे उबारता रहा।' वहीं मैत्रेयी पुष्पा पति–पत्नी के भावात्मक संबंध का जिक्र करती हुई लिखती हैं कि संबंधों में प्यार की खोज कितनी बेवकूफी वाली बात होती हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''अच्छा! मैं जान गई कि तुम्हें न उन स्वेटरों की जरूरत थी न उस लगाव की, जिससे मैंने उनका एक–एक फंदा बुना था। सच्ची, हम जैसी लड़कियां भी कितनी बेवकूफ होती हैं, सम्बन्ध में प्यार की गन्ध खोजने लगती हैं। किसी के नाम का महावट मेहंदी लगाकर सोचती हैं, हमारे भावात्मक लगाव के ये चिह्न पति के लिए आस्था, विश्वास और दिल निछावर करने के माध्यम बनेंगे।''[64] अर्थात् कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की लड़कियां जिसे अपना या अपनत्व की भावना से देखती हैं, वह पितृसत्ता का कैसे परवान चढ़ जाता है। यह समझने की जरूरत है। जिन चिह्नों को स्त्रियां या लड़कियां अपने विश्वास और भावात्मक संबंधों के साथ जोड़ कर देखती हैं। वे सभी चिह्न पितृसत्ता की रक्षा करता है और उसी के लिए बना भी है। जिसका सिर्फ पालन स्त्रियों को करना होता है।

भारतीय संस्कृति में लड़कियों को घरेलू कामों की शिक्षा होना पहली प्राथमिकता रहती है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि लड़कियों को घर ही संभालना होता है। कढ़ाई, बुनाई, सिलाई के साथ–साथ घर के अनेकों कामों की शिक्षा उन्हें पहले दी जाती है। कुसुम अंसल 'जो कहा नहीं गया' में इस घरेलु सांस्कृतिक शिक्षा को कुछ इन शब्दों में बयान करती हैं। वे लिखती है कि ''घर को पहली बार 'घर' की हैसियत से देखा। महराज खाना कैसे बनाता है, बुआजी कैसे समय व्यतीत करती हैं, सिलाई–बुनाई करती हैं, मेजपोश चादरों पर फूल काढ़ती हैं। मेरे भीतर 'घर' धड़कने लगा। मेरे पैर रसोई तक जाने लगे, भोजन की विविधता, शरीर की आवश्यकता से अलग स्वाद ने जन्म लिया, मैं कौतूहल से उसे जानने–सीखने का प्रयास करने लगी – मेरे भीतर की शून्यता में 'स्त्री' या 'औरत' का दूसरा पक्ष उभर कर सामने आया जो भीतर की मेरी विद्युत को छू गया था। इस नये प्रकाश में मैं पढ़ने–लिखने की मेज़ से सरक कर बुआ के कमरे में बैठ पूरी दोपहर फूल पत्तियों वाले मेजपोश काढ़ती, बुआजी गुरू बनी सिखाती।'' इन्हीं घरेलू कामों को भारतीय पितृसत्ता आदर्श की शिक्षा की कहती है। आदर्श गृहिनी कहकर गृहलक्ष्मी की उपाधी देती है और भारतीय स्त्रियां इसे मानती चली

आ रही हैं, लेकिन जैसे ही वह आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की दुनिया के संपर्क में आई और उसमें शिक्षित–प्रशिक्षित हुई उनकी प्राथमिकता भी बदलने लगी है। आदर्श के नाम पर स्त्रियों की प्रतिभा को घर की चाहरदीवारी के भीतर रखने की साजिश की जाती है। जिसे अधिकांश भारतीय लड़कियां आदर्श व्यक्तित्व समझकर जीती रहती हैं, जबकि हकीकत में इस आदर्श के बीच उनका शोषण अनवरत चलता रहता है और साथ ही उनके श्रम का मूल्य भी नहीं देना पड़ता है। वे घर की वस्तु, दाय–नौकर बनकर आजीवन काम करती रहती है लेकिन पुरुष घर से बाहर बाहरी कामों के साथ–साथ अन्य स्त्रियों के साथ प्रेमगाथा लिखते रहते हैं। इन गाथाओं का जिक्र भी स्त्री आत्मकथाओं में है। दिनेशनंदिनी डालमिया से लेकर प्रभाखेतान और रमणिक गुप्ता ने इन पुरुषों के बाह्य संबंधों की परख करती हैं और उसके खिलाफ लिखती भी हैं। दिनेशनंदिनी डालमिया 'मुझे माफ करना' में अपने पति के विदेशियों के साथ शारीरिक संबंधों का उल्लेख करती हुई लिखती हैं कि, ''मेरा तो खून पानी हो गया। ऐसा अपमान और शर्म शायद जिंदगी में मैंने पहली बार महसूस की हो। मैं पसीने में नहा गयी, खड़े होने की ताकत ही नहीं रही, पर गिरते–गिरते मैंने नीना से कहा, ''ऊपर टेलीफोन मिला।''[65] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि पितृसत्ता ने कभी भी स्त्री जीवन के मूल्यों को नहीं समझा है और न ही आदर्श और मालिक होने के नाते स्त्रियों को इसे समझने ही दिया है। पत्नी के समाने ही पति (कोई पुरुष) किसी अन्य स्त्री से शारीरिक संबंध बनाए, यह एक स्त्री की 'स्त्रीत्व' का अपमान है। यही पितृसत्ता है जो 'डबल स्टैंड' पर खड़ा है। ऐसी ही घटना का जिक्र 'अन्या से अनन्या', 'और...और...औरत', 'पिंजरे का मैंने आदि आत्मकथाओं में मिलता है। यह पितृसत्ता नहीं तो और क्या? यह इसीलिए भी होता है कि पितृसत्ता जिस सांस्कृतिक नींव खड़ी होती है, उसकी आधारभूत संरचना ही उसे इसकी सीख देती है, जिसमें स्त्रियों को पति के प्रति एकनिष्ठ समर्पण की शिक्षा दी जाती है और पुरुषों को बहुपत्नी की इजाजत देती है। अन्य स्त्रियों के साथ जीवन जीने की खुली छुट देती है। जब तक एक स्त्री–एक पुरुष को मानवी जीवन मूल्य के रूप में विकसित नहीं किया जाता है तक पितृसत्ता का पांव फैलता रहेगा और उसे खत्म करना मुश्किल होगा। लेकिन यह संरचना तैयार करना भी स्त्रियों का दायित्व है, तभी वह संभव भी होगा, अन्यथा पुरुष तो इसकी खुली छुट ले रखा है।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों ने स्त्री चरित्र को खास टाईप बना रखा है। जिसका संबंध स्त्री –पुरुष के शारीरिक संबंधों से जोड़ दिया है। जिस कारण से स्त्रियों के जीवन मूल्यों –स्वंतत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय, गरिमा आदि को न केवल कुचला गया है बल्कि उस आधार पर स्त्रियों को लगातार अन्याय, अत्याचार, शोषण–उत्पीड़न का सामना करना पड़ा है। स्त्री आत्मकथाओं में इस 'चरित्र' और स्त्री जीवन मूल्यों के हनन के विविध पक्षों का प्रकरण उभरकर सामने आया है। जिसका सीधा संबंध भारतीय संस्कृति के विभिन्न रश्मों से हैं। इसी संदर्भ में प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''इस तरफ शादीशुदा औरते थीं। सती–सावित्री, पतिव्रताएं, परम्परा को मानकर चलने वाली, अपने आपको पति के चरणों में रखने वाली। कमोबेश इन सभी स्त्रियों के मूल्य एक जैसे थे, उनकी ताकत का स्रोत उनके पति थे। उनकी गृहस्थी ही उनका कर्मक्षेत्र थी। वहीं लकीर के इस ओर मैं थी, एक दूसरी औरत के रूप में। जिसके पास अपना काम था, बैंक में कुछ पैसे थे लेकिन इन सबके बावजूद समाज की नजर में जो पथभ्रष्ट और अपवित्र थी।''[66] अर्थात् इसका मतलब यह है कि जो स्त्रियां पति पर निर्भर

रहती हैं और जो स्त्रियां आत्मनिर्भर रहती हैं दोनों की सांस्कृतिक मूल्य अलग –अलग हैं और जीवन शैली भी भिन्न है। आत्मनिर्भरता पितृसत्ता को चुनौती देती है वहीं पति–निर्भरता उसका पोषण करती है। उसे सवंर्द्धित करता है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता ने बहुत ही मार्मिक बात कही है कि यह(पति–पत्नि का संबध) कितना व्यवहारिक है और कितना नहीं है। वे लिखती है कि ''वास्तव में आम जनता या कहें सर्वहारा वर्ग, विशेषतया स्त्री–पुरूष के रिश्ते आस्था–विश्वास के साथ उनकी अपनी मजबूरियों की समझदारी पर टिके होते हैं। वे व्यावहारिक होते हैं और व्यावहारिकता प्रायः तर्कसंगत होती है – दिशाहीन नहीं।''[67] अर्थात् रमणिका गुप्ता के अनुसार समाज के किसी भी वर्ग की स्त्रि–पुरुष का रिश्ता आस्था–विश्वास और मजबूरियों की समझदारियों पर टिका होता है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्री जीवन का यथार्थ उनके जीवन का व्यवहारिक पहलू है जिसे उसे हर हालात में जीना होता है। लेकिन समय सापेक्ष परितर्वन भी हुआ है और भारतीय स्त्रियां इसी उम्मीद में जीती है कि एक दिन उनके भी जीवन में बदलाव आएगा।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा भारतीय समाज की सनातनी आर्यसंस्कृति का वहन करती है और उसके बारे में खुलकर लिखती है, ''व्रत–त्योहार एक न छोड़ती – करवाचौथ, शिवरात्रि, जन्माष्टमी ये सभी व्रत रखती; श्रद्धा से जल चढ़ाती, पूजा अर्चना करती। उसी तरह पूरे जोश से आर्य समाज के जुलूसों में जाती। किसी के भी पूछने पर, उनका यही उत्तर था – ''देखो भाई! मेरे मां–बाप सनातनी थे, सो जन्म से संस्कारवश सनातनी हूं। पति आर्यसमाजी हैं, सो मुझे आर्यसमाजी तो होना ही पड़ेगा।'' समाज को चंदा देती थी। पढ़ी–लिखी न होनें पर भी 'ओम भूर्वभवस्य' ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' जैसे कुछ श्लोक उन्हें कंठस्थ थे। हर रविवार को दो–चार आर्य समाजी स्त्रियों के साथ बैठकर हवन करा देती, प्रभातभेरी में भी हिस्सा लेती।''[68] अर्थात् 'पिंजरे की मैना' एक सामान्य भारतीय हिंदू समाज की संस्कृति में स्त्रियों की मानसिकता को रेखांकित करती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चंद्रकिरण सौनरेक्सा अपनी सनातनी संस्कृति का पालन करती है।

भारतीय समाज में लड़कियों की शादी बहुत ही कम उम्र में कर दी जाती है। इसी मानसिकता की वजह से भी आशा की मां उसकी शाादी कर देना चाहती थी। यह भारतीय संस्कृति की वही मानसिकता है जिसके कारण बाल विवाह की धारणा पैदा हुई। इससे समाज में लड़कियों की शिक्षा–दीक्षा तो दूर की बात रही, उसकी शारीरिक क्षमता भी खत्म होती है। आशा आपराद के साथ भी कुछ ऐसा ही होता है। पिता की मृत्यु के बाद तो उसकी जिंदगी के मायने ही बदल गए। वह न पढ़ पा रही थी और न ही घर में उसकी मां उसे पसंद करती थी। जिस कारण से वह मानसिक तौर पर तनाव व पीड़ा झेलती है। ''भई की मौत ने मेरी जिंदगी के सारे संदर्भ ही बदल डाले। खुद की जिंदगी के बारे में सोच सकूं या कोई निर्णय ले सकूं इतनी बड़ी नहीं हूं। मेरा हमदर्द जो मुझे समझ सके, मेरे भविष्य के बारे में सोचे ऐसा मेरा अपना कोई भी इस दुनिया में नहीं। इस ख्याल ने मेरे अन्दर बाहर कुछ ऐसा खालीपन अभाव का भाव भर दिया कि ''कोई हमदम न रहा, कोई सहारा न रहा, हम किसी के न रहे, कोई हमारा न रहा... मेरे घर के माहौल से श्मशान भूमि का माहौल मुझे अच्छा लगता है। लोगों की भीड़ में रहने से अच्छा था मृत व्यक्तियों की प्रेताग्नि के सान्निध्य में रहना। वे तो मरकर जल रहे थे, मैं जीकर जल रही थी। मेरा दिल, इरादे, आशा, आकांक्षा, भाव भावनाएं जलकर राख तो हो ही रही थीं। अब

मेरे लिए मेरी मां जो कुछ कर रही थी वह तो मेरा पिंडदान था। जीते जी कब्र की घुटन मैं महसूस कर रही थी. ...।''[69] अर्थात् इस प्रकार आशा आपराद ने भारतीय संस्कृति और समाज–परिवार के माहौल के संदर्भ में बहुत बड़ा सवाल उठाया है लोगों की मानसिकता पर जो जिंदा रहने पर किसी भी व्यक्ति का ख्याल नहीं रखता है लेकिन मर जाने पर उसका ख्याल कर कर्मकांड के माध्यम से मोक्ष के लिए या सुख–शांति के लिए सारी व्यवस्था या इंतजाम करता है। आशा आपराद लिखती हैं कि ''मुर्दाघाट पर मरे हुए आदमियों के रिश्तेदारों की चहल–पहल रहती । तीसरे दिन का पिंडदान, रक्षा विसर्जन, पूजा पाठ, अस्थिविसर्जन ऐसी विधियां चलती रहतीं। मृतक के जिंदापन में जो जो चीजें उसे पसंद थीं। (खासतौर पर खाने की ही, बाकी दे नहीं सकते।), सब रिश्तेदार ले जाते। मेरा सोचना शुरू रहता, एक मरे हुए व्यक्ति के लिए चीजें बनाकर लाने वाले इन लोगों में से उस व्यक्ति के जिंदा रहते हुए कुछ एक ने उसे प्यार से खिलाया पिलाया होगा क्या? अब इतने अलग अलग रिश्तेदारों ने उसके लिए क्या क्या जमा किया है, उसका क्या फायदा? सिर्फ राख की ढेरी। अर्थात् वहां के कौओं और टेढ़े–मेढ़े मुंहवाले राव्या की बड़ी चंगी व्यवस्था हो जाती। ... कभी कभी सिद्धार्थ नगर में रहने वाले अछूत जाति के लड़के पत्तल उठाकर खेत में ले जाते और खाते।''[70] अर्थात् जिंदा व्यक्ति की कोई खातिरदारी नहीं लेकिन मुर्दा को सभी तरह की खातिरदारी। कैसी विडम्बना है और कैसी विडम्बना है। एक व्यक्ति भूख से मर जाए लेकिन जिंदा रहने के लिए उसे खिलानेवाले कोई नहीं। मर जाने पर तरह तरह के कर्मकांड और ढोंग।

भारतीय समाज की यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि लड़कियों की शादी बिना उनकी इच्छाएं, आकांक्षा आदि समझे बगैर ही कर दिया जाता है। आज इसमें कुछ फर्क आया है। लेकिन उसे बदलाव नहीं कहा जा सकता है। ''मेरी जिंदगी का नयारंभ, अल्लाह का नाम लेकर हुआ, मेरी इजाजत के बगैर। मेरी राय, मेरे विचार, मेरी आशाएं, इरादे, इनके बारे में सोचे समझे मेरी शादी पक्की हुई। मां की नजर में मैं एक बलि का पशु ही तो थी। खुद का अच्छा, भला हो इस इरादे से बलि या कुर्बानी लोग देते तो हैं लेकिन उस वक्त पशु के बारे में उसकी यातनाएं समझने की जरूरत कोई नहीं जानता।''[71] अर्थात् स्त्री जीवन की विडम्बना ही यह है कि जीवन के अहम फैसले में उसकी सहमति नहीं ली जाती है। और पशुओं के समान उसे किसी खूंट से बांध दी जाती है। आशा आपराद शादी की रस्मों को लेकर कई तरह की बातों की ओर इशारा करती हुई लिखती हैं कि '' सेहरे से सजा चेहरा न मैंने देखा न किसी ने प्यार से मुझे निहारा। किसी ने न गले लगाया। सबके प्रेम से वंचित मैं ...बस्स एक शादी की रस्म ने मेरा कुंवारापन छीन लिया और एक लड़की से मुझ पर शादीशुदा औरत का ठप्पा लगा दिया।' शादी विवाह में खुशी का माहौल होता है लेकिन कई बार इसके विपरीत भी स्थितियां होती है लेकिन आशा आपराद लिखती हैं कि विपरीत परिस्थितियां न होती हुईं भी शादी के उस माहौल में एक डर था। उन्हीं के शब्दों में '' शादी का घर लेकिन किसी की मौत का मातम जैसा वातावरण था।''[72] इस प्रकार विवाह जैसे संस्कृति के ऊपर आशा आपराद सवाल करती है, ताकि स्त्री का विवाह उसका जीवनोत्सव बन सके न कि उनकी जिंदगी की विडम्बना।

भारतीय समाज व संस्कृति में विधवा जीवन का सवाल बहुत ही दृष्टि देती है। विधवा को भारतीय संस्कृति के किसी भी आयोजन में सम्मिलित होने की इजाजत नहीं होती है और न ही वह सामान्य स्त्री की तरह जीवन जी सकती है। विधवा जीवन के विषय में शीला इन्द्र 'क्या कहूं क्या ना कहूं' में लिखती हैं कि पिता भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का कितना पालन करते हैं, इसे सहज ही यहां समझा जा सकता है। शीला अपनी दादी के हवाले से विधवा जीवन की दयनीय स्थिति का खुलासा करती हुई लिखती हैं कि '' दादी की मां अपनी बच्ची के दुख से जैसे टूट गई थीं। बेटी के विधवा होने के पश्चात उन्हें अपने माथे पर बिंदी तक लगाना खलता था। मां जितनी स्नेही थी, उनके पिता उतने ही कट्टर विचारों के थे। वे भी डिप्टी कलेक्टर थे और उन्होंने भी उसी बरेली शहर में एक विशाल कोठी बनवाई थी। जब भी बेटी घर आतीं, उसके रंगीन कपड़े उन्हें नहीं भाते थे। कहते, ''यह क्या तमाशा चल रहा है? कुछ उंच नीच हो गई तो नाक तो मेरी कटेगी।''... ''विधवा होकर लाल स्लीपर और मोजे पहने हो, शरम नहीं आती तुम्हें! ससुराल में मेरी नाक कटाओगी? अभी उतारो ये चीजें। विधवाएं मोजे स्लीपर नहीं पहनतीं।''[73] अर्थात् एक बेटी को हमेशा यह उम्मीद रहती है कि उसकी जिंदगी को कोई समझे या ना समझे पिता जी जरूर समझेंगे। लेकिन पितृसत्ता की उस चरम सीमा को तो समझा जा सकता है कि एक पिता को अपनी झूठी शान में बेटी की छोटी सी खुशी नहीं देखी जाती है। पितृसत्ता और विधवा जीवन को जितनी शिद्दत के साथ स्त्रियां समझ सकती है, पुरुष कहां! इसी कारण से स्त्रियों मे विरोध की परंपरा भी अलग रही है। स्त्रियों के विरोध व प्रतिकार करने के भी कई तरीके होते हैं। अपनी बेटी के विधवा जीवन पर उसकी मां कैसी प्रतिक्रिया देती है। यह समझने की जरूरत है। एक पिता द्वारा भी अपनी बेटी की विधवा जीवन के बारे में न सोच कर समाज की झूठी मर्यादा पर मान करना मां को खलता है और वह प्रतिकार करती हुई उसी विधवा जीवन को धारण कर लेती है। शीला इन्द्र लिखती हैं कि ''बिना बोले भी उन्होंने जो किया वह कोई दूसरी नारी हजार बातें करके भी नहीं कर सकती थी। शायद आज के जमाने में भी नहीं। उन्होंने अपने सारे सुहाग चिह्न उतार फेंके। चूड़ियां, बिछवे और मांग का सिंदूर तक पोंछ डाला, ''अगर मेरी बेटी मोजे और स्लीपर नहीं पहन सकती, तो मैं कैसे सिंगार, पटार कर बैंठूं? तुम्हारी पहली बिवी मर गई, छः महीने भी उसका गम नहीं मनाया। मुझे ले आए। मैं मर जाउं तो तीसरी चौथी भी ब्याह लाओगे, पर मेरी नन्हीं सी बच्ची स्लीपर और मोजे नहीं पहन सकती? बाप हो कि कसाई? '' और उन्होंने अपनी रोती हुई बेटी को ससुराल भेज दिया। कम से कम वहां कोई ऐसा कसाई तो नहीं है।...नानी ने अपने सुहाग चिह्न ही नहीं उतारे, वरन पूरी तरह से वैधव्य ही धारण कर लिया था। बिना किनारी की एकदम सफेद धोती, जंपर और बाहर जाने के लिए खड़ाउ। जैसे साधु संन्यासी पहनते हैं, जिनमें अंगूठे और उंगली के बीच खूंटी सी होती हैं। वे स्लीपर या चप्पलें नहीं पहनती थीं। जैसे उस काल की स्त्रियां पहनती थीं। संभवतः यदि उनकी सद्यः विधवा बेटी की ऐसी भर्त्सना एवं अपमान उसी के पिता द्वारा न हुआ होता तो वे ऐसा निर्णय न लेती।''[74] यानी इस प्रकार भारतीय संस्कृति में विधवा जीवन के विविध पक्षों को उजाकर करती हुई शीला इन्द्र समाज में विधवा जीवन की स्थिति का बयान करती है, साथ ही उसके प्रतिपक्ष के स्वरूप को भी सामने लाती है और पितृसत्ता की झूठी शान को भी। इतना ही नहीं शीला इन्द्र भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था की उस संस्कृति को भी

उजागर करती हैं जो स्त्रियों के अस्तित्व को ही खत्म करती है। या यह भी कह सकते हैं कि पितृसत्ता को मजबूत करने वाली संस्कृति का बयान करती है। भातरीय समाज में स्त्रियों को तो सुखद जीवन जीने का अधिकार भी प्राप्त नहीं है। जीवनपर्यंत उन्हें पुरुष पर निर्भर रहने का आर्शीवाद दिया जाता है। जैसे, आयुषमान भवः, सदा सुहागन रहो, दूधो नहाओ पुतो फलो, पुत्रवती भवः, आदि आर्शीवाद भी पितृसत्ता की जड़ है। इस प्रकार भारतीय समाज की संस्कृति की बारीक तंत्रों की पहचान करती हैं स्त्री आत्मकथाएं। भारतीय संस्कृति में व्याप्त असमानता, भेदभाव आदि के कारण ही समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय है, क्योंकि भारतीय संस्कृति स्त्रियों को न पढ़ने की इजाजत देती है, न ही उसे संपत्ति का अधिकार देती है, बल्कि वह उसे घरेलू नारी की शिक्षा देती है, जिसमें पतिपरमेश्वर और पिता सर्वशक्तिमान है। वंश का बेल पुत्र होता है। यहीं से लड़कियों का अस्तित्व खत्म होने लगता है साथ ही वह सम्पत्ति का अधिकार भी खोने लगती है, भले ही यह अधिकार उसे भारतीय संविधान से मिलता है लेकिन व्यवहार में ऐसा नही ंके बराबर होता है। संपत्ति के अधिकारहीनता को स्त्री आत्मकथाओं में सहज समझा जा सकता है।

आधुनिक युग में अर्थ की प्रधानता बहुत तेजी बढ़ी है। अर्थ के कारण न केवल समाज की संरचना बदली है बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों के साथ जीवन के सभी पहलुओं में बदलाव को देखा जा सकता है। अर्थ के अभाव में यह भी देखा गया है कि न केवल भूख से तड़पती है बल्कि पेट की आग को शांत करने के लिए स्त्रियों को अपनी अस्मिता को खोना पड़ा है। यह तो न केवल नारी जीवन की विडम्बना है बल्कि भारतीय समाज की त्रासदी कही जाएगी कि एक स्त्री को भूख की रोटी के लिए अपनी अस्मिता बेचनी पड़ती है। स्वतंत्रता के बाद आर्थिक पहल ने स्त्री–पुरुष संबंधों में भी बदलाव किया है। या यूं कह सकते हैं कि आर्थिक उपार्जन ने स्त्री–पुरुष संबंधों में परिवर्तन किया है। अपनी भोगी हुई जिंदगी की आर्थिक समस्याओं का चित्रण यदि आत्मकथाओं में दिखाई पड़ता है तो उसका कारण है कि अर्थ की दुनिया ने उनकी जिंदगी के मायने में स्वभाविक रूप से परिवर्तन किया है। इसलिए जब पुष्पपाल सिंह 'समकालीन कहानीः सोच और समझ' में लेखन में स्वतः व्यक्त होने वाली भोगी जिंदगी के आर्थिक पहलुओं के विषय में लिखते हैं तो वह स्वाभाविक होने वाले परिवर्तन को बता रहे होते हैं। वे अर्थ के कारण होने वाले बदलाव को रेखांकित कर रहे होते हैं। जिसके कारण से स्त्री–पुरुष संबंधों में बदलाव को देखा जा सकता है। चाहे वह गांव हो या शहर या महानगर। सभी जगह यह बदलाव देखा जा सकता है। यहां तक कि राजनीति समस्याओं और संबंधों में भी इस आर्थिक पहलुओं को देखा जा सकता है। पारिवारिक संबंध भी इससे अछूता नहीं है। स्त्री आत्मकथाओं में इस बदलाव को सहज ही देखा जा सकता है।

किसी भी युग का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध होता है। समाज के इन विभिन्न पार्श्वों को अभिव्यक्ति प्रदान करके ही कोई साहित्यकार अपने युग का यथार्थ लिए प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। अस्तित्व की लड़ाई के लिए संघर्षरत यह मध्यवर्ग हमारे सामाजिक ढांचे की रीढ़ है। अर्थ जीवन का महत्वपूर्ण आधार है। आर्थिक समपन्न वर्ग दम्भी, अनाचारी, असहिष्णु, अनुदार दिखाई

देता है, वहीं मध्यवर्ग प्रदर्शन प्रिय, स्वार्थी, और आर्थिक कठिनाइयों को झेलता दिखाई देता है तथा निम्नवर्ग मध्यवर्ग और उच्चवर्ग की अनुदारता, शोषण और उपेक्षा का दंश झेलने के साथ–साथ आर्थिक विपन्नता की विवशता से हताश चित्रित हुआ। स्त्री आत्मकथाओं में 'अन्या से अनन्या' की प्रभा खेतान एक उद्योगपति, 'एक कहानी यह भी' की मन्नू भंडारी लेक्चरर, 'लगता नहीं है दिल मेरा' की कृष्णा अग्निहोत्री प्रध्यापक, 'पिंजरे की मैना' की चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'आकाशवाणी' में नौकरी करती हैं। इन स्त्रियों की आर्थिक स्थिति अच्छी कही जा सकती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की स्थिति सामान्य है लेकिन वे भी आर्थिक व चेतना दोनों स्तर पर संपन्न हैं। आर्थिक स्थिति पर ही सामाजिक स्थिति निर्भर करती है। 'हादसे' और 'आपहुदरी' की रमणिका एक विधायक बनती हैं, तो 'शिकंजे के दर्द' की आत्मकथाकार सुशीला टाकभौरे एक प्रध्यापक हैं। आशा आपराद एक प्रतिष्ठित शिक्षका हैं।

2.4 राजनीतिक स्थिति

आजादी के साथ ही भारत वर्ष की राजनीति एक अजीब विडम्बना का शिकार है। जिसे प्रेमचंद 'जॉन की जगह गोबिंद' की उपाधि देते हैं। राजनीति शक्ति सामाजिक परिस्थिति में बदलाव का कारक है। स्वाधीनता के बाद परिस्थितियां कुछ ऐसी बनीं कि आज तक भारतीय समाज में स्त्रियों को समुचित राजनीति शक्ति हासिल नहीं हुई है। इस शक्ति को हासिल करने में स्त्री लेखन के माध्यम से बदला जा सकता है। लेकिन आजकल यह भी मुश्किल है। परंतु, वर्तमान में प्रेमचंद का वह कथन 'साहित्य राजनीति के आगे चलने वाला मशाल है' विपरीत साबित होता दिखाई दे रहा है। वर्तमान राजनीति और उसका 'समीकरण–अधिसंरचना' साहित्य को नियंत्रित कर रहा है। स्त्री आत्मकथाओं में भारतीय राजनीति और साहित्य की राजनीति दोनों को समझा जा सकता है।

साहित्य और राजनीति का अद्‌भुत अनोखा संबंध रहा है। इसमें साहित्या राजनीति को रास्ता दिखाता है। मन्नू भंडारी अपनी आत्मकथा में साहित्य और राजनीति के संबंधों को कुछ यू रेखांकित करती है। वे लिखती हैं कि '' मैं किसी पंथ से न तब जुड़ी थी, न बाद में– मेरा जुड़ाव अगर रहा है तो अपने देश से, चारों ओर फैली बिखरी जिंदगी से, जिसे मैंने नंगी आंखों से ही देखा है, बिना किसी वाद का चश्मा लगाए। और मेरी रचनाएं इस बात का प्रमाण है।''[75] अर्थात् जिस बेबाकी के साथ एक साहित्यकार की निष्ठा से राजनीति से अलग और देश की परिस्थितियों, हालातों को रेखांकित करती है। वह निश्चय की अनुभव और ईमानदारी का रेखांकन है। यही वजह है कि रंगरेज बाबा वाले प्रकरण में वे अपनी आत्मवेदनानुभूति को व्यक्त करती हुई उसे पाकिस्तान जाने के साथ सवाल करती है। और वह कहता है कि भला कोई अपनी मां को छोड़कर जाता है। अपनी माटी से अलग होता है। निश्चय ही यह रेखांकन उनके कथन को सही साबित कर जाता है। जहां राजनीति नहीं लेकिन एक लेखक की, एक मानव की अनुभूति बोलती है। इसी के साथ वे अपनी परेशानी भी बताती हैं कि ''मेरी परेशानी का कारण तो यह था कि हमारी कलम से जो भी शब्द निकलते हैं, विशेषकर सृजन के संदर्भ में, उनके पीछे हमारे विचार, हमारे विश्वास, हमारी आस्था, हमारे मूल्य, कितना कुछ तो निहित रहता

है, तब 'मुनादी' जैसी कविता लिखने वाली कमल एकाएक कैसे यह कविता लिख पाई?''[76] अर्थात् किसी भी व्यक्ति का अपनी मातृभूमि के लगाव और उसकी आत्मयीता को रचनात्मक स्वरूप देकर समाज और राष्ट्र के बीच नफरत और खाई को समाप्त किया जा सकता है जो मानव को मानव से अलग करती है। वस्तुतः यह एक लेखक की रचनात्मक सामाजिकता है और उसकी प्रतिबद्धता भी। यही सामाजिकता और प्रतिबद्धता साहित्य को राजनीति से अलग करती है। अन्यथा दोनों का लक्ष्य तो समाज का विकास ही है, लेकिन आज की राजनीति की यह विडम्बना कि वह 'जन से दूर सिर्फ तंत्र की व्यवस्था' बनती जा रही है।

जब साहित्यकार जनता से दूर होने लगता है तब साहित्य की विश्वसनीयता भी घटने लगती है और राजनीति साहित्य को दरकिनार करने लगता है। जबकि यथार्थ में ऐसा होता नहीं हैबल्कि वह सत्ता का एक भ्रम भी होता है। साहित्य राजनीति को कभी भी मात दे सकता है। लेकिन मन्नू भंडारी जनसरोकार की प्रतिबद्धता को रेखांकित करती हुई यह कहना चाहती है कि कैसे वह सत्ता की तारीफ में कलम चलाने लगे। इसी से जनता की वकालत साहित्य में नदारद होती चली गई। सत्ता के साथ लेखकों की जमात की सहमति को लेकर मन्नू भंडारी हमेशा चिंतित रही है। इस कारण से लेखकों की कथनी– करनी में जो फर्क आया है वह चिंता की बात है।

मन्नू भंडारी ने इंदिरा गांधी की निमर्म हत्या और उसके बाद की घटनाओं का तटस्थता के साथ वर्णन किया है। यह घटना कैसे घटित हुई और उसके क्या कारण रहे हैं आदि की तलाश करती हुई मन्नू भंडारी ने उससे जुड़े जश्न और गम दोनों को चित्रित किया है। उन्हीं के शब्दों में, ''पूछिए इनसे कि क्या करते रहे ये लोग? सारी रात भांगड़े हुए हैं– शराबें उड़ी हैं, दीए जले हैं, आतिशबाजी होती रही। हमारी मां को धोखे से मारकर ऐसा जश्न मनाया है इन लोगों ने तो साहब हमारी रगों में भी पानी तो नहीं ही बहता–बर्दाश्त से बाहर हो गई तो आ गए गांव से सारे लोग और ठिकाने लगा दिया। यही होना था इन लोगों के साथ।' ... तो दूसरी ओर इन दंगों का शिकार हुए सिखों की मर्मांतक पीड़ा, यातना! एक बुर्जुग सरदार के पथराए चेहरे से फूटे ये दागते से सवाल, – कितनी बार हम उजड़ेंगे और कितनी बार बसेंगे? जिस बाप की आंखों के सामने उसके तीन–तीन जवान बेटों को साफों से बांधकर जिंदा जला दिया गया हो, उसे तुम्हारी चाय सुकून देगी।''[77] यानी राजनीति का यह चेहरा जो समाज में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देता है जिसके कारण भारतीय समाज लगातार इस सांप्रदायिकता की आग में झुलसता रहा है। यह किसी भी समाज की राजनीति की विडम्बना ही कही जा सकती है।

देश विभाजन के समय अजमेर के मुस्लिम रंगरेज वाला प्रसंग मन्नू भंडारी की उस सहृदयता और उदारता का परिचायक है जो एक ओर जहां विस्थापितों की पीड़ा से सहज ही पसीज जाती है तथा दूसरी ओर जो धर्म, जाति, रंग और वर्ग के भेदों से परे हर देशवासी के देश प्रेम के जज्बे को नमन करती है तथा जो शातिर राजनीतिज्ञों की कपटपूर्ण नीतियों के अमानवीय स्वरूप को बखूबी समझती बूझती हैं। वे लिखती हैं कि '' सिर पर बैठे हुक्मरान सनक में लिपटे अपने अहं की तुष्टि के लिए सरहदों को जब जोड़ते, तोड़ते, घटाते और

बढ़ाते रहते हैं तो क्या एक बार भी उन्हें अपनी जमीन से जुड़े अपनी जमीन को जान से भी ज्यादा प्यार करने वाले लोगों का ध्यान नहीं आता?''[78] अर्थात् मन्नू भंडारी राजनीति की विडम्बना को रेखांकित करती है जो राजनीति के लिए देश और माटी के लोगों के बीच विभाजन की रेखा खींचता है। देश की जनता को उनकी माटी से अलग रखने की साजिश रचता है।

इस भूमंडल में भारत की छवि किस प्रकार की है और क्यों हुई की गहरी समझ मन्नू भंडारी को है। वे अपने इतिहासबोध के आधार पर देश की छोटी –बड़ी सभी घटनाओं पर नजर रखती है। एक बार जर्मनी में 1984 सिख दंगों को लेकर सवाल के जवाब में वे लिखती है कि '' जिस देश में नाजियों द्वारा लंबे समय तक चलने वाली गैस चम्बरों की निहायत क्रूर, अमानवीय और बर्बर हिंसा का इतिहास दबा पड़ा हो, वहां मुझसे यह प्रश्न पूछा जा रहा है?''[79] अर्थात् इस प्रकार मन्नू भंडारी के राष्ट्रप्रेम को समझा जा सकता है और स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को भी। जिन लोगों के मानस में यह है कि स्त्रियां आत्मकथाएं लिख कर घर, समाज और राष्ट्र की छवि को खराब कर रही है तो उसे एक भूल ही कहा जा सकता है जो पितृसत्ता को पुष्ट करता है। परिवार, समाज और राष्ट्र के विकास के साथ छलावा ही करता है। इसी के साथ वह विदेश में अपने समाज व राष्ट्र के अभिमान को जिंदा रखती है। यथार्थ को बयान करती हुई राष्ट्रीय अस्मिता को कभी नहीं भूलती हैं। निश्चय ही यह राष्ट्रप्रेम ही है लेकिन यह भी विचारणी प्रश्न यह है कि राष्ट्रप्रेम के नाम पर समाज के यथार्थ को छिपाना क्या उचित कहा जा सकता है?

राजनीति की क्षेत्रीयता या क्षेत्रीयता के नाम पर हो रही भाषाई अस्मिता की राजनीति को स्त्री आत्मकथाओं में जगह मिली है। अन्या से अनन्या' में इस क्षेत्रीयता–भाषाई राजनीति के कारण समाज में फैल रही नफरत को उजागर करती हुई प्रभा खेतान बंगाल की धरती पर मारवाड़ियों की जिंदगी की व्यथा को भी बयान करती है। बंगाली समुदाय उन्हें मेड़ों कहकर चिढ़ाता है और घृणा की दृष्टि से देखता है। तुम मारवाड़ियों के कारण हमारा बंगाल खाक हो गया, तुम तो बाहर से आए हो। लोटा कंबल लेकर आए और हमारे बंगाल को लूट लूटकर इतनी इतनी बड़ी मिल्कियत खड़ी कर ली, हमारे सोनार बांग्ला को पहले अंग्रेजों ने लूटा और अब मारवाड़ी लूट रहे हैं। जैसे वाक्यों में यही घृणा व आक्रोश व्यक्त हो रहा है । दूसरी ओर मारवाड़ियों का व्यवहार भी कुछ खास उदारवादी न था। वे अपने में सिमटे हुए थे भात मछली खाने वाले बंगालियों को आलसी मानते थे और उनके साथ रोटी बेटी के संबंध के खिलाफ थे। लेकिन जब वह प्रदेश जाते हैं तो यानी विदेश तो उन्हें अपने देश की विविधता और उनमें रचीबची एकता दोनों को वह याद करती हैं। यानी सामाजिक विविधता के बावजूद भी उसमें एकता का सूत्र निकाला जा सकता है। निश्चय ही यह भावना देश हित में तो नहीं कही जा सकती है। इससे समाज में जहां विस्थापन की प्रक्रिया का दंश बढ़ता है वहीं हाशिएकरण के कारण अल्पसंख्यक समाज का अस्तित्व संकट में घिर जाता है। इसी को दर्ज करती हुई प्रभाखेतान लिखती है कि पहचान का संकट विस्थापन के कारण उपजा क्रूर यथार्थ है। अपने हाशियाकरण के कारण अल्पसंख्यक इस संकट से जूझने को विवश है। इसलिए वे लिखती हैं कि ''पौधा अपनी ही जमीन पर उगता है।''[80] अर्थात् अपनी माटी और

अपना देश सभी को प्यारा लगता है लेकिन क्या किसी कारण या परिस्थितिवश विस्थापित किसी मानव समुदाय के साथ भेदभाव करना उचित है? निश्चित ही यह राजनीति मसला हो सकता है लेकिन इसका सामाजिक निराकरण भी संभव है।

राजनीति में बाहुबली, सामाजिक वर्चस्व और ब्राह्मणवादी सोच कितने गहरे तक व्याप्त है। या यूं भी कहा जा सकता है कि वर्तमानमें राजनीति का अर्थ बदल गया है। इन सोच और बदले हुए अर्थ को रमणिका गुप्त ने 'हादसे' और 'आपहुदरी' में बहुत ही बारीक ढंग से व्यक्त किया है। वह स्वयं एक विधायक रही हैं। राजनेता रही हैं। प्रत्यक्ष रूप से स्त्री अधिकार और स्त्री प्रतिनिधित्व का सवाल रमणिका गुप्ता की आत्मकथाओं में व्यक्त है तो मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान की आत्मथाओं में राजनीति का स्वरूप मानवीय संकट और देश प्रेम के साथ उभर कर आया है। राष्ट्रीय भाषा के सवाल के साथ आया है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि राजनीतिक सत्तातंत्र में आज भी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व बहुत कम है जो है भी वह स्त्री अधिकारों को संपूर्णता में उठाने में सक्षम नहीं है। जबकि आज उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है। हमारे देश में आजादी के साथ ही स्त्रियों को राजनीतिम अधिकार प्राप्त है जिसको के लेकर कोई कारगर आंदोलन नहीं हुआ है। सुशीला टाकभौरे ने दलित स्त्रियों के अधिकार के संदर्भ में 'गांधी और डॉ अम्बेडकर' की विचारधारा एवं उसकी राजनीति के उद्देश्य का वर्णन जरूर करती है लेकिन क्या डॉ. अम्बेडकर की 'हिदू कोडबिल' की राजनीति को भारतीय स्त्री आंदोलन में जगह मिली है?

2.5 आर्थिक स्थितिः

विदित है कि स्त्रियों की दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था व मानसिकता तथा स्त्रियों को संपत्ति से बेदखली है। यह स्थिति तब शुरू होती है जब सत्ता–संपत्ति का संघर्ष शुरू होता है। इसका अपना एक इतिहास है। यह इतिहास सामाजिक संरचना की निर्मिति के साथ ही बनने लगता है। जिसमें शोषक वर्ग अपने शौर्य का इतिहास तो लिखता है लेकिन मेहनतकश जनता को उससे बाहर रखता है, क्योंकि इतिहास जो देश, समाज के विकास और तरक्की का, सभ्यता और संस्कृति का धरोहर होता है जिसमें अतीत की घटनाओं के साथ–साथ वर्तमान से रू–ब–रू होने तक और भविष्य निर्माण की संभावना तक, सभी प्रकार के टूल्स होते हैं, के ख्याल से कभी लिखा ही नहीं गया। लिखा गया तो सिर्फ और सिर्फ राजाओं के युद्ध की घटनाओं का वर्णन करने के लिए। यहीं पर आकर इतिहास लेखन एक खास मानसिकता का शिकार हो जाता है। स्त्रियों का इतिहास भारतीय समाज में नहीं मिलता। लेकिन आज इतिहास का रूख बदल रहा है। मानव सभ्यता के इतिहास में स्त्रियों के इतिहास का न होना, उसे जबरन शिक्षा और संपत्ति के अधिकार के साथ–साथ मानवाधिकार से वंचित करना था। स्त्रियों को उनके मानवाधिकारों से वंचित रखा है। और यहीं से उत्पीड़न और दासता की कहानी का इतिहास शुरू हो जाता है। यह इतिहास जितना ही पुराना है शोषण और गुलामी का इतिहास भी उतना ही पुराना है। इसलिए यह कहना एकदम सही है कि ''स्त्रियों के उत्पीड़न और दासता का इतिहास उतना ही पुराना है जितना असमानता और उत्पीड़न पर आधारित सामाजिक संरचनाओं के

उद्‌भव और विकास का इतिहास ।''[81] यानी कि स्त्रियों की दयनीय जिंदगी का इतिहास असमानता व विषमता परक सामाजिक संरचनाओं के साथ ही शुरू होता है।

इतिहास गवाह है कि निजी संपत्ति के अधिकार ने ही मानवीय मूल्यों का हनन सबसे ज्यादा किया है। ''निजी संपत्ति पर आधारित सामाजिक संबंधों संस्थाओं मूल्यों के अस्तित्व में आने के साथ ही स्त्री समुदाय की दासता की शुरूआत हुई। पूंजीवादी समाज में मेहनतकश स्त्रियां निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम होने के साथ ही यौन आधार पर शोषण–उत्पीड़न का शिकार होती हैं और संपत्तिशाली वर्गों की स्त्रियां भी सामाजिक श्रम से कटी हुई या तो घरेलू दासता और पुरूष के बोझ से दबी हैं या फिर बुर्जुआ समाज में स्त्रियों के लिए आरक्षित कुछ खास अपमानजनक पेशों में लगी हुई पुरूष स्वेच्छाचारिता की शिकार हैं। वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तकों ने परिवार संस्था के नारी विरोधी चरित्र के तमाम आदर्शीकरण को छिन्न भिन्न करते हुए पूंजीवादी समाज में विवाह को नैतिक वैधिक मान्यता प्राप्त संस्थाबद्ध वेश्यावृत्ति करार दिया और घरेलू गुलामी को स्त्री प्रश्न का बुनियादी संघटक तंतु बताया।''[82] अर्थात् भारत में इस व्यवस्था की परंपरा लगभग वैदिक काल में शुरू हो जाती है। वैदिक परंपरा के ब्राह्मणवादी विचार ने सामाजिक नियमन का बहाना बनाकर स्त्रियों पर अनेक विषमता पूर्ण अमानवीय नियम थोप दिए। इसी व्यवस्था के कारण स्त्रियां न केवल मानसिक रूप से बल्कि शारीरिक रूप से भी गुलाम हो गयी। देश, समाज, परिवार के विकास लिए परिवार, समाज और देश में स्त्री–पुरूष का सहसंबंध एवं समसंबंध–सहभागिता का होना अनिवार्य है। इसके लिए स्त्री का किसी भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था से मुक्त होना जरूरी है। उसी की मुक्ति में समाज की मुक्ति है। इस मुक्ति के क्रम में जहां एक तरफ स्त्री शिक्षा अनिवार्य है जो पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था से अलग जिसकी चर्चा पंडित रमाबाई अपनी पुस्तक 'हिंदू स्त्री का जीवन' में करती है वहीं दूसरी को स्त्री को आत्मनिर्भर होना बहुत जरूरी है खास कर आर्थिक आत्मनिर्भरता। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन के दुखद पहलुओं को यदि किसी भी प्रकार से समझा जा सकता है तो वह है उसकी आर्थिक निर्भरता। आर्थिक निर्भरता ने स्त्री जीवन को कितना कठिन या दुर्गम बनाया है यह स्त्री आत्मकथाओं में सहजता से महसूस किया जा सकता है। यही कारण है सभी स्त्री आत्मकथाकारों ने स्त्री मुक्ति के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता को अनिवार्य पहलू के तौर पर समझा है और उसे रेखांकित किया है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में न केवल आर्थिक गुलामी से मुक्ति की कामना ही नहीं की है बल्कि आत्मनिर्भर न हो सकने की स्थिति में; न तो उनमें आत्मविश्वास ही पैदा होता है और न ही वह आत्मनिर्णय की ही स्थिति में होती है। ऐसी स्थिति में स्त्री का जीवन विषम परिस्थितिओं में घिरी नजर आती है। इसलिए यह अक्सर देखा गया है कि जो स्त्रियां आत्मनिर्भर है, जो आत्मविश्वासी है, जो आत्मनिर्णय लेने की स्थिति है या जो लेती है, उन स्त्रियों का शोषण बनिस्पत उन स्त्रियों की अपेक्षा कम होती हैं जो न आत्मनिर्भर हैं, न ही आत्मविश्वासी और न ही आत्मनिर्णय लेती हैं। कई बार इन आत्मकथाओं में यह भी देखा गया है कि इन तीनों ही भूमिका में होने के बावजदू भी स्त्रियों के शोषण, उत्पीड़न या उसकी गुलामी के जीवन का अंत नहीं होता है। वैसी परिस्थितियों में यह देखा गया है कि वहां सामाजिक मानसिकता या उसकी सांस्कृतिक

वातावरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रहती है। दिनेश नंदिनीडालमिया से लेकर आशा आपराद की आत्मकथाओं में विहंगम दृष्टि से यह सहज देखा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से सबल और आधुनिकता की उपज स्त्रियां भी सामाजिक–सांस्कृतिक संस्कारों से घिरी या बंधी स्त्रियों का जीवन भी कई विषम या दुखद पहलुओं के बीच गुजरा हैं।

कुसुम अंसल, दिनेशनंदिनी डालमिया, मैत्रेयी पुष्पा ऐसी आत्मकथाकार हैं जो नौकरी–पेशा में नहीं है, आरंभ में तीनों ही आर्थिक रूप से अपने पतियों पर निर्भर रही हैं और प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष उनकी ज्यादातियों को सहन भी करती है। ये तीनों आत्मकथाकार अन्त तक अपने पतियों के साथ रह रही हैं और लेखन के माध्यम से अपनी पहचान तो बना चुकी हैं। आर्थिक प्रलोभन का जिक्र दिनेशनंदिनी डालमिया ने इस प्रकार किया है, "धन के कलियुगी कृत्रिम आलोक के नीचे दबकर, आत्मा के जन्म–सिद्ध अधिकार भी खत्म हो जायेंगे। मैं और मेरा आज तक जो कुछ भी हैं, वह सब मर जायेगा, मिट जायेगा और संगमरमर बिछे हुए, पैर रखते ही हाथ भर नीचे धंस जाने वाले पर्शियन कालीन पर रखी हुई हाथी दांत चौकी पर मेरा पुनर्जन्म होगा।"[83] अर्थात् आर्थिक आधार पर मानसिक गुलामी को स्थापित करने की बात की जाती है। क्योंकि मानसिक गुलामी न मुक्त होने पर आर्थिक गुलामी का कोई आधार नहीं रह जाता है। इसलिए मुक्ति मानसिक और आर्थिक दोनों ही तरह की होनी चाहिए तभी सशक्त परिवार और समाज बनाया जा सकता है।

आर्थिक रूप से सशक्त होने के बाद प्रभा खेतान में आत्मविश्वास तो था लेकिन उसका प्रेमी डॉ. सर्राफ यह बदार्शत नहीं कर सका। प्रभा खेतान लिखती हैं कि "जिन बातों को, जीवन की अपनी जिन कमियों को मैं पहले सहन कर लेती, अब नहीं कर पाती थी। क्योंकि मैं सशक्त और दबंग होती जा रही थी। मेरा आत्मविश्वास बढ़ता जा रहा था। डॉक्टर साहब का कहना था – "तुम पुरुष होती जा रही हो। तुम ज्यादा हिसब–किताब करती हो, दिन–रात अपने काम में उलझी रहती हो।" और अन्त में सारी कड़वाहट उड़ेलकर वे ताना देने से नहीं चूकते ... हां भई! पैसा जो कमा रही हो।" लेकिन इस पैसे में से एक तिहाई आपके पास भी जाता है।" "मुझे सुनाओ मत, थूकता हूं तुम्हारे पैसे पर।"[84] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जब प्रभा खेतान में चेतना आई तो उन्होंने पुरूषवादी मानसिकता का न केवल विरोध की बल्कि पितृसत्तात्मक वर्चस्व को कायम करने वाली उस आर्थिक व्यवस्था को, जिसके कारण स्त्रियां पीढ़ी दर पीढ़ी गुलाम बनी रहती हैं, का विरोध भी करती हैं।

आर्थिक रूप से मजबूत होने पर भी समाज में औरत को वो इज्जत नहीं मिलती जो एक पुरुष को मिलती है। सुशीला टाकभौरे ने जब अपने कमाये पैसे से घर अपने नाम से खरीदने का निश्चय किया तो उनके पति ने दलील दी – "मेरे रहते फ्लैट तुम्हारे नाम से खरीदा जायेगा यह मेरे लिए शर्म की बात है। पति ही घर का मुखिया होता है। आदमी ही प्रापर्टी का मालिक होता है। मेरे रहते ऐसा नहीं हो सकता कि फ्लैट तेरे नाम पर खरीदा जाये। जमीन–जायदाद के काम से बार–बार ऑफिस में जाना पड़ता है। यह तुम नहीं कर पाओगी। फ्लैट मेरे ही नाम पर खरीदने दो।"[85] इस प्रकार यह तो साबित हो ही जाती है कि पुरुषवादी मानसिकता यह

कभी नहीं चाहती है कि जिस आर्थिक निर्भरता के कारण स्त्रियां उसकी गुलाम बनी रहती है। उसके विश्वास को तोड़ा जा सकता है। उसे लाचार बेबस और बेघर किया जा सकता है। वह शक्ति उनके हाथों से खिसक जाए। इसी कारण से सुशीला टाकभौरे के पति यदि उसके नाम फ्लैट नहीं खरीदते हैं और सामाजिक हैसियत का जिक्र करते हुए पितृसत्ता की ताकत को मजबूत करता है। इसे भी स्त्री मुक्ति आंदोलन के संदर्भ में समझने की जरूरत है। साथ ही यह भी समझा जा सकता है कि स्त्री को गुलाम बनाने में उसकी आर्थिक पंगुपन खास भूमिका निभाती रही है।

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री मुक्ति के सवाल उठाए गए हैं वो आधुनिक समाज की सबसे ज्वलंत समस्या है। सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति, पितृसत्ता से मुक्ति, धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति और आर्थिक गुलामी से मुक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक समाज में स्त्रियों की स्थिति में कोई आमुलचूल परिवर्तन की संभावना नहीं बनती है। सभी मुद्दों को स्त्रियों ने अपनी आत्मकथाओं में बड़ी सिद्दत के साथ उठाया है। इस संदर्भ में सीमोन द बाउवर ने बहुत ही सही कहा है कि, "एक ऐसी दुनिया, जिसमें स्त्री पुरुष के अधिकार समान हों, अब हमारे सोच और चिंतन का मुख्य विषय है। सोवियत रूस इसका प्रमाण है, जहां स्त्री और पुरुष को एक ही तरह का काम करना पड़ता है। यदि स्त्रियां अधिक शक्ति की मांग करने वाले कार्य नहीं कर सकतीं तो ऐसी स्थिति कई पुरुषों की भी होती है। पुरुषों में भी अलग–अलग मानसिक तथा शारीरिक क्षमताएं होती हैं जिनके कारण खुली संभावनाओं का चुनाव उनके भी जीवन में सीमित हो जाता है। मैं यहां केवल यह कहना चाहती हूं कि केवल इस जैविक भिन्नता के आधार पर स्त्री और पुरुष का दो वर्गों में विभाजन तर्कसंगत नहीं लगता।"[86] अर्थात् शारीरिक क्षमता के आधार पर अलग अलग काम किया जा सकता है। उसके आधार पर न तो काम को बांटा जा सकता है और न ही उसकी मजदूरी को। एक समान काम एक समान वेतन और एक ही समय निर्धारित किया जा सकता है। इसे स्त्री और पुरुष के रूप में विभाजन करके देखना ही गलत है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने आर्थिक गुलामी से मुक्ति का सवाल अपनी आत्मकथाओं में उठाई हैं। दिनेशनंदिनी डालमिया "मुझे माफ करना" में लिखती हैं कि आर्थिक रूप से अपने पति पर आश्रित होने के कारण उन्हें कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ा। कुसुम असंल के पति बहुत बड़े उद्योगपति हैं लेकिन फिर भी कुसुम असंल आत्मनिर्भर बनती हैं, कृष्णा अग्निहोत्री के पहले पति एस.डी.एम. दूसरे सैशन जज हैं लेकिन उन्होंने नौकरी की और अपना लेखन कार्य जारी रखा, पद्मा सचदेव व चन्द्रकिरण सौनरेक्सां ने भी नौकरी व आत्मनिर्भरता पर जोर दिया है। मन्नू भंडारी व सुशीला टाकभौरे ने अपने परिवार का आर्थिक भार स्वयं उठाया और स्त्री को आत्मनिर्भरता की तरफ अग्रसर होने का संदेश दिया। रमणिका गुप्ता अपने बलबूते पर विधायक के पद पर पहुंची। सभी स्त्री आत्मकथाकारों ने स्त्री मुक्ति के सवालों में आर्थिक गुलामी से मुक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है और गुलामी का खुलकर विरोध करते हुए उसे आत्मनिर्भर बनने और आत्मनिर्णय लेने का संदेश दिया है। कुछ को छोड़कर सभी स्त्री आत्मनिर्भर हैं, ये नहीं है कि आत्मनिर्भर होने से स्त्रियों की समस्याएं खत्म हो जाएगी, लेकिन इतना अवश्य है कि इस रूप में वह स्वतंत्रता को अवश्य प्राप्त करती हैं, उसे महसूस करती हैं,

उसे अपने होने का अहसास होता है। यही से शुरू होता है अपनी अस्मिता का संघर्ष और अपने अस्तित्व की लड़ाई। स्त्री आत्मकथाओं में इसे बखूबी देखा जा सकता है।

स्त्री आत्मकथाओं को स्त्री मुक्ति आंदोलन के रचनात्मक अंग के रूप में देखा गया है और इसे देखा भी जाना चाहिए। इस आंदोलन में सबसे पहले इस बात पर बल दिया गया है कि स्त्री मानव के रूप में समुदाय (कैटेगरी) है जो पुरुष से भिन्न है यानी उसकी जैविक संरचना पुरुष से भिन्न है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जैविक तौर पर शारीरिक संरचना में भिन्न होने के बावजूद स्त्री एक मानव है। उसे पुरुष की अपेक्षा कमतर नहीं समझा जा सकता है और न ही वह किसी पुरुष से कमतर है। दूसरा मत यह है कि नारी की परिकल्पना एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक संरचना के रूप में किया गया है जिसका कारण पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना है और समाज में पुरुषों की प्रधानतावाली मानसिकता है तथा इसी कारण स्त्री को दूसरे दर्जे का प्राणी समझा जाता रहा है। यह सामाजिक तथा सांस्कृतिक विभेद ही है जो स्त्री आंदोलन की मूल सैद्धांतिकी में सक्रिय है। यदि स्त्री पुरुष के प्रभुत्व से मुक्त होना चाहती है तो उसे अन्य स्त्रियों के साथ एकजुट होकर संघर्ष करना होगा। उसे अपनी भूमिका को स्वयं ही परिभाषित तथा प्रमाणित करना होगा। इसी से स्त्री अपनी गुलामी, अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त हो सकती है। प्रत्येक स्त्री वैयक्तिक तथा सामाजिक तौर पर मुक्त हो सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्री जीवन के संघर्ष को व्यक्तिगत नहीं सामूहिक संघर्ष के तौर पर देखा जाना चाहिए। विभिन्न वर्ग–समुदाय की स्त्रियों का संघर्ष अलग अलग हो सकता है लेकिन उसे स्त्री जीवन की मुक्ति के संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए। उसे किसी वर्ग–समूह के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में स्त्री आंदोलन कमजोर और अलग–थलग पड़ सकता है। और स्त्री मुक्ति आंदोलन अपने मुद्दों से भटक सकता है। स्त्री आत्मकथा में व्यक्त एक स्त्री के संघर्ष में दूसरी स्त्री के अड़चन को इसी रूप में देखा जाना चाहिए। इसी के साथ एक स्त्री को दूसरी स्त्री की समस्याओं को भी समझने की जरूरत है। एक स्त्री को दूसरे स्त्री के वैवाहिक जीवन में प्रवेश नहीं करना चाहिए। यदि पुरुष ऐसा करने पर मजबूर करता है तो इसका कारण पुरुष का हित होता है। वहां स्त्री को स्वयं स्त्री जीवन के रूप में देखने की जरूरत है। अन्यथा एक स्त्री दूसरे स्त्री का दुश्मन जाने अनजाने हो सकती है। इससे बचने की जरूरत है। इसे स्त्री मुक्ति आंदोलन के रूप में समझने की जरूरत है।

निदेशनंदिनी डालमिया ने स्त्री के लिए आर्थिक गुलामी से मुक्ति के लिए सवाल उठाती हुई लिखती हैं कि ''मैं तो उन्हीं के अनुकूल चलने का निश्चय कर सस्ते से सस्ता कपड़ा पहनने लगी थी। जितने कीमती कपड़े यहां के बाजार में देखे, इससे पहले मुझे इनकी कल्पना भी नहीं थी। पर, यहां उनकी बातों से भाई को लगता कि क्योंकि हम मध्यम परिवार के हैं, हमारी पूर्वस्थिति को बार–बार ऐसा कहकर हमें याद दिलाया जाता। खाने–पीने का भी हाल यही था, ये स्वयं बहुत कम खाते थे, और शायद दूसरों का खाना भी उन्हें असात्त्विक और अधिक लगता इन्हीं बातों ने कुछ चीजों को इनसे छिपाकर रखने की वृत्ति को जन्म दिया। मैं बाजार जाती ही नहीं थी। परंतु घर जमाने के लिए भाई को खरीद–फरोख्त करनी ही पड़ती थी यद्यपि अब उन्हें यह सब करना पसंद नहीं था।"[87] इतना ही नहीं अपने पति पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के बाद भी वो उनका

विश्वास कभी नहीं जीत पाई क्योंकि वो आर्थिक रूप से सामान्य परिवार से संबंध रखती थी। उन्हीं के शब्दों में, "मेरी प्रांजल शुभेच्छाओं को वे योजना के बुद्धिकौशल से बुना हुआ एक कुटिल जाल समझते और यह सोचकर कि मेरा झुकाव मेरे परिवार की ओर हैं, वे मुझे भी अपनी भूल ही मानकर चलते।"[88] इसी प्रकार कुसुम अंसल ने आर्थिक गुलामी से मुक्ति के सवाल को 'जो कहा नहीं गया' में उठाती हुई लिखती हैं कि ''महीना भर बीता था कि वसिष्ठ साहब ने मेरे नाम का एक चैक मुझी से हस्ताक्षर करवाकर मुझे पकड़ा दिया 'ये क्या है ? आपके मैनेजर हो जाने की तनखा' उन्होंने ईमानदारी से कहा – 'हमें तो ठीक नहीं लगा, कपूर साहब से आधी है, पर खैर ले लीजिए।' अपनी धागे में बंधी टूटी हुई ऐनक को नाक पर चढ़ाते वह चले गये। कागज के उस बेजान टुकड़े को हाथ में पकड़े मैं सोचती रही, अब तक मैं क्या थी ? अभी तक अपने किसी काम के लिए उन दो स्कूलों से मैंने न कोई पारिश्रमिक चाहा था न लिया। किसी स्वार्थ के तहत तो यहां नहीं आई थी, मेरे पारिश्रमिक का वह चैक मुझे हास्यास्पद लग रहा था। मैंने उस चैक को अलग रख लिया था यह सोचकर कि चलो, आत्मनिर्भरता का प्रमाण यह चैक कभी जीवन में यह प्रमाणित कर सकेगा कि मुझमें भी धन अर्जित करने की क्षमता है – मैं मात्र एक बोझ या पैरासाइट नहीं हूं।''[89] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि एक स्त्री को कभी भी बोझ नहीं बनना चाहिए और न ही उसे किसी पर निर्भर रहनी चाहिए। उसे आत्मनिर्भरता का परिचय हमेशा देनी चाहिए। ऐसा ही परिचय कृष्णा अग्निहोत्री ने दी है। उन्होंने स्त्री स्वतंत्रता के लिए उसे आर्थिक गुलामी से मुक्त होना अनिवार्य पहलू के तौर पर देखा है। और वह एक स्त्री के लिए उदाहरण हो सकती है। आत्मनिर्भर न होने की स्थिति में स्त्रियों को कितनी प्रताड़ना के बीच से गुजरना पड़ती है। उसकी ओर संकेत करती हुई कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं कि "मैं किसी तरह आत्मनिर्भर बनने में प्रयासरत थी। मेरी व्यस्तता, देवर–देवरानी के बीच हंसना उन्हें अच्छा नहीं लगता था, बस हो जाता प्रारंभ उनका तांडव। एक साथ हरामजादी – कुतिया, कमीनी, नीच, वेश्या, रेडी, निकम्मी, बेवकूफ से होते वे मुझे मारने व दबोचने को जैसे ही तैयार होते, मैं दरवाजा बंद कर लेती। कई बार दरवाजे को वे लतियाते ही रहते। जैसे ही वे जाते, ज्ञानदेव एक बड़े पन्ने पर मुझे चिट्ठी लिखकर दिखाते, 'नीचे भाग जाइए।' लेकिन सीढ़ियां तो अग्निहोत्री जी के कमरे के सामने से ही नीचे आंगन में मिलती, कभी–कभी कांपती मैं ज्ञानदेव के ही कमरे में एक ओर दुबक –सी जाती।''[90] अर्थात् आत्मनिर्भरता ही स्त्री मुक्ति का आधार है और संसाधन में भागीदारी उसकी पहली सीढ़ी होगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मनिर्भरता से न केवल पुरुष का वर्चस्व खत्म होता है बल्कि उसकी सत्त को भी आघात लगता है यही कारण आत्मनिर्भर बनने की स्थिति में स्त्रियों को सबसे ज्यादा अन्याय –अत्याचार से गुजरना पड़ता है।

आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय लेने से जिंदगी में हमेशा बदलाव को महसूस किया जा सकता है। बदलाव को स्त्री आत्मकथाओं में सहजता से महसूस किया जा सकता है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय से जिंदगी का परिदृश्य ही बदलता हुआ नजर आता है। इसलिए जिसने भी इसे महसूस किया उसने जीवन के बदलते हुए परिदृश्य के रूप में इसे रेखांकित किया है। इसी संदर्भ में पद्मा सचदेव 'बूंद बावड़ी' में स्त्रियों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने की अपेक्षा करती हैं ताकि वो अपना जीवन

सम्मानपूर्वक जीने की तरफ अग्रसर हो सके। "शादी से पहले इन्होंने मुझे मना लिया था कि शादी करते ही मैं नौकरी छोड़ दूंगी। पर अब समाचारों में मन भी लग गया था। तनख्वाह भी पूरी मिल रही थी, यानी 400 रूपये, इसीलिए नौकरी छोड़ने का मन न था। हालांकि इनके घर में सभी लोग बड़े रोशन ख्याल थे, पर दफ्तर जाने से जिन्दगी में तो जो एक बदलाव आता था, वो मैं छोड़ना न चाहती थी।''[91] अर्थात् इस प्रकार पदमा सचदेव यही कहना चाहती हैं कि तनख्वाह और नौकरी के कारण ही उनके जीवन में जो बदलाव आया था, जिसे वह छोड़ना नहीं चाहती हैं। जब एक स्त्री ऐसा करती है तो उसका मुख्य ध्येय अपने अधिकार के लिए संघर्ष है। इसी संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' स्त्री के अस्तित्व, उसके हक और गरिमा के लिए ही उठ खड़ी होती है। उन्हीं के शब्दों में, "मैं नाच के लिए नहीं उठी थी, अपने हक के लिए खड़ी हुई थी। जिन से मेरी जिन्दगी के सम्मान का वास्ता था। मुझे प्रेरित करने के अपराध में वह घृणा के पात्र हो मैं कल्पना नहीं कर सकती, मैंने तो जो संकेत पाया वह सूर्य की ओर था कि मेरे ही भीतर घिरे अंधरे तिरोहित होने लगे। निश्चित ही डॉ. सिद्धार्थ ने मेरे वजूद में तिरस्कारों की सुई उतरते देखी होगी, तभी तो प्रेम और समानता का यह नजारा बना।"[92] अर्थात् अपने अधिकार के लिए ही मैत्रेयी पुष्पा खड़ी हुई थी और उसी के रास्ते वे ससम्मान जीवन भी जी सकती है। अन्यथा उनका जीवन ही अंधेरे में तिरोहित हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आत्मसम्मान, गरिमा, वजूद और अधिकार के लिए ही स्त्रियां संघर्ष करती हैं जो उनकी जिंदगी का मूलभूत तत्व है और वही उसके मानवीय अस्तित्व की भी रक्षा करता है।

जब स्त्रियां अपने पांव पर खड़ी जो जाती हैं तो किस प्रकार पुरुषवादी मानसिकता उसकी तरक्की को देखकर जब उसकी पुरुषवादी चेतना जाग उठती है। तो स्त्री की तरक्की में वह बाधा बन जाता है। प्रभा खेतान 'अन्या से अनन्या' में इसका जिक्रा करती हुई लिखती है कि डॉक्टर साहब मेरे प्रेम नहीं रह गए थे, पर मेरे अभिभावक जरूर हो गए थे। मैं जो कमाती उनके हाथ में रख देती। जैसे वे सब बच्चों की फाइल देखते थे, टैक्स भरते थे, वैसे ही मेरी कमाई का, विनियोजन का हिसाब रखते। डॉक्टर साहब को मेरी जरूरत थी। और वे बार–बार मुझसे कहते – "तुम मेरी सबसे बड़ी उपलब्धि हो, मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता।"[93] यानी जब किसी पुरुष द्वारा यह कहा जाता है तो वह एक नाटकीय रूप में पितृसत्तात्मक सोच ही होती है जो संवेदनात्मक रूप में एक स्त्री के साथ खेलती है। प्रभा खेतान आर्थिक गुलामी से मुक्त होकर ही जीवन जीने की कोशिश करती है। अन्यथा इस पितृसत्तत्मक समाज में उनके लिए जीना मुश्किल ही था। जैसा कि वे लिखती हैं कि "मेरे लिए हर दिन मानो फांसी के फन्दे से साक्षात्कार था। यदि मेरे पास फिगरेट नहीं होता और उससे एक नियमित आय नहीं होती तो शायद इस सामाजिक प्रताड़ना हो झेलना बिल्कुल असंभव हो जाता। कविता लिखना भी इन्हीं दिनों शुरू किया, कविता के सहारे मैं असहनीय यथार्थ से पलायन कर पाती। मैं हर कीमत पर अपने आपको जिन्दा रखना चाहती थी। यथार्थ के बदले में फन्तासी में पूरी तरह पलायन कर चुकी थी।"[94] अर्थात् आर्थिक आत्मनिर्भरता ने स्त्री मुक्ति की राह बनी तो सृजनात्मक कला का आधार भी। दोनों ही एक स्त्री को गुलामी से मुक्ति का मार्ग दिया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही स्त्री मुक्ति का मार्ग है और उसी से जिंदगी के सुखद पहलू भी निर्मित होता है। इसी प्रकार रमणिका गुप्ता भी आर्थिक गुलामी से

मुक्ति की बात करती है। वे लिखती हैं कि "मेरे सामने प्रश्न था अपने विचारों, अपनी धारणाओं को सार्थक सिद्ध करने का और लोक–लाज के रूढ़िगत विचारों के विरूद्ध खड़ा होने का। मैंने अपने मानदंड खुद गढ़े। औरतों के लिए मेरी अपनी अलग मान्यताएं थीं जो संभवतः मेरे समय से बहुत आगे थी, इसलिए समायोजन में काफी कष्ट हुआ, संघर्ष करना पड़ा। कहते हैं – "समरथ को नहिं दोष गुसाई।" मैंने हमेशा अपने को समर्थ बनाने का लक्ष्य रखा ताकि अपनी शर्तों पर चल सकूं। समाज को चला सकूं। उसके पीछे नहीं चलूं। उसे दिशा दूं चाहे राजनीति में, चाहे सामाजिक या व्यक्तिगत आचरण में। इसलिए मेरा पहला हमला प्रचलित नियमों, प्रथाओं, प्रतिबंधों, यहां तक कि यौन संबंधों पर होने लगा।[95] इतना ही नहीं रमणिका गुप्ता अपने संघर्ष और जीजिविषा के कारण ही विधायक बनती हैं। साथ ही यह सब वह इसलिए कर सकी क्योंकि उन्होंने स्त्रियों के लिए बंदिश तमाम वर्जनाओं को नकारती हुई अपनी शर्तों पर जीवन जीती है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि सामर्थ्यवान के लिए सब कुछ जायज है और जो समर्थ है वही स्वतंत्र है। इतिहास गवाह है अपने आप को सामर्थ्यवान बनाने के लिए मनुष्य कितना संघर्षरत रहा है। आज भी 21वीं सदी में भी यह दौर काफी तेजी से आगे बढ़ रहा है। इसलिए रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि अपने आप को सामर्थ्यवान बनाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य रहा है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह आजीवन संघर्षरत भी रहती है। सभी स्त्री आत्मकथाकारों ने स्त्री मुक्ति के सवालों में आर्थिक गुलामी से मुक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है और इस गुलामी का खुलकर विरोध करते हुए उसे आत्मनिर्भर बनने का संदेश दिया है।

आत्मनिर्भरता और पलायन की स्थिति भी स्त्री आत्मकथाओं में दिखाई पड़ती है। आत्मनिर्भर होने के लिए घर, परिवार को छोड़कर स्त्रियों ने एक जगह से दूसरी जगह पलायन करती है। इससे आर्थिक दयनियता की स्थिति तो दूर होती है लेकिन इसी का एक दूसरा पहलू है– वह यह कि उसकी संस्कृति में भी परिवर्तन होता है। और स्त्री में ऐसी एक नई चेतना भी आती है। आशा आपराद 'दर्द जो सहा मैंने' में लिखती हैं कि 'मजदूरी से चटनी कूटने का भी वह काम करती। लेकिन पूरे परिवार का पेट पालने जितना काम और मजदूरी उस छोटे से गांव में मिलना दिन बदिन मुश्किल लगने लगा। अम्मा ने पनाला छोड़कर कोल्हापुर में रहने का निर्णय लिया।''[96] अर्थात् पेट की भूख के कारण ही स्त्रियां सब कुछ करने को तैयार हो जाती हैं जो कई बार उसके शोषण–उत्पीड़न का कारण बनता है। इसी के कारण समाज में पलायन की स्थितियां भी पैदा होती हैं। पलायन की स्थिति में ही उन्हें अपनी खासकर स्थिति का भान होता है। और उनमें एक नई चेतना आती है जिसके कारण उनके जीवन में बदलाव आता है।

स्त्री जीवन का बहुत बड़ा आधार उसका बच्चा होता है। बच्चा का जन्म स्त्री–पुरुष का साहचर्य प्रेम संबंध है। लेकिन उसका पूरा दारोमदार स्त्रियों के ऊपर होता है। इसी से समाज में उसका स्थान भी निर्धारित होता है। बच्चा का जन्म भी समाज में स्त्रियों की दशा को निर्धारित करता है। एक स्त्री यदि बेटी को जन्म देती हैं तो उसकी हैसियत समाज में दोयम दर्ज की है और यदि वही एक बेटा को जन्म देती है तो उसकी हैसियत सम्मान की होती है। यदि लगतार बेटी को जन्म दे रही है तो उसकी स्थिति बद से भी बदतर होती चली जाती है। आशा आपराद की आत्मकथा और शीला इन्द्र की आत्मकथा में ऐसी चर्चा हुई है। जहां वे बेटी होने के

कारण दयनीय स्थिति से गुजरती हैं वही वह जब बेटी को जन्म देती है तो पितृसत्तात्मक समाज उसे जीने भी नहीं देता है। तरह तरह की उलाहना देकर उसे नारकीय जीवन जीने पर मजबूर करता हैं। बच्चा पैदा न करने पर समाज ताना मारता है और जन्म देने की स्थिति में भी प्रसव पीड़ा, दर्द की स्थिति में यह कहता है कि ''ये क्या अनोखी बच्चा पैदा कर रही हैं? दुनिया की सभी औरतें बच्चे जनती हैं। अरे! बिना दर्दों के क्या बच्चे पैदा होते हैं? ऐसे दर्दों से घबड़ाती थी तो शादी ही क्यों की? और अगर शादी कर ली है, तो खबरदार आगे से कोई बच्चा पैदा नहीं करना।''[97] इतना ही उनके साथ घटित नहीं होता है बल्कि औरतें यह दिलासा दिलाती है कि इस बार नहीं तो अगली बात जरूर बेटा होगा। 'कोई बात नहीं, अगली बार लड़का ही होगा और अगर फिर एक लड़की हो गई? तो लोग दिलासा देते रहते और बेटियां पैदा होती रहतीं। अब यह तो सब भगवान की मर्जी।' यही मानसिकता पितृसत्ता की है जिसे पुरुष ने तो बनाया ही है और स्त्रियां परंपरा और वंश के नाम पर ढो रही है। और उसके कारण स्वयं को दोयम दर्जे, बद से बदतर जिंदगी जीती है, जिसमें उनकी कोई गलती नहीं। दूसरा यह जो भगवान की मर्जी वाली बात है यह भी पितृसत्ता की ही देन है। विज्ञान के अनुसार लड़का या लड़की होना तो पुरुष के जिंस पर निर्भर करता है इसमें स्त्रियों की कोई गलती ही नहीं है। आज इसे समझने की जरूरत है और इस धर्मभीरू जीवन को त्यागकर विज्ञान को अपनाने की जरूरत है।

भातरीय समाज में स्त्रियों को तो सुखद जीवन जीने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। जन्म से लेकर जीवनपर्यंत उन्हें पुरुष पर निर्भर रहने का आर्शीवाद दिया जाता है। 'आयुषमान भवः', 'सदा सुहागन रहो', 'दूधो नहाओ पुतो फलो', 'पुत्रवती भवः', आदि आर्शीवाद भी पितृसत्ता की जड़ है। शीला इन्द्र लिखती है कि ''लड़कों को जुग जुग जियो का आशीर्वाद । हमलोगों को 'न जाने कहां से आ गई डाका डालने। मरती भी नहीं।''[99] अर्थात् स्त्रियों के सुखद जीवन के आशीर्वाद भी नहीं दिया जाता है, उसके लिए दुवा भी नहीं की जाती है। संस्कृति के इन पहलुओं को भी स्त्री आत्मकथाओं में उजागर किया गया है। साथ ही हमारी स्त्री की अपेक्षा पुरुषों को कितना महत्व दिया जाता है। इन्हीं पहलुओं को संदर्भ में रखती हुई सीमोन द बुआवर लिखती है कि ''समय से पहले काम के बोझ से दबा एक लड़का अपने को गुलाम महसूस करने लगता है किंतु लड़की ऐसा नहीं महसूस करती।''[100] यह सोच ही स्त्री को पुरुषों की अप्रत्यक्ष गुलाम बनाती है। पितृसत्ता का संचालन भी इसी से होता है। यह सब हमारी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था व संस्कार के बीच ही होता है। इसलिए स्त्री जीवन के यथार्थ तथा उसके मुक्ति संघर्ष को समझने के लिए समाज के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में उसकी स्थिति को समझना अनिवार्य होता है। क्योंकि आर्थिक रूप से संपन्न होने के बावजूद भी स्त्रियां कोई जरूरी नहीं है कि वह गुलामी से मुक्त हो जाए। अर्थ उसकी मुक्ति में सहायक होता है लेकिन जब तक वह सांस्कृतिक तौर पर मुक्त नहीं होती है तब तक वह मुक्त नहीं हो सकती है। संस्कृति ही प्रतिरोध की जननी है और वहीं से मुक्ति आंदोलन का उत्स और विकास भी होता है। स्त्री आत्मकथा वस्तुतः स्त्री जीवन के उस यथार्थ की अभिव्यक्ति है जिसमें वह न केवल रहती है बल्कि भुक्तभोगी भी स्वयं ही है। जब कभी भी कोई सामाजिक व्यवस्था किसी गुलाम की स्थिति या उसके ऐतिहासिक विकास को नकारता है तो वह आधारभूत स्तर पर उसकी सांस्कृतिक विरासत को नकारता है। इस प्रक्रिया में वर्चस्वशाली समूह या समाज या देश अपने

अधीनस्थ शासित लोगों की संस्कृति के मूल तत्वों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरी तरह नष्ट करने का प्रयास करता है। इस संदर्भ में न्गुगी वा थ्योंगों ने अपनी पुस्तक औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति में बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि ''राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में शुरू होने से पहले आम तौर पर संस्कृति के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के विविध रूप दिखाई पड़ने लगते हैं और उत्पीड़क देश की संस्कृति को नकारते हुए अपनी खुद की सांस्कृतिक पहचान स्थापित करने का सफल अथवा असफल प्रयास बहुत तेज हो जाता है। दरअसल संस्कृति में ही प्रतिरोध के वे बीज छिपे हैं जो आगे चल कर मुक्ति आंदोलन के निर्माण और विकास में सहायक होते हैं।''[101] संस्कृति और मुक्ति संघर्ष में समय सापेक्ष आधुनिकता का प्रभाव हमेशा से हस्तक्षेप करता है। इसे इस रूप में भी समझा जा सकता है कि जब से समाज में पुरुष का वर्चस्व स्थापित होता है और सत्ता–शासन तंत्र वे अपने अनुकूल तैयार करता है तो वह स्त्री को न केवल अपने अधीनस्थ करता है बल्कि पुरुषवादी वर्चस्व की संस्कृति के घेरे में स्त्री को कैद करता है। यही वजह है कि भारतीय समाज में होने वाली सभी सांस्कृतिक पहल और पहलू दोनों ही पुरुष वर्चस्व को स्थापित करता है और स्त्रियां उसे संस्कृति व धर्म के नाम पर सहज स्वीकार कर समर्पित होकर इस पुरुष वर्चस्व को न केवल आत्मसात करती है बल्कि उसे उत्सव के तौर पर मनाती है और नई पीढ़ी को हस्तांतरित भी करती है। इसी से समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व भी शुरू होता है। अतएव स्त्री मुक्ति के लिए आर्थिक मुक्ति के साथ–साथ सांस्कृतिक संस्कार से भी मुक्ति आवश्यक है। आधुनिकता के नाम पर सांस्कृतिक मूल्यों का त्याग भी स्त्री मुक्ति आंदोलन को कितना सार्थक और औचित्यपूर्ण बनाएगा यह समय ही बताएगा।

2.6 शैक्षिक स्थिति और स्त्रीः

शिक्षा को प्राप्त कर ही मनुष्य जीवन में नई जिंदगी को प्राप्त करता है। उसके जीवन की समस्याएं दूर होने लगती हैं। शिक्षा मनुष्य को 'आत्मबल' प्रदान करती है और उसे प्रत्येक परिस्थितियों में अपने आपको अनुकूल बनाकर प्रगति के पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। स्त्री आत्मकथाओं में शिक्षा को न केवल विशेष रूप में रेखांकित किया गया है बल्कि यह भी संदेश दिया गया है कि बिना शिक्षा गुलामी से मुक्ति संभव नहीं है। 'दर्द जो सहा मैंने' आत्मकथा की नायिका आशा आपराद जब कष्टों को झेलने में अपने आपको असमर्थ पाती है, तब वह शिक्षा की ओर मुड़ती है। उसे हासिल करने के लिए ठान लेती है। इसके लिए इन जन नायिका को असीम संघर्ष करना पड़ता है। उनका यह संघर्ष भीतरी–बाहरी दोनों स्तर पर है। बाहर के संघर्ष से तो बाद में रूबरू होती है, परंतु अंदर अर्थात् घर के अंदर अपनी मां से ही संघर्ष करना पड़ता है। अपने पिता (भई) की लाडली को, जब उसके पिता दुनिया से विदा होते हैं तब यह संघर्ष और कठिन हो जाता है, क्योंकि घर में शिक्षा का महत्व समझने वाला सिर्फ उनके पिता ही थे।

प्रतिभावान 'आपराद' की मां दुराग्रही अनपढ़ और गंवार औरत है, वह शिक्षा और स्कूल के नाम से ही चिढ़ती है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, ''स्कूल की पढ़ाई से हमें क्या लेना देना? उस स्कूल का नाम मत लेना मेरे सामने। मैं जरा भी नहीं सुनूंगी ... नहीं सुनूंगी...समझे।''[102] इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि आशा

आपराद की मां जो स्वयं एक स्त्री है उनमें शिक्षा को लेकर चिढ़ क्यों? क्या कहीं यह सोच पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रसित तो नहीं? इस संदर्भ में एक बात तो साफ स्पष्ट है कि उनमें चेतना नहीं है। चेतना नहीं होने के कारण ही वह स्त्री होने के बावजूद भी स्त्री दर्द को नहीं समझती है या परिस्थितिवश वह ऐसा हो गई है। इन्हीं परिस्थितियों और चेतना से मुक्त होने के लिए पं. रमाबाई ने शिक्षा को स्त्रियों की मुक्ति के लिए अनिवार्य कहा है। भारतीय समाज में स्त्रियां अधिकतर आत्मनिर्भर होने की बजाय दूसरों पर खासकर पति पर निर्भर रहती हैं। इसके कारणों को तफसील करती हुई पं. रमाबाई लिखती है कि ''सदियों से हिंदू आचार संहिता को पूर्ण रूप से समर्पित ये औरतें दासत्व प्रिय प्राणियों में बदल गई हैं। किसी पर भी आश्रित और पूर्ण निर्भर होने में उन्हें खुशाी होती है और यह प्रवृत्ति उनके पुत्रों में फलित होकर इच्छा में बदल जाती है जो दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर होने में गर्व और संतुष्टि पातें हैं। यह पार्थक्य जिसमें पूर्णतः निर्भरता एवं पूर्ण उपेक्षा हमारे राष्ट्र की माताओं पर थोपी जा चुकी है तथा भाग्यवादी बातें जो पिता के मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर बताई जाती हैं, तथा इसने ऐसे जहरीले परिणाम पैदा किए हैं कि यदि समय रहते इनका कोई उपचार नहीं किया गया तो हिंदुस्तान एक दुखद और लंबी मृत्यु के लिए मजबूर हो जाएगा।''[103] अर्थात् हमारे समाज, परिवार और देश में स्त्रियों को आत्मनिर्भर होने की बजाय पारंपरिक शिक्षा जो दी जाती है उसी के कारण स्त्रियां आत्मनिर्भर नहीं हो पाती हैं और वह पिता, पति और पुत्र पर आश्रित होती हैं। जिससे मुक्त होने के लिए स्त्रियों में चेतना का होना बहुत ही आवश्यक है और चेतना के लिए, सही गलत के फैसले के लिए शिक्षा का होना आवश्यक है। इसी के साथ पंडित रमाबाई ने स्त्री जीवन के सुखद पहलुओं के लिए तीन महत्वपूर्ण बिंदुओं की ओर ध्यानाकर्षित किया है। वे बिंदुएं इस प्रकार हैं–एक आत्मनिर्भरता, दूसरा शिक्षा और तीसरा देशी स्त्री आध्यापिकाएं। पं. रमाबाई का यह अध्ययन निश्चित ही न केवल स्त्रियों के लिए बल्कि भारतीय समाज के विकास के लिए आवश्यक है, क्योंकि समाज के विकास के लिए स्त्री पुरुष दोनों का समान विकास जरूरी है। इनमें से किसी एक भी अज्ञानता, अविकास आदि की स्थिति समाज के लिए घातक साबित होगा। भारत में स्त्रियों की स्थिति को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि भारतीय समाज ने कभी भी स्त्रियों की शिक्षा की ओर समूचित ध्यान नहीं दिया है। स्त्रियों को चारदीवारी के भीतर कैद कर रखा गया है। उन्हें पर्दे के भीतर ही रहने की शिक्षा दी जाती रही है। घर के पुरुषों के सामने नहीं बैठने और उनके सामने संवाद नहीं करने की बात कही जाती रही है। ऐसी हालात में स्त्रियों का समुचित विकास संभव नहीं हो पाता है। इस संदर्भ में पंडित रमाबाई ने बहुत सही विश्लेषण किया है कि ''स्त्री और पुरुष मानवीय समाज के एक ही शरीर के हिस्से हैं और साथ ही ये अविभाज्य एकता से जुड़े हैं, अतः उनमें से कोई भी पीड़ा में होगा तो दूसरा भी प्रभावित ही होगा, चाहे वह इसे स्वीकार करे या न करे। जीव जंतु से लेकर पेड़ पौधों तक में प्रकृति की यह मांग है कि सभी जीवित प्राणी स्वतंत्र रूप से अपनी वृद्धि की परिस्थितियों के साथ अनुकूल विकास करें अन्यथा वे उस रूप को नहीं पा सकेंगे,जो मूलतः उनका आकार है। फिर इस नियम का उल्लंघन क्यों? औरतें पर्दे में क्यों? घर की चारदीवारी में सीमित, अपनी पूरी जिंदगी खुली हवा में सांस न ले पाने को मजबूर, वे पीढ़ी दर पीढ़ी कमजोर होती जाती हैं। उनकी शारीरिक बनावट क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उनकी भावनाएं समाज के अंधविश्वासों

एवं मान्यताओं के बोझ तले दब जाती हैं और उनका मस्तिष्क किसी तरह के विचारों एवं ज्ञान से वंचित रह जाता है, जिससे वह विश्व को देखने समझने के काबिल नहीं रह पातीं।''[104] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि स्त्री–पुरुष दोनों मानवीय समाज में एक जैसा है और दोनों में अन्योन्य संबंध है। दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करता है और दोनों के समुचित विकास से ही समाज का समुचित विकास संभव हो सकता है।

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों को जो घर की चारदीवारी में रहने के लिए मजबूर किया जाता है, उसे शिक्षा से महरूम किया गया है। धार्मिक शिक्षा तक सीमित रहने की बात उजागर हुई है, आदि इन पहलुओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज को यदि विकास की ओर बढ़ना है तो स्त्री शिक्षा को अनिवार्य रूप में पहली प्राथमिकता के साथ देखना होगा। आशा आपराद जैसी असहाय स्त्री यदि अपनी जिंदगी को विषम परिस्थिति में सुखद बनाती है तो इसका कारण है वह शिक्षा के प्रति उनकी रूचि। जिसे यह भान होता है कि यदि मैं पढ़ी होती हो हमें नौकरी मिल जाती है और मैं अपने बच्चों की परवरिश अच्छे से कर सकती थी। यही कारण है कि जब आशा आपराद को कहीं से भी अपनी दायनीय स्थिति से मुक्ती का कोई मार्ग नहीं मिल रहा था तब वह बच्चों को पढ़ाने की बात करती है और अंततः खुद की पढ़ने की पहल करती हुई आगे बढ़ती है और शिक्षिका बनने की बात करती है। आत्मनिर्णयी आशा आपराद अपने निर्णय न लेने की क्षमता का खुलासा करती हैं और लिखती हैं कि, ''वैसे दृढ़ता से निर्णय लेना, निभाना, इतनी बड़ी न मेरी उम्र थी, न सोच। आज तक दूसरों ने ही मेरे निर्णय लिए थे। निर्णय लेने का न मुझे अधिकार मिला, न मौका, न ही स्वातंत्र्य।''[105] अर्थात् सचमुच इसमें जो वेदना है, दर्द है वह एक गुलाम स्त्री का दर्द, पीड़ा है जिसे समाज ने कभी निर्णय नहीं लेने दिया और न ही उसे इसका मौका दिया है। वास्तव में जब तक किसी को निर्णय लेने की स्वतंत्रता नहीं दी जाती है तब तक आप उसकी क्षमता को नहीं समझ सकते हैं। संघर्षी आशा आपराद जब अपने जीवन की बागडोर अपने हाथ में लेती है और पढ़ाई करने की ठानती है, तब सबको उसके संघर्ष को सलाम करना पड़ता है।

उलझनों में जकड़ी एक स्त्री अपने कष्टों पर विजयी होने के लिए मन में तमाम तरह के फैसले लेती है। कभी घरों में झाड़ू पोंछा करने का सोचती है तो कभी बच्चों को पढ़ाने का विचार करती है। अंततः उसे वह रास्ता मिल ही जाता है। एक सहज उपाय स्वयं पढ़ने का, नौकरी करने का। ''और अचानक मेरे दिल में ख्याल आया अगर मैं पढ़ी लिखी होती तो। कहीं तो नौकरी करती, पैसे कमाती, अपने बलबूते पर खड़ी रहती शायद आज विपत्ति की जिस और जितनी दाहकती में दहक रही है, उसकी तीव्रता जरूर कम लगती।''[106] अर्थात् जब एक पितृसत्ता की गुलाम स्त्री को अपने न पढ़ने लिखने का अनुभव होता है और तब वह शिक्षा के महत्व को समझती हुए सोचती है कि आत्मनिर्भर होने का एकमात्र रास्ता शिक्षा ही है। शिक्षा रूपी शस्त्र से ही जीवन रूपी जंग को जीता जा सकता है– ''आर्थिक दुर्बलता के कारण जो टूटन हिस्से में आती गई उससे बच भी जाती। संघर्ष के लिए सामर्थ्य प्राप्त कर सकती थी। इन सबसे मुकाबला करने के लिए मेरी शिक्षा एक शस्त्र बनकर मेरे हाथ होती तो इतनी मजबूर बेसहारा न होती। मुझे शिक्षा लेकर सबल आत्मनिर्भर होना जरूरी था, लेकिन यह सब मुझे करने नहीं दिया , पढ़ने नहीं दिया... मुझे तो जीने ही नहीं दिया।''[107] अर्थात् शिक्षा रूपी अस्त्र से तमाम

तरह के संकटों पर विजयी हुआ जा सकता है। जो अस्त्र लेखिका के पिता (भई) ने उसे (आशा) थमाया थी। उसकी अपनी ही मां' के द्वारा छिन जाने पर आज वह अपने आप को बेसहारा और असमर्थ समझ ही नहीं रही है, बल्कि हो गई है। और अब आत्मनिर्णयी आपराद अपनी अधूरी तमन्ना पूरी करने के लिए तत्पर हो जाती है। – ''मैं अपनी शिक्षा पूरी करूंगी। डी.एड. या बी. एड. होकर शिक्षिका हो जाऊंगी। अनायास अपनी शिक्षा की अधूरी तमन्ना भी पूरी हो जाएगी। मैं आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनूंगी, घर–परिवार की मदद हो जाएगी।''[108] यानी इस प्रकार कहा जा सकता है कि शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात ही तमन्ना भी पूरी होगी और आर्थिक दृष्टि से भी सम्बल हुआ जा सकता है। लेकिन आशा आपराद के लिए यह आसान नहीं था, क्योंकि वह न केवल सामाजिक दृष्टि बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी उत्पन्न विभिन्न परिस्थिमियों से पूरी तरह घिर चुकी थी जहां से रास्ता निकालना बहुत कठिन जरूर था मगर नामुमकिन नहीं। इन विषम परिस्थितियों से निकलने के लिए आत्मविश्वास बेहद जरूरी है। आशा आपराद भी इसी आत्मविश्वास को प्राप्त करती है और घर–परिवार की विविध विषम परिस्थितियों से निकलती है। स्त्री परिवार रूपी संस्था से इस कदर जकड़ी होती है कि अपनी तकलिफों और दुःखों के समक्ष उसे परिवार का दुःख ही बड़ा दिखाई देता है। लेखिका का पढ़ाई के लिए दृढ़ संकल्पी होना और यह सोचना कि ''मैं आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनूंगी, घर परिवार को मदद हो जाएगी।' इसी बात को स्पष्ट करती है। आखिर शिक्षा के लिए संकल्पित होना, आर्थिक दृष्टि से निर्भर होना कौन सा अपराध है जो परिवार के लोग नाराजगी की हदें पार करने के लिए आतुर हो जाते हैं। स्वयं लिखका के शब्दों में, ''घर का वातावरण और अधिक तनावग्रस्त, उदास, कुद सा हो गया था। मां, फूफू, शौहर, कोई भी मुझसे बात नहीं करते थे। मुझे एहसास था यह तूफान के पहले की खामोशी है।''[109] घर के इस वातावरण में आशा आपराद का संघर्ष कम नहीं था। इस खामोश, तनावग्रस्त और अजनबी माहौल में आशा आपराद आने वाले तूफान को भी समझ रही थी। इसीलिए वह घर की हालात को देखती हुई अपने सौहर से अपनी इरादा को व्यक्त करती हुई कहती है कि ''मेरा इरादा हाय मेरा शिक्षण पूरा करने का, देखो तो घर का क्या हाल हुए मेरी बी मदत हुयी तो भलाच हुईंगा न्हवे।'' अर्थात् इरादा थी कि मैं अपनी शिक्षा पूरी करूं, देखो ना, घर की हालत कितनी बिगड़ गई है। अगर मेरी मदद होती है तो अच्छा रहेगा ना। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आशा आपराद को यह समझ हो गई थी कि शिक्षा के माध्यम से ही अपनी और परिवार की हालत बदली जा सकती है। अन्यथा दिन ब दिन यह हालात बद से बदतर होती जाएगी। ऐसी ही हालत में आशा आपराद के जीवन में देसाई सर, गुरू बनकर आते हैं। जो न केवल उनकी दयनीय स्थिति के प्रति सहानुभूति रखते हैं बल्कि उसकी पढ़ाई छुट जाने के कारण अपना दुःख व्यक्त करता है। इसी कारण से जब आशा आपराद देसाई सर के यहां जाती है तो वह यथासंभव मदद करने की बात करते हैं। उन्ही के शब्दों में, ''अच्छा हुआ देसाई, हम सब अध्यापकों को तुम्हारे स्कूल छोड़ने का दुःख हुआ था। पढ़ाई अधूरी रखकर तुम्हारी शादी करा दी। अब पढ़ों हमसे जो हो सकेगी हम मदद करेंगे, अब तुम्हारा कौन सा महीना शुरू है?''[110] अर्थात् इससे स्पष्ट होता है कि लड़की की शादी शिक्षा पूरी किए बिना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि शिक्षित लड़की किसी भी परिस्थिति को सहजता से पार कर सकती है। यदि आशा की शादी उसकी पढ़ाई पूरी होने के बाद हुई होती तो, हो सकता है

आशा की जिंदगी कुछ और होती। लेकिन सामाजिक मानसिकता जो वर्षो से लड़की की शिक्षा की विरोधी रही है। उसी मानसिकता की वजह से आशा जैसी करोड़ों लड़की की शादी आज भी बाल्यावस्था में हो जाती है जिस अवस्था में उन्हें न घर–परिवार की समझ होती है और न दुनियादारी की। उसके दुष्यपरिणाम आज समाज का सबसे बड़े संकट में से एक है। सोचने वाली बात तो यह है कि इस पुरुषवादी मानसिकता में स्त्रियों का भी योगदान कम नहीं होता है। आशा की मां भी इसी श्रेणी की स्त्री है जो स्वयं स्त्री होती हुई भी आशा की जिंदगी को विषम परिस्थिति में डालती है। उसे गिरवी तक रख देती है जैसा कि आशा लिखती है। उन्हीं के शब्दों में, ''बस, बस इत्ता अभ्यास, बेटी को शिका को क्या बेरिस्टरनी करने की हाय कया? यो कामा कोन करने के?... मां की दृष्टि में घर के काम से ज्यादा कुछ भी नहीं था। भई की शिक्षा, विद्वता यह बातें मानों उसके लिए कुछ भी मायने नहीं रखती थीं।''[111] इतना ही नहीं आशा आपराद लिखती है कि ''शिक्षा के कारण उनकी वैचारिक प्रगल्भगता, सभ्यता, आचार विचार ऊंचे दर्जे के थे और तकदीर ने ऐसी औरत के साथ उनकी जिंदगी का पल्ला बांधा था, जिसका संबंध दूर से भी इन बातों से नही था। जिसकी वृत्ति और विचार पूर्ण रूप से अलग थे। बिना वजह मां ने हम दोनों के साथ जीवन भर छल किया।''[112] इस प्रकार कहा जा सकता है कि आशा आपराद की मां अपनी दुर्दशा के कारणों को समझती और अपने बच्चों को शिक्षा के लिए प्रेरित करती तो हो सकता है कि न केवल उनकी बल्कि उनके घर, परिवार और समाज की स्थिति सुखद होती। जो नहीं होता है। जब आशा को इसकी समझ होती है तब तक समय बहुत बीत चुका होता है लेकिन आशा अपनी स्थिति को बदलने के लिए आत्मविश्वास के साथ उठ खड़ी होती है और अपनी शेष जिंदगी को बदलने के लिए संकल्प कर लेती है। शिक्षक का साथ मिलते ही कमजोर पैरों में ताकत का एहसास हो आया है। जिंदगी के पन्नों पर नए अध्याय का प्रारंभ हो गया। फिर कभी शिक्षक, कभी सहेली का सहयोग एक स्त्री के दुर्गम सफर को सुगम बनाने में मदद करने लगा। दृढ़ निश्चयी स्त्री का बरसों बाद पढ़ाई से, स्कूल से जुड़ता रिश्ता, उसकी अनुभूति उसके हाथ में खुशियों की लहर पैदा कर रही थी और अपने सुखद भविष्य को सोचकर रोमांचित होती है शिक्षा की तपस्या के रंग में रंगी स्त्री (आशा) अपने संघर्ष में लीन– '' पिसती, कूटती, तलती, भूनती, बर्तन मांजती, धोना धोती, झड़ती , पोंछती और पढ़ाई करती... अध्ययन की आराधना करती । ऐसी लागी लगन...मीरा हो गई मगन वो तो गली –गली हरिगुन गाने लगी... कुछ ऐसी ही मन की अवस्था हो चुकी थी। शब्दों से, अर्थों से तादात्म स्थापित हो रहा था, मैं तल्लीन हो जाती। आस–पास का माहौल लोग उनकी गालियां, श्राप मुझे सुनाई नहीं देते। पढ़ाई की भक्ति में मैं दीवानी सी हो गई थी, अभ्यासमय हो गई थी।''[113] अर्थात् इस तरह एक स्त्री सारे कामों को निपटाती, घर की सुविधाओं को ध्यान रखती बार–बार शिक्षा के मार्ग में आनेवाली रूकावटे को लांघती आखिरकार मैट्रिक प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होती है। इस बीच कठोर संघर्षों और उलाहनों से गुजरती एक स्त्री अपने सपनों अपनी उम्मीदों को अपने 'आंचल' में छुपाए आगे बढ़ती चली जाती है। अपने संघर्ष में तमाम तरह के तकलीफों को पराजित कर जब आशा बीए पास कर जाती है, तब जो घटना घटती है, वह उसके जीवन रूपी इतिहास के पन्नों पर पहली बार घटित होता है। स्वयं लेखिका के शब्दों में, ''मेरे बीए पास होने का आनंद मेरे पति को भी हुआ। उन्होंने पांच सौ रूपये भेंट में दिए और कहा, 'एम.ए. करने का तोरा इरादा है नई,

तू फार्म भरा।'' किस तरह शिक्षा मनुष्य के जीवन को, उसके व्यवहार को, उसके सामाजिक, पारिवारिक स्थिति को प्रभावित करती है। अपने ही परिवार में उपेक्षित स्त्री जब संघर्ष की आग में तपकर सोना बन जाती है, तब उसके नैतिक मूल्य में भी परिवर्तन आता है और अपने अंदर की इच्छाशक्ति रूपी मनोबल से शिक्षित होती है, तब उसके पति के व्यवहार में जो परिवर्तन है उसके सुखद अनुभूति को लेखिका इस प्रकार से शब्दों में व्यंजित करती है– ''पति के स्वभाव में कुछ–कुछ अच्छा सा बदलाव आने लगा था। पत्नी होने के नाते वे अपने से कुछ अपेक्षाएं रखती है, घर की कुछ समस्याएं बताती है, कुछ सुझाव देती है, वह गलत नहीं कहती तब कुछ सुनना है–सुनते थे। बढ़ती उम्र की चार बेटियों की मां है, अब पुराने तरीकेसे अपमानजनक कुछ बोलना ठीक नहीं, इतनी तो समझ उनमें आने लगी थी। अब मेरी उपेक्षा करना टीका–टिप्पणी करना, अवहेलना करना बहुत कम हुआ था। घर और इनके थोड़े से बदलाव से भी मुझे थोड़ा अच्छा लगने लगा। अर्थात् पति का मूड कब बदलेगा इसका भरोसा नहीं यह भी मैं जानती थी।''[114] यानी कहा जा सकता है कि आशा के पति को शिक्षा की समझ आने लगी थी और वह भी घर–परिवार की हालात को बदलने के लिए सहयोगी बन गया था। इसी सहयोग और सहजीवन को समाज को सबसे ज्यादा जरूरत है। तभी खुशहाल परिवार और समृद्ध समाज बना सकते हैं।

शिक्षा मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा सहारा होता है। यह स्त्री आत्मकथाओं या अन्य रचनाओं के माध्यम से भी समझा जा सकता है। इसी तरह जब लेखिका को शासन की ओर से छात्रवृत्ति के रूप में पैसे मिलते है जब उसने उस पैसे से अपने भई जी (पिताजी) का गिरवी रखा पटवा छुड़ाकर लाती है तो उसे लगता है जैसे 'पटवा' के रूप में उसके भई जी उसके पास है और यह सुखद अनुभूति मात्र शिक्षा के माध्यम से लेखिका के लिए संभव हो पाया। ''जैसे ही मैंने भई का पटका हाथ में लिया। मैं बड़ी प्रसन्न हुई और मुझे रोना आ गया। मैंने पटके को बड़ी श्रद्धा से पेशानी से लगाकर अपने सीने से लगा लिया। भई का स्पर्श किया हुआ वह पटका मैंने इसे जोर से सूंघा। उनकी याद से जी भर आया। मैंने मन ही मन उन्हें नमस्कार किया। उनकी एक सुंदर सी याद मां ने गिरवी रखी थी। जो पूरे चालिस बरसों बाद मैंने छुड़ा ली।''[115] अर्थात् शिक्षा के कारण ही वह अपनी गिरवी रखी पटके को छुड़ा पाती है। यह स्त्री मुक्ति का ही मार्ग है और यही भारतीय समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति।

एक स्त्री ही आने वाली पीढ़ियों में संस्कार को हस्तांतरित करती है। मेहनती, स्वावलंबी, आत्मनिर्णयी, संघर्षी आशा आपराद अपनी बेटियों के लिए लिखती हैं कि, ''शिक्षा के प्रति मेरी बेटियों में भी श्रद्धा, आस्था थी और शिक्षा के लिए परिश्रम करने की वृत्ति, उनकी प्रगति भी, इसके ध्यान में आई थी। इस वजह से हमारे प्रति अपनत्व का भाव उनके दिल में झरने लगा है, इसका एहसास मुझे हो रहा था। कभी–कभी उनके मन की अवस्था द्विधा हो जाती। किसी मेहमान के टोकने से, मेरे बारे में शक शुबह के मधुमक्खियों का छत्ता किसी ने हिला दिया कि 'वे' बेचैन, अस्वस्थ हो जाते। अर्थात् वे इस बात को भी पक्का जानते थे कि मैं जिस रास्ते से आगे बढ़ रही हूं, अब वापस आना मुमकिन नहीं। यही कारण होगा वे लाइलाज मानकर ही सही लेकिन मेरे आगे की पढ़ाई में, कोशिशों में सहकार्य ही भावना, इच्छा व्यक्त करने लगे।''[116] अर्थात् शिक्षा के महत्व को समझती आशा आपराद अपनी बेटियों को उत्तम शिक्षा दिलाती है जो कि स्त्री मुक्ति आंदोलन की नींव है। यही

वास्वत में स्त्री मुक्ति है जो एक पीढ़ी से चलकर दूसरी पीढ़ी तक और फिर राष्ट्र के संदर्भ में चरितार्थ होता है। यही शिक्षा और साहचर्य की भावना भी जो मुक्ति में सहयोग करती है।

घर–परिवार और समाज से लेकर विद्यालय तक का माहौल आशा के लिए सामान्य नहीं था। विद्यालय में ब्राह्मणवादी माहौल का जिक्र करती हुई ब्राह्मणवादी शिक्षक के व्यवहार के विषय में आशा आपराद लिखती हैं कि ''गणित की एक अध्यापिका केवल मैं मुसलमान हूं इस बात को लेकर भरी कक्षा में मेरा बहुत बार अपमान करती। परकर ब्लाउज को लेकर (घागरा) शेरेबाजी करती नाम रखती '' तू काय देसाई, जूम्मे को जूम्मा, होय ना?' (तुम क्या देसाई, जुम्मे को जुम्मा नहाती हो ना?) मुझे बुरा लगता, गुस्सा भी आता, पर क्या करतीं? शिक्षक को ऐसी बात करना अच्छा नहीं लगता, लेकिन मेरी सारी सहेलियां मुझे बहुत प्यार करतीं। मैं तो रोज नहा धोकर ठीकठाक साफसुथरी ही रहती। मेरे पिताजी के संस्कार थे लेकिन कुछ लोग जान बुझकर जात की याद दिलाते हैं तब दुःख होता है। यह शिक्षिका ब्राह्मण थी। लेकिन मेरी चार पांच सहेलियां भी ब्राह्मण थीं प्रेमा, हेमा, गडकरी बहनें, विद्या प्रभुदेसाई। हमारे बीच में जात कभी आड़े नहीं आई। अन्य अध्यापकों को भी मेरी जात कभी खटकी नहीं। मेरी गुणवत्ता ध्यान में लेते, मेरे लिखे निबंधों की तारीफ करते वक्त उनकी संकुचित दृष्टि कभी दिखाई नहीं दी। लेकिन उस टीचर को मेरी कौन सी पृथकता दिखाई देती पता नहीं। अपितु अन्य इतने सुंदर अनुभवों के बावजूद इतनी छोटी कटु बात मैं ध्यान में नहीं रखती।''[117] संभवतः यही कारण है कि पं. रमाबाई स्कूल में प्रशिक्षित शिक्षिका की बात कही। वर्तमान में सभी विद्यालय में स्त्री प्रतिनिधित्व की बात जब होती है तब इसका एक कारण यह भी होता है कि सभी जगह स्त्री के लिए सहज वातावरण है या नहीं। सहज वातावरण न होना भी स्त्री शिक्षा के लिए अवरोधक है। जिस कारण से माता–पिता बच्चों को दूर रखकर शिक्षा देने में असमर्थता जता देते हैं।

जब चेतना आती है तब वही चेतना संघर्ष के माध्यम अपनी समस्याओं से मुक्त होने के लिए उपाय ढूंढ़ने लगती हैं। आशा आपराद ने भी ऐसा ही किया है। वे लिखती हैं कि ''मैं सोच रही थी अपना परिवार चलाने में मैं क्या कर सकती हूं? कौन सा काम करके मैं कुछ आमदनी पा सकूं? चार घरों का धोना बर्तन करूं? पर घर के काम में ही इतनी फंसी थी कि लोगों के काम करने के लिए कुछ वक्त निकाल सकू यह मुमकिन नहीं लगा।... छोटे बच्चों को पढ़ाने का 'बालक स्कूल' शुरू करूं तो?''[118] ऐसी चेतना उनके मन में फलिभूत होती है और वह अपने भविष्य के विषय में सोचने लगती है। लेकिन वह इतना आसान नहीं था। घर से लेकर मन में उत्पन्न विचार को साकार करने के लिए कई योजना को भी होना चाहिए। साथ ही आर्थिक और सामाजिक सहयोग की भी जरूरत होती है। यही वहज है कि बच्चों को पढ़ाने का ख्यालात धूमिल होने लगती है। आशा आपराद लिखती हैं कि ''इन सबसे बेजार मैं खुश रहकर बच्चों को पढ़ा सकूंगी? बच्चों को खुश रखूंगी? और बच्चों को पढ़ाने का विचार धुंधला सा होकर आंखों से ओझल हो गया।''[119] इसके बावजूद आशा आपराद पीछे नहीं हटती हैं और आत्मनिर्णय लेती हैं। पहले वे आर्थिक तौर पर आत्मसंबल होना चाहती है और फिर अपनी इच्छाओं और बच्चों के भविष्य को लेकर निर्णय लेती है। इसी कड़ी में वे रिक्शा वाला विचार को चुनती है। अपनी जमा रकम में से एक हजार रूपये लेकर रिक्शा लेती है और अपने सपनों को साकार करने के लिए आगे

बढ़ती है। उन्हीं के शब्दों में ''मुझे यह विचार जच गया और फैसला भी कर लिया, रिक्शा लेंगे, पर बताया किसी को नहीं। मेरी जिंदगी का यह पहला फैसला। परिस्थिति की चपेट में फंसकर उससे बचाव करने के लिए तथा भविष्य के बारे में सोचकर मैंने यह पहला कदम उठाया। उसी पल अंदर से खूब अच्छा लगा, मैं भी सोच सकती हूं योग्य निर्णय ले सकती हूं, यह एहसास बड़ा सकून दे रहा था। मेरे जमा किए पैसों से उदरभरण का साधन घर आएगा, बड़ा सहारा होगा मैं पुलकित सी हो गई।''[120] अर्थात् आशा आपराद में जब चेतना आती है, तभी वह आत्मनिर्भर होने के लिए भी सोचती है और शिक्षा अर्जित करने को ठानती है।

शिक्षा के महत्त्व को आशा आपराद इस प्रकार से महसूस करती है। उन्हीं के शब्दो में ''अचानक मेरे दिल में खयाल आया कि अगर मैं पढ़ी लिखी होती तो! कहीं तो नौकरी करती, पैसे कमाती, अपने बलबूते पर खड़ी रहती। शायद आज विपत्ति? की जिस और जितनी दाहकता में दहक रही हूं, उसकी तीव्रता जरूर कम लगती।' इससे यह स्पष्ट है कि आशा आपराद शिक्षा के महत्व को महसूस करने लगती है। और यही वजह है वे अपनी पढ़ाई पूरी करने की कोशिश में लग जाती। वे लिखती हैं कि ''आर्थिक दुर्बलता के कारण जो टूटन हिस्से में आती गई उससे बच भी जाती । संघर्ष के लिए सामर्थ्य प्राप्त कर सकती थी। इन सबसे मुकाबला करने के लिए मेरी शिक्षा एक शस्त्र बनकर मेरे हाथ होती तो इतनी मजबूर , बेसहारा न होती। मुझे शिक्षा लेकर सबल आत्मनिर्भर होना जरूरी था, लेकिन यह सब मुझे करने नहीं दिया, पढ़ने नहीं दिया,...मुझे तो जीने ही नहीं दिया..।'... पर यह वक्त रोने का तो नहीं। रो कर व्यथित होकर मेरे सवालों का हल निकल नहीं सकता है यह बात तो मैं पूरी तरह जानती थी, लेकिन सही दिशा भी नजर नहीं आती थी। न कोई सलाह देनेवाला, न किसी का आदर्श मेरे सामने था। कुछ भी हो इस भंवर में मैं फना नहीं चाहती थी। मुझे इससे बचकर बाहर निकलना था, मेरे बच्चों को सलामत रखना था, मुझे जिंदा रहना था। मैं क्यों कर मरूं? ना ... ना... मेरे दिमाग में मंथन शुरू था और इसी विचार मंथन में से एक नए विचार का बीज बाहर आ गया। मैंने अपनी पढ़ाई शुरू करके पूरी शिक्षा प्राप्त की तो...। इस विचार से ही मैं उत्साहित हो गई।''[121] इसी उत्साह और आत्मविश्वास ने आशा आपराद की जिंदगी को बदल दिया। उसे न केवल शिक्षा के लिए प्रेरित किया बल्कि आत्मविश्वास के साथ आत्मनिर्भरता की ओर भी अग्रसरित होने का बल दिया। और इसी के सहारे वे सामाजिक नियंत्रण या यूं कहें कि गुलामी से भी मुक्त होने में सफल होती है।

शिक्षा की प्रकृति और समाज पर उसके नियंत्रण के संदर्भ में टी बी बॉटमोर ने हेल्वेशियस और फ्रांस की शिक्षा के हवाले से बहुत अच्छी बात कही है कि ''लोग अनपढ़ तो पैदा होते हैं लेकिन मूर्ख नहीं; उन्हें शिक्षा के जरिए मूर्ख बनाया जाता है। आधुनिक दृष्टिकोण यह नहीं है। ऐसे समाज अब भी हो सकते हैं जिनमें लोगों के दिमाग जड़सूत्रवादी शिक्षा के जरिए मूर्खतापूर्ण बनाए जाते हो, जो शिक्षा उन्हें राजनैतिक या धार्मिक सत्ता के दृष्टिकोण को बिना किसी आलोचना के स्वीकार करने का आदी बनाती हो; लेकिन औपचारिक शिक्षा का सामान्य चरित्र आधुनिक विज्ञान और तकनीक ने गहराई से बदल दिया है।''[122] इस संदर्भ को गहराई से तफसील करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में मूर्खता का आधार शिक्षा है और शिक्षा की प्रकृति से ही लोगों की सोचने

की शक्ति भी बदलती है। वह किसी भी विषय वस्तु को सहजता और गंभीरता से समझते हैं। दूसरी बात यह भी समझने की जरूरत है कि 'आदिम समाज में शिक्षा का अर्थ जीवन पद्धति का संप्रेषण था वहीं आधुनिक समाज में शिक्षा का अर्थ ज्ञान की प्रचुरता, उत्पादन की प्रक्रिया में विज्ञान का प्रयोग और श्रम मूल्य पर आधारित है। वह अनुभवसिद्ध और वैज्ञानिक है। इस संदर्भ में एक बात और गौरतलब है कि ''जहां शुरूआती समाजों में अपेक्षाकृत अपरिवर्तनीय जीवन पद्धति और ज्ञान के भंडार का संप्रेषण किया जाता था जबकि आधुनिक शिक्षा द्वारा संप्रेषित वैज्ञानिक ज्ञान बदलते रहने की आशा होती है; और फिर शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह स्थिर के बजाए बदलती हुई दुनिया के लिए व्यक्तियों को तैयार करे।''[123] अर्थात् इस आलोक में भारतीय शिक्षा की प्रकृति और पद्धति पर विचार किया जाए तो यह तो साबित होता है कि भारत में शिक्षा का आधार खास कर स्त्री के संदर्भ में वैज्ञानिक न होकर जीवन पद्धति के हस्तांतरित करने की रही है जिसमें वैज्ञानिकता कम, सामाजिक–सांस्कृतिक जड़ता का प्रभाव ज्यादा ही है।

भारत में शिक्षा की व्यवस्था भी सामाजिक व्यवस्था का शिकार हैं। टी बी बाटमोर के शब्दों में, ''भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शैक्षिक सुविधाओं के प्रसार के मामले में काफी प्रगति हुई है और ग्रामीण स्कूलों तथा निचली जाति के बच्चों के लिए शैक्षिक सुविधाओं के विकास के साथ शिक्षा तक पहुंच के मामले में काफी समानता भी आई है। लेकिन अब भी उल्लेखनीय असमानताएं बनी हुई हैं; प्राथमिक शिक्षा जिसमें बौद्धिक और शारीरिक कार्य के संयोजन संबंधी गांधीजी के विचार शामिल हैं, वह अधिकांश बच्चों को प्रदान की जाती है (और इनमें से अधिकांश शिक्षा के प्राथमिक स्तर के आगे नहीं बढ़ पाते), लेकिन भारतीय समाज के ऊपरी तबके अपने बच्चों को अंग्रेजी किस्म के ग्रामर और पब्लिक स्कूलों में भेजते हैं। ये आंकड़े विभिन्न आधुनिक समाजों से लिए गए हैं और बताते हैं कि शैक्षिक विभेद सामाजिक स्तरीकरण से घनिष्ठतापूर्वक जुड़े हुए हैं। दूसरे किस्म के सामाजिक स्तरीकणों मसलन, लिंगीय, नृजातीय समूहों या धार्मिक समूहों के सामाजिक स्तरीकरणों के साथ ही अक्सर शिक्षा की किस्म या गुण में भी अंतर दिखाई पड़ता है। अधिकांश समाजों में उच्चतर शिक्षा ग्रहण करने के जितने अवसर पुरुषों को उपलब्ध थे उससे कम औरतों को और भारत में तो अब भी ऐसा ही है।''[124] अर्थात् भारत में शिक्षा में विभेद सामाजिक विभेद पर आधारित है। ग्रामीण और शहरी, निची और ऊंची जातियों तथा स्त्री और पुरुषों के लिए अलग–अलग शिक्षा के मापदंड एवं मानदंड दोनों है। ऐसी स्थिति में समाज में एक समान विकास की धारणा ही गलत है। स्त्री आत्मकथाओं में वर्णित शिक्षा के माध्यम से इस विभेद को जहां सहज ही समझा जा सकता है वहीं उसकी मानसिकता को आज भी देखी जा सकती है। आशा आपराद की आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' में इसे आशा की मां के माध्यम से समझा जा सकता है। जब आशा की मां, आशा को पढ़ाने के खिलाफ हैं और यह कहती है कि पढ़ लिख कर कौन बैरिस्टर बनना है। इतना ही नहीं बाटमोर लिखते हैं कि अनेक समाजों में विभिन्न समयों पर धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ अन्य मामलों के अलावा शिक्षा के क्षेत्र में भी भेदभाव बरता जाता है। ...जब तक शैक्षिक चुनाव है तब तक समाज के भीतर विशेषाधिकार प्राप्त समूह हमेशा पैदा होते रहेंगे और केवल नीति तथा योजना के जरिए ही कुछ–कुछ समानता बनाए रखने में सफलता मिल सकती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में चुनाव की व्यवस्था को

खत्म कर उसके बदले अनिवार्य शिक्षा तथा समान शिक्षा की पद्धति को लागू करना होगा तभी जाकर समान शिक्षा और विभेद मुक्त समाज की परिकल्पना संभव है।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में जो खामियां हैं उसकी ओर ध्यानाकर्षित करती हुई पं. रमाबाई लिखती हैं कि ''शिक्षा व्यवस्था में जो खामियां है, उन्हें दूर करने के लिए पहला कदम यह होना चाहिए कि लड़कियों के स्कूल में महिला निरीक्षिका हो। सरकार को लड़कियों के लिए मेडिकल की पढ़ाई की व्यवस्था करनी चाहिए।''[125] इसी के साथ पं. रमाबाई ने स्त्री धर्म नीति के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण बातों को रेखांकित की है। वे लिखती हैं कि ''स्त्री की प्रगति की नींव है– आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता। स्त्रियों को भाषा, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के अलावा गणित , भूगोल, राजनीतिक अर्थशास्त्र, चिकित्सा विज्ञान, भौतिक विज्ञान जैसे विषयों का भी ज्ञान होना चाहिए। पारंपरिक पाक कला में भी निपुण होना चाहिए। चरित्र में गहराई, अपनी सीमा का बोध, संयम, सतर्कता, नैतिकता, विनम्रता, आदर वगैरह जो गुण स्त्री में खोजे जाते हैं, वे अपना सम्मानजनक स्थान बनाए रखने के लिए जरूरी है। बाल विवाह हर हाल में अनुचित है। सिर्फ अतीत के गौरव की खोखली बातों से कुछ नहीं होता। स्त्रियों को उनका हक दो, तभी वे और उनकी संतान मुकम्मल इंसान बन पाएगी।''[126] पं. रमाबाई के विचारों से असहमति–सहमति का भाव हो सकता है लेकिन उनके पहल को नकारा नहीं जा सकता है। और इस बात से कभी इंकार नहीं किया जा सकता है कि स्त्री जीवन की मुक्ति का आधार शिक्षा है। बिना शिक्षा के न तो व्यक्तिगत स्तर पर विकास किया जा सकता है और न ही सामूहिक समाज का निर्माण किया जा सकता है विकसित राष्ट्र की परिकल्पना तो दूर की बात है। स्त्री भी मानव है, इंसान है। उसे भी पुरुष की तरह अधिकार और सम्मान प्राप्त करने का हक है। जब तक समाज में समान शिक्षा, समान नागरिकता, समान अधिकार और मूल्य तथा स्त्री–पुरुष भेदभावमुक्त की मानसिकता नहीं बनती है तब तक न तो स्त्री को साबूत मानव की पहचान मिलेगी और न ही हमारा समाज–राष्ट्र ही विकसित हो सकता है। एक समृद्ध परिवार, स्वस्थ्य समाज और विकसित राष्ट्र की पहचान स्त्री शिक्षा व प्रगति–समृद्धि से ही होती है तो भारत को एक विकसित राष्ट्र की श्रेणी में आने के लिए समान नागरिकता, समान मानव, समान मूल्य, समान शिक्षा और समान शिक्षा पद्धति को अपनाना होगा। उसे विकसित करना होगा। उसकी मानसिकता तैयार करनी होगी। तभी जाकर गर्व–गौरव की अनुभूति हो सकती है, उसकी वकालत की जा सकती है अन्यथा यह सब एक छद्म–छलावा के सिवाय और कुछ नहीं।

समग्रतः कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग के 21वीं सदी तक के सफर में उनकी स्थिति में परिवर्तन तो हुआ है लेकिन जिस अपेक्षित परिवर्तन की आशा की जा सकती है, उसका होना अभी तक बाकी है। भारतीय समाज की सामाजिक संरचना पितृसत्ता और वर्ण–जाति आधारित है जिसके कारण यहां की असमानता–विषमता की रेखा इतनी बारीक रूप में है कि यहां की स्त्रियां किन कारणों से दोयम दर्जे का जीवन जी रही है, यह तय करना बहुत मुश्किल होता है क्योंकि यहां हर वर्ग की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अलग–अलग रही है। इसमें स्त्री–पुरुष

का भेदभाव न केवल पितृसत्ता की देन है बल्कि पितृसत्ता का यह रूप तो यहां की सामाजिक संरचना में व्याप्त हो गया है जिसके कारण इसे यहां के धर्म और सांस्कृतिक व्यवस्था बहुत ही मजबूत करती है। सबसे मार्मिक बात तो यह है कि यहां की स्त्रियां शिक्षित और पढ़ी–लिखी होने के बावजूद पितृसत्तामूलक धार्मिक और सांस्कृतिक अनुष्ठान का पालन करती है और उसे ढोती भी है। भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरचना यहां की स्त्रियों को न केवल उसे ज्ञान की सत्ता से वंचित करती है बल्कि उसे पितृसत्ता के यांत्रिकता को भी जीने के लिए बाध्य करती हैं और आर्थिक संसाधनों में भागीदारी से भी वंचित करती है। यहां की आर्थिक संसाधनों में स्त्रियों की भागीदारी न होने से वह आर्थिक रूप से कमजोर हैं और इस स्थिति में आर्थिक निर्भरता उसे सशक्त नहीं होने दे रही है। बिना आत्मनिर्भर हुए न तो वह आत्मनिर्णय ही सही से ले सकती है और न ही आत्मविश्वास के साथ वह पितृसत्ता से मुक्त ही हो सकती है। यहां की राजनीति व्यवस्था में स्त्रियों की अनुपस्थिति राजनीतिक दृष्टि से स्त्रियों की कमजोरी को व्यक्त रही है। इन सब कारणों की वजह स्त्रियों को ज्ञान की सत्ता से वंचना है। बिना शिक्षा के न तो वह चेतनशील हो सकती है और न ही अपनी दयनीय स्थिति को समझ सकती है। ऐसी स्थिति में स्त्री मुक्ति का सवाल बहुत ही जटिलता का रूप धारण कर लेता है। समाज में स्त्रियों की मुक्ति तभी संभव है जब उसे समाज के सभी संसाधनों में उचित भागीदारी मिले, उनके सर्वांगीण विकास हेतु समुन्नत शिक्षा में स्त्रियों का प्रशिक्षण एवं उसकी उपलब्धिता का होना आवश्यक है। तभी जाकर स्त्रियों की दयनीय स्थिति से मुक्ति हो सकती है। इस मुक्ति समाज की परंपरा और उसके बदलते मूल्यों यानी आधुनिकता, वैज्ञानिकता आदि के समावेशन को भी समझा जा सकता है। यानी आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के मूल्यों से ही समाज में अपेक्षित बदलाव को किया जा सकता है और इससे न केवल समाज की जड़ता, रूढ़िवादिता, कर्मकांड आदि खत्म होगा बल्कि इससे बंधी स्त्रियों का जीवन भी मुक्त होगा। अगले अध्याय में स्त्रियों के जीवन को परंपरा और आधुनिकता ने किस प्रकार से प्रभावित कर रहा है और उसका प्रभाव किस प्रकार की है, पर विचार किया जाएगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. डॉ. बी आर अम्बेडकर, हिंदू नारी का उत्थान और पतन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, कवर पृष्ठ
2. डॉ. शिवकुमार मिश्र, यथार्थवाद, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली,1978,पृ. 3
3. वही, पृ. 3
4. वही, पृ. 2
5. जार्ज लूकाच, समकालीन यथार्थवाद, अनुवाद–कर्णसिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 53
6. दर्शनकोश, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1988, पृ. 516
7. बेलिंस्की, हर्जन चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव, दर्शन साहित्य और आलोचना, परिकल्पना प्रकाशन लखनऊ, अनुवाद नरोत्तम नागर, 2002, पृ. 26
8. जार्ज लुकाच, समकालीन यथार्थवाद, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 96
9. वही, पृ. 103
10. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेज स्त्री आत्मकथा, पृ. 75
11. कृष्णा अग्निहोत्री, और...और...औरत, पृ. 69
12. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 250
13. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 96
14. अर्चना वर्मा, अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, पृ. 35
15. मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुण्डल वसै, पृ. 114
16. वही, पृ. 95
17. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 15
18. वही 57
19. रमणिका गुप्ता, हादसे,, पृ. 261–62
20. वही
21. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 74–75
22. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ. 117
23. वही
24. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 103
25. वही, पृ. 2
26. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 65
27. वही, पृ. 67
28. वही, पृ. 69
29. वही, पृ. 70–71
30. वही, पृ. 111
31. वही, पृ. 116
32. कुसुम अंसल, जो कहा नहीं गया, पृ. 57
33. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया,, पृ. 110

34. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 24
35. दिनेशनंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ. 100
36. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ. 51–52
37. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 17
38. वही, पृ. 54
39. रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ. 37
40. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 26–27
41. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 18
42. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 176
43. वही, पृ. 203
44. वही, पृ. 6
45. वही, पृ. 213
46. वही, पृ. 206
47. वही, पृ. 164
48. वही, पृ. 180
49. वही, पृ. 213
50. वही, पृ. 165
51. शिवकुमार मिश्र, बंधक जीवनानुभवों का साक्ष्य,(लेख) तदभव, पृ. 288
52. चंद्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ. 221
53. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं दिल मेरा, पृ. 281–89
54. पिंजरे की मैना, चन्द्रकिरण सौनरैक्सा, पृ. 6
55. सुशीला टाकभौरे, शिंकजें का र्दद, पृ. 10
56. देहरी भई विदेश, पृ 102
57. दिनेशनंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ. 70
58. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नही है दिल मेरा, पृ.7
59. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ.5
60. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ.19
61. सुशीला टाकभौरे, शिकजे का दर्द, पृ.58
62. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 31–33
63. वही, पृ. 36
64. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ.35
65. दिनेश नंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ.142
66. प्रभा खेतान, अन्या से अन्नया, पृ.173
67. रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ.266
68. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ.55
69. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 52

70. वही, पृ. 51
71. वही, पृ. 54
72. वही, पृ. 58
73. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या ना कहूं, पृ. 43
74. वही, पृ. 44
75. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 63
76. वही, पृ. 131
77. वही, पृ. 151–152
78. वही, पृ. 27
79. वही, पृ. 155
80. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 138
81. जॉन स्टुअर्ट मिल, स्त्रियों की पराधीनता, (हिन्दी अनुवादःप्रगति सक्सेना), इस शृंखला के बारे में, राजकमल प्रकाशन,2002, नई दिल्ली
82. वही, पृ. 17
83. दिनेशनंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ.11
84. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या , पृ. 22
85. सुशीला टाकभौरे, शिंकजे का दर्द, पृ. 222
86. सीमोन द बोउवार, त्री उपेक्षिता, पृ. 382
87. दिनेशनंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ. 85
88. वही, पृ. 104
89. कुसुम असंल, जो कहा नहीं गया, पृ. 171
90. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं दिल मेरा, पृ. 173
91. पद्मा सचदेव, बूंद बाबड़ी, पृ. 268
92. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 18
93. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 179
94. वही, पृ. 175
95. रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ. 17
96. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैने, पृ. 17
97. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या न कहूं, पृ.27
98. वही, पृ. 28
99. वही, पृ. 32
100. सीमोन द बाउवर, स्त्री उपेक्षिता ,पृ. 137
101. न्गुगी वा थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, पृ. 11

102. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 40
103. पं. रमाबाई, हिंदू स्त्री का जीवन(शंभू जोशी), संवाद प्रकाशन, मुंबई–मेरठ, 2006, पृ. 88
104. वही, पृ. 87
105. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 104
106. वही, पृ. 118
107. वही
108. वही पृ. 119
109. वही
110. वही, पृ. 125
111. वही, पृ. 22
112. वही, पृ. 23
113. वही, पृ. 132
114. वही, पृ. 175
115. वही, पृ. 180
116. वही, पृ. 183
117. वही, पृ. 45
118. वही, पृ. 117
119. वही, पृ. 117
120. वही, पृ. 118
121. वही, पृ. 118
122. टी.वी.बॉटमोर, सजाशास्त्र, ग्रंथशिल्पी, दिल्ली, 2004, पृ. 250
123. वही, पृ. 250
124. वही, पृ. 246
125. पं. रमाबाई, हिंदू स्त्री का जीवन(शंभू जोशी), संवाद प्रकाशन, मुंबई–मेरठ, 2006 पृ. 109
126. वही, पृ. 108

तीसरा अध्याय

हिंदी स्त्री आत्मकथा : परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व

पूर्व अध्याय में स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त यथार्थ पर बात की गई है। यथार्थ समय सापेक्ष परिवर्तनशील है और उसमें नित्य नवीन तथ्यों एवं विचारों का आगमन होता रहता है। इस प्रक्रिया में कई बार द्वंद्व की स्थिति पैदा हो जाती है। यही द्वंद्व कई बार समाज में विकास को अवरूद्ध करता है और विकासवान चीजों को भी जड़ता में तब्दील कर देता है। प्रस्तुत अध्याय हिंदी स्त्री आत्मकथा में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व है। अर्थात् स्त्री जीवन में पारंपरिक मूल्य कैसे विकसित होता है और आधुनिक भावबोध का आगमन कैसे होता है, इस संदर्भ को समझने की जरूरत है। इस द्वंद्व को पूरी तरह से समझने के लिए सर्वप्रथम परंपरा और आधुनिकता की धारणाओं को समझना जरूरी है। परंपरा क्या है, इसका आशय क्या है और इसके मूल्य क्या है? ठीक इसी प्रकार हमें आधुनिकता, आधुनिकबोध और आधुनिकीकरण की धारणाओं को भी समझने की जरूरत है।

3.1 परंपराः

सर्वप्रथम परंपरा के अर्थ को समझते हैं। दर्शनकोश के अनुसार परंपरा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है। ''ऐतिहासिक ढंग से मूर्त रूप ग्रहण करने वाले रीति–रिवाज, अनुष्ठान, सामाजिक विनियम, प्रत्यय, मूल्य, आचरण के मानक, आदि जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते जाते हैं, समाज में अथवा उसके किसी समूह में सामाजिक–सांस्कृतिक धरोहर के दीर्घकाल तक सुरक्षित रहने वाले तत्व।''[1] इसका मतलब यह है कि परंपरा समाज में प्राचीनकाल से चली आ रही– रीति–रिवाज, अनुष्ठान, सामाजिक विनियम, प्रत्यय, मूल्य, आचरण के मानक आदि के रूप में विद्यमान रहता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि परंपरा के प्रतिमान हर देशकाल और परिस्थिति में परिवर्तनशील है। वह अक्सर बदलता हुआ स्वरूप ग्रहण किया है। लेकिन समाज में यह अक्सर देखा गया है कि परंपरा एक रूढ़िवादिता में, जड़ता में, कर्मकांड में तब्दील होता हुआ दिखाई देता है। उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है कि 'हमारे यहां यह पूर्वजों के समय से ऐसा होता आ रहा है।' 'यह हमारा धर्म कहता है।' आप इससे बाहर नहीं जा सकते हैं, आदि बातों में परंपरा की जड़वादिता का ही रूप देखने को मिलता है। लेकिन कोई यह नहीं सोचता है कि परंपरा प्रगतिशील भी होता है, जब उसमें इतिहासबोध होता है और वह सांस्कृतिक सृजनशील विकास से जुड़ी हुई होती है। लेकिन इसी के साथ यह भी देखा गया है कि परंपरा की रूढ़िवादिता या उसकी जड़ता प्रतिक्रियावादिता को जन्म देती है जब वह अतीत के मृत अवशेष के साथ जुड़ी होती है। स्त्री आत्मकथाओं में यह दोनों ही स्वरूप देखने को मिलता है।

परंपरा एक इतिहास बोध है न कि सिर्फ रीति–रिवाज़ की दुनिया। क्योंकि आधुनिकता कोई मूल्य नहीं होती है। "वह एक गतिशील प्रक्रिया है जो वैज्ञानिक दृष्टि से संपृक्त होती है तथा समकालीन परिप्रेक्ष्य में उपजी हुई नयी संवेदनाओं, नई स्थितियों, विचारभूमियों और जीवन संदर्भों को व्यक्त करती हुई और उन्हें स्वनात्मक

अर्थ देती हुई प्रशस्त होती है।"[2] आज की आधुनिकता कल को इतिहास और परंपरा की चीज़ बनकर रह जाएगी। इस आशय में सभी आधुनिक मूल्य इतिहास और परंपरा से जुड़ा हुआ है। "आधुनिकता को हम उस काल की आधुनिकता की तुलना और संदर्भ में ही आधुनिक' की संज्ञा दे सकते हैं। यही आधुनिकता का परम्परा से जुड़ना और साथ ही उससे मुक्त होना भी है। इस प्रकार परिवेश बोध और परम्परा दोनों ही आधुनिकता के अनिवार्य तत्व है।"[3] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि कि परिवेश, परंपरा और इतिहास बोध सभी आधुनिकता से जुड़ा हुआ है। फर्क सिर्फ देशकाल, विचार और मानसिकता का है कि कौन और कहां किसका प्रयोग करता है और किस रूप में करता है। इसी प्रक्रिया में आधुनिकता को भी समझा जा सकता है। आधुनिकता एक प्रक्रिया है विचारों की तार्किकता का। मूल्यों को समय सापेक्ष समझने का है। नवीन तथ्यों की खोज और अन्वेषण का। जीवन मूल्यों और मानवीय संस्कृति की आधुनिकीकरण का ।

3.2 आधुनिकताः

सामान्य तौर पर आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया है जो नवीन की खोज या नये के आगमन की। लेकिन जो आज आधुनिक है वह कल नहीं रहेगा। यह धारणा समय सापेक्ष बदलती रहती है। लेकिन समय सापेक्ष आधुनिकता की अवधारणा भी बदलती रहती है। इतना ही नहीं ''आधुनिकता एक प्रवृत्ति है जो मानसिक अवस्था और अभिवृत्ति से जुड़ी है और एक प्रघटना के रूप में यह विशेष आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक लक्षणों का योग है।'' इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकता का संबंध मानव की मानसिक अवस्था और उसकी प्रवृत्ति से है। जो कि किसी भी समाज में या सामाजिक संरचना में आधुनिकीकरण की ऊपज होती है। इस संदर्भ में आधुनिकीकरण को समझना जरूरी है। ''आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से इन मानसिक अभिवृत्तियों एवं सामाजिक लक्षणों का प्रचार–प्रसार होता है।''[4] इसमें (आधुनिकीकरण) में वैज्ञानिक सार्वभौमिक दृष्टिकोण, विज्ञान के प्रति लगाव, सार्वभौमिक मूल्यांकन के पैमाने एवं मानव के समान होने की बातें जुड़ी हैं वही आधुनिकता की एक परिभाषा यह भी है कि वह प्रगति, उन्नति, संपन्नता तथा अनुकूलन की तात्पर्यता से संबंधित मन की आकांक्षाओं की अवस्था है। लेकिन देखा जाए तो यह मन की आकांक्षाओं से अधिक मानसिक अवस्थाओं से संबंधित है। इस आलोक में 'स्त्री' शब्द खुद की परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व में दिखाई पड़ता है। भारतीय धर्मशास्त्र में यह 'सृष्टि निर्मात्री, देवी आदि रूप में विद्यमान है, संवैधानिक तौर पर वह एक सामान्य नागरिक है लेकिन जनमानस में स्त्री के कई रूप देखने को मिलता है। तसलीमा नसरीन 'औरत का कोई देश नहीं' पुस्तक में लिखती है कि ''पहले विश्व में भी सदी दर सदी ऐसी कोई धारणा ही नहीं थी कि नारी की मातृजाति के अलावा एक और जाति होती है–जिसका नाम इंसान की जाती है। नारी हमेशा से नगण्य, तुच्छ के रूप में चिह्नित होती रही है, नागरिक के तौर पर नहीं।''[5] इसका आशय यह है कि स्त्री जो कि एक मानव है, इसकी पहचान कभी भी इस रूप में नहीं होती है। इस रूप में होने पर वह स्वतः शाश्वत इंसानियत के मूल्य से लैस हो जाती है और स्त्री–पुरुष का विभाजन खत्म हो जाता है लेकिन सभ्यता के विकास के साथ स्त्री देवी, मातृत्व आदि रूप में पूज्य रही हैं तो कुलटा, कुलबोरणी, कुलक्षनी आदि रूप में भी

जनमानस में समाज में व्याप्त है। सवाल उठता है कि मातृत्व और मानव के रूप में पहचान स्थापित कर चुकी स्त्री कुलटा, कुलबोरणी आदि कैसी हो सकती है! वह आज भी नागरिक होने के मूल्यों से वंचित हैं।

हिंदी साहित्य कोश के अनुसार ''आधुनिकता की पहली शर्त और अनिवार्य शर्त स्वचेतनता है।''[6] इस दृष्टि से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि जब तक कोई समूह या मनुष्य में स्व–चेतन का बोध नहीं होता है तब तक उसे न तो आधुनिक कहा जा सकता है और न ही उसमें आधुनिकता का संचार ही कहा जा सकता है। ''कोई भी समूह अथवा समाज आधुनिक या पारंपरिक हो सकता है। विकासशील देशों में इसे व्यक्तिगत स्तर पर देखा जा सकता है।''[7] इस संदर्भ में यह भी समझने की जरूरत है कि आधुनिकता ऊपरी पोशाक, मेकअप, बोलने–चालने में निहित नहीं है बल्कि यह मानसिकता और विचारों से जुड़ी है। भारतीयों में पारंपरिकता और आधुनिकता दोनों साथ–साथ मिलता है। कुछ बातों में वे पारंपरिक होते हैं तो कुछ बातों में वे आधुनिकता को समय सापेक्ष ग्रहण करते हुए चलते हैं। स्त्री आत्मकथाओं में यह बखूबी समझा जा सकता है। जिसमें एक तरफ कई बार भारतीय संस्कार की पारंपरिकता देखी जा सकती है तो कुछ जगहों में आधुनिकता का पैरोकार भी दिखाई देता है। इसे हम परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व भी कह सकते हैं।

3.3 स्त्री आत्मकथाओं में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व

पंरपरा और आधुनिकता को समझने का संदर्भ विविध है लेकिन उनमें से एक संदर्भ स्त्री–पुरुष जीवन में आए बदलाव भी है। आधुनिकता की वजह से स्त्री–पुरुष के जीवन में आए बदलाव ने न केवल स्त्री–पुरुष संबंधों को बदला है बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को भी बदला है। जिस कारण से परिवार, समाज और देश में विभिन्न स्तर पर परिवर्तन हुआ है। स्त्री आत्मकथा में इस बदलाव को सहजता से महसूस किया जा सकता है। साथ ही यह भी देखा जा रहा है कि इस बदलाव में मानसिक बदलाव एक सकारात्मक दिशा के बजाय द्वंद्वात्मक स्थिति में बहुतायत स्थिति में है। स्त्री जीवन के विकास में आए उतार चढ़ाव को स्त्री आत्मकथाओं ने बहुत ही बारीक ढंग से रेखांकित किया है। इस रेखांकन में ही विभिन्न द्वंद्वात्मक स्थिति को स्पष्टतः देखा जा सकता है।

किसी भी समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व वहां के सामाजिक परिवर्तन में देखा जा सकता है। यह परिवर्तन आमूलचूल परिवर्तन से लेकर फैशन आदि में होने वाले अति सामान्य परिवर्तन तक है। इसमें सामाजिक व्यवस्था से लेकर संस्कृति तक में होने वाले मूल्य भी शामिल है। रीति–रिवाज से लेकर भाषा–बोली, धर्म और विचारधारा से लेकर जीवन–शैली, तौर–तरीके से लेकर आचार–विचार, बोलचाल से लेकर फैशन परस्त आदि सभी में होने वाले परिवर्तन को भी देखा जाता है। उदाहरण के तौर यह भी देखा जा सकता है कि प्राचीन काल से हिंदू समाज की स्त्रियां पतियों का नाम नहीं लेती थीं लेकिन आज वे लेती हैं। यह गांव से लेकर शहर, सभी जगहों में दिखाई देता है लेकिन इसके बावजूद आज यह भी देखा जा सकता है कि यह पुरानी जड़वादी सोच आज भी विद्यमान है। प्राचीन काल में स्त्रियां साड़ी या पारंपरिक पोशक को ही पहन सकती थीं लेकिन आज वे अपनी मर्जी से, अपने पसंद से फैशन को अपनाती है। इतना ही नहीं, यह परिवर्तन आजादी के मूल्यों

के साथ हमारे समाज में संवैधानिक मूल्य का विकास और उसे अधिकार के तौर पर मांग भी सामाजिक परिवर्तन है। लेकिन पौराणिक जड़वादी मूल्यों के साथ आधुनिक संवैधानिक मूल्यों का द्वंद्व भी लगातार देखने को मिलता है। पहले पुरुषों के सामने स्त्रियों को बोलने की आजादी नहीं थी लेकिन आज यह धारणाएं टूट रही हैं। स्त्रियां अपनी स्वतंत्रता, अस्मिता, अस्तित्व, गरिमा और न्याय आदि के लिए लगातार संघर्ष कर रही है। इस प्रक्रिया में कहीं पुरानी मान्यताएं टूट रहीं हैं तो कहीं आधुनिकता के नाम पर फैशनेबुल बातें भी हो रही हैं। आदर्श संयुक्त परिवार से लेकर एकल परिवार की धारणा और अब 'डिंक'(डबल इंकम नो किड) की सोच विकसित हो रही है। यह सामाजिक परिवर्तन नही तो और क्या? लेकिन इसी के साथ यह भी विचारणीय सवाल है कि समाज में बेटी की चाह में कन्या भ्रूण हत्या और लिंगानुपात बढ़ता जा रहा है।

भारत में परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व का एक पहलू यह भी है कि जैसा कि रविभूषण पाण्डेय ने टी बी बाटमोर के हवाले से लिखा है कि ''भारत में आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियां, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि बढ़ी हैं परंतु उसी अनुपात में सामाजिक संरचना एवं नियमों तथा मूल्यों में परितर्वन नहीं हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप भारतीय बुद्धिजीवी जनता से कट गए हैं अथवा उन्हें बार बार दोहरी मान्यताओं का सामना करना पड़ता है।''[8] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में आधुनिकता और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की राजनीति या अर्थवादी दुनिया में जितना तेजी से बढ़ा है उसी अनुपात में सामाजिक–सांस्कृतिक स्तर पर नहीं देखा जा सकता है। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन नहीं हुआ है। जिस कारण से भारतीय समाज में जहां एक तरफ दोहरी मानसिकता का विकास हुआ है वहीं सामाजिक अलगाव या एक–दूसरों के बीच की दूरियों को भी समझा जा सकता है। जिससे व्यक्ति, परिवार और समाज में द्वंद्व की स्थिति पैदा हुई है और हो रही है।

द्वंद्व की स्थिति ''स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री–पुरुष जीवन के संबंध के संदर्भ में बहुतायत देखा जा रहा है। 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी इस द्वंद्व को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं कि ''मेरे लिए तो बस यही बड़े सुख संतोष की बात थी कि एक लेखक–स्थापित, यशस्वी और पूरी तरह लेखक –मेरे मित्र हैं।''[9] लेकिन सवाल उठता है कि क्या मन्नू की मनोमस्तिष्क में जिस मित्र की काल्पनिक यथार्थ तस्वीर है वही उनके जीवन में आई या नहीं? संभवतः ऐसा नहीं होने के कारण ही पितृसत्तात्मक सोच को उजागर करती हुई भैरवप्रसाद गुप्त की टिप्पणी को वे बेबाक लिखती है कि ''मन्नू भंडारी मेरी खोज है और राजेन्द्र यादव की प्राप्ति।''[10] अर्थात् भैरव प्रसाद गुप्त की खोज मन्नू रही है और राजेन्द्र यादव ने उसे प्राप्त कर लिया है। क्या यह पुरुष मानसिकता नहीं। क्या यह दो पाटन के बीच का द्वंद्व नहीं? मन्नू के मन के यथार्थ और दो पाटन के बीच के द्वंद्व के संदर्भ में मधु कांकरिया पितृसत्ता के रूपों के मर्म को खोलती है। वे लिखती हैं कि जिस अकल्पनीय शिखर तक पहुंचने के लिए विप्लव का बिगुल बजाया, उस शिखर तक पहुंचना तो दूर की बात, पांव के नीचे की जमीन तक धधकी मिली। जिसे जैकपॉट समझा, वे सैकंड हैंड निकलें।''[11] अर्थात् यह मन्नू भंडारी की मानसिक द्वंद्व ही है कि जिसकी वह उम्मीद करती है और जिससे करती हैं वह यथार्थ में नहीं होता है।

भारतीय समाज में विवाह एक संस्कार के रूप में माना गया है। 'संस्कार' शब्द और 'विवाह प्रक्रिया' को लेकर किसी को सहमति–असहमति हो सकती है लेकिन 'विवाह' संबंध के औचित्य को नकारा नहीं जा सकता है। आधुनिकता के फैशन में इस पारंपरिक मूल्य को न तो 'बंधन' कहा जा सकता है और न ही इसे सामंती मूल्य कहा जा सकता है। विवाह के प्रति पारंपरिक और आधुनिकता का एक द्वंद्व हमेशा से ही विद्यमान रहा है परंतु विवाह के प्रति 'पुरुषवादी' नजरिया समस्या हो सकती है। नीरू ने बहुत ही अच्छा सवाल परंपरा और आधुनिकता के बीच विवाह–प्रेम को लेकर किया है कि ''विवाह संस्था की उपयोगिता, सार्थकता और अनिवार्यता के प्रति सशंकित और उन्हें सामंती मूल्य मानने वाला पुरुष लेखक फिर विवाह बंधन में बंधता ही क्यों है? विवाह संस्था के बाहर अपने नए–नए प्रेम, सेक्स अनुभवों के सहारे ही वह जीवन क्यों नहीं बिता देता? आखिर समय के एक बिन्दु पर आकर वह विवाह का निर्णय क्यों कर लेता है? कहां चली जाती है उसकी सारी क्रांतिधर्मिता? क्या विवाह का उसका निर्णय मात्र सामाजिक–पारिवारिक दबाव से उपजता है? या फिर सुविधाकामी पुरुष के लिए प्यार भरी देखभाल की इससे बेहतर व्यवस्था संभव ही नहीं है–इसलिए? क्या है पुरुष का यह मनोविज्ञान कि वह घर भी चाहता है और उससे मुक्ति भी।''[12] इस प्रकार कहा जा सकता है कि विवाह को पुरुष अपनी नजरिया से ही अभी तक देखते आया है। इसमें कभी भी स्त्रियों की इच्छाओं को महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। इसी का कारण है कि जिसकी ओर नीरू संकेत कर रही है कि वह घर भी चाहता है और उससे मुक्ति भी। यह तो पितृसत्तात्मक नजरिया ही है। यह तो न उचित ही कहा जा सकता है और न ही वह किसी भी समाज में स्वीकृत होगा कि कोई भी स्त्री या पुरुष विवाह की प्रक्रिया से गृहस्थ जीवन में प्रवेशकर घर भी बसा लें और घर की जिम्मेदारी से मुक्त होकर किसी और से प्रेम भी करें। या 'मुक्ति' के नाम पर कहीं भी शारीरिक संबंध में बंध जाए। इस प्रकार की मानसिकता किसी भी प्रस्थिति में न स्त्री के लिए और न ही पुरुष के लिए स्वास्थ्यप्रद है और न ही स्वस्थ्य समाज के लिए ही स्वीकार्य होगा।

मन्नू भंडारी ने अपनी आत्मकथाओं में इस मनोविज्ञान का विश्लेषण करती हुई लिखती हैं कि ''वैवाहिक संबंध की गरिमा का निर्वाह न कर पाने वाले व्यक्ति के लिए विवाह संस्था के विरूद्ध झंडा उठाए फिरना वाजिब ही नहीं, अनिवार्य भी है। लेकिन फिर विवाह किया ही क्यों? यदि मीता ने विवाह से इंकार करके परिणीता बनकर रहना स्वीकार नहीं किया तो इतना आहत होने की जरूरत? बार–बार विवाह का आश्वासन देकर 'डिच' करने पर अपराधबोध से त्रस्त होने का औचित्य? संबंध तो चल ही रहे थे–बस, जिस विवाह में विश्वास नहीं, केवल वही तो नहीं किया था?''[13] इस संदर्भ में यह प्रकरण बहुत ही मार्मिक और चिंतनीय है कि राजेन्द्र यादव ने मन्नू से विवाह के बाद स्वतंत्र और मुक्त होने की बात करते हैं। 'छत एक जिंदगी अलग–अलग' यह जिंदगी की कैसी विडम्बना है। यह संभव भी कैसे होगा। यह तो मानवीय जीवन का यांत्रिकीकरण है जिसमें यंत्र अपने अपने ढंग से गतिशील रहे कोई फर्क नहीं पड़ता है। इसी यांत्रिकता की संस्कृति को महसूस करती हुई मन्नू भंडारी जब लिखती हैं कि ''देखो, छत जरूर हमारी एक होगी लेकिन जिंदगियां अपनी अपनी होगी–बिना एक–दूसरे की जिंदगी में हस्तक्षेप किए बिलकुल स्वतंत्र, मुक्त और अलग।''[14] तो पुरुषवादी मानसिकता इसी मुक्ति पर प्रश्नचिह्न लगाती है। यह वह सोच है जिसमें राजेन्द्र यादव सामाजिक संस्था का सहारा लेकर जीवन

में मुक्त होने की बात सोचते हैं। यह आधुनिक पितृसत्ता नहीं तो और क्या है! यही भारतीय समाज का सबसे बड़ा अंतर्विरोध भी है और पितृसत्ता का दीवार भी। विवाह से मुक्त होकर पितृसत्ता का विरोध और वैवाहिक सुख भी संभव है तो फिर विवाह का नाटकीय प्रकरण क्यों? इसी द्वंद्व को समझने की जरूरत है और जब तक इसे नहीं समझा जाता है तब तक परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व चलता रहेगा। इस संदर्भ में नीरू ने सहजीवन और सम–सह संबंध का बहुत सही ही विश्लेषण किया है कि ''अपनी स्वतंत्रता का कामी पुरुष कैसे चतुराई से आधुनिकता की आड़ में अपनी पत्नी की स्वतंत्रता की भी घोषणा करता हुआ अपनी आजादी और मनचाही जिंदगी के लिए रास्ता साफ कर रहा है। आधुनिकता की आड़ में विवाह संस्था का कैसा मनमाना और मनचाहा अर्थ निकाला जा रहा है! लेकिन वह पत्नी क्या करें, जिसके लिए विवाह एक परंपरागत अर्थ ही सबकुछ है दो तन मगर एक प्राण!''[15] इस संदर्भ में मन्नू भंडारी के मनोभाव को समझा जा सकता है जिसकी इच्छा, आकांक्षा और स्वप्न कुछ और थी जो कि लगभग सभी स्त्रियों की हुआ करती है। उन्हीं के शब्दों में '' मैं तो साथ आई थी सब तरह के अलगाव को दूर करके एक हो जाने के लिए, पूरी तरह घुल मिल जाने के लिए। यह सब सुनकर तो मुझे कि सिर पर छत का आश्वासन देकर जैसे पैर के नीचे की जमीन ही खींच ली हो।''[16] लेकिन सवाल उठता है कि अंतरंग मित्र के रूप में राजेन्द्र यादव जो मन्नू भंडारी के जीवन में प्रवेश करते हैं वे अपनी इस आधुनिकता के विषय में विवाह पूर्व जिक्र तक नहीं करते हैं क्यों? क्या वे एक तरफ परंपरा का निर्वाह कर अपनी सुविधा से अपनी जिंदगी को देख रहे थे वहीं आधुनिकता को भी अपने मानदंड से रेखांकित कर रहे थे। यही द्वंद्व दोनों के जीवन में विकट संकट के रूप में व्याप्त हो गया जिसका दुष्परिणाम मन्नू भंडारी को एक नए जीवन में जीना पड़ा। राजेन्द्र यादव के इस आधुनिकता को जिसे मन्नू भंडारी ने रेखांकित किया गिरिराज किशोर ने बहुत ही सही दिशा दिया है कि ''एक तरफ सशक्तिकरण की बातें करें और दूसरी तरफ संत्रास झोंके तो न तो सशक्तिकरण की हिमायत का कोई मतलब होता है और न उस संबंध का, जिसके लिए आपके मन में कोई सम्मान नहीं।''[17] इसका आशय यह है कि स्त्री सशक्तिकरण के लिए न तो संत्रास की जगह है और न ही स्त्री के प्रति झूठे सम्मान या उसके हिमायती बनने की जरूरत।

एक ही छत के नीचे दो सामानांतर जिंदगियां जीने का आधुनिकतम पैटर्न थमाने वाले राजेन्द्र यादव ने अपनी अपनी जिंदगी का जो बंटवारा किया उसकी एक तस्वीर मन्नू भंडारी इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं कि ''अपनी अपनी जिंदगी का जो बंटवारा हुआ, उसमें घर की सारी जिम्मेदारियां और समस्याएं–आर्थिक से लेकर दूसरी तरह की –मेरे जिम्मे थीं, जिसमें मुझे राजेन्द्र की दिलचस्पी की ही नहीं, सहयोग की भी जरूरत रहती थी, लेकिन उसे तो राजेन्द्र ने मेरा अधिकार क्षेत्र घोषित कर रखा था। मेरे अधिकार क्षेत्र में कभी भी न झांकने की, न किसी तरह की दिलचस्पी लेने की और न ही कोई हस्तक्षेप करने की बेहद उदारवादी मुद्रा ओढ़कर एक बड़ी वाजिब और तर्कसंगत अपेक्षा ये करते थे कि मैं भी इनके अधिकार क्षेत्र में न कभी झांकू, न किसी तरह की दिलचस्पी लूं। इनके अधिकार क्षेत्र में थे इनके निजी संबंध और सरोकार जब–तब,जहां –तहां घूमने फिरने की और जब मन हुआ बिना पीछे की जरा भी चिंता किए कलकत्ता से भाग निकलने की छूट।''[18] अर्थात् जिस सहजीवन की उम्मीद मन्नू भंडारी को राजेन्द्र यादव से थी ठीक विपरीत उसके जीवन का संघर्ष मिला। यही

उनके जीवन का बदलाव है। मन्नू भंडारी ने अपने संघर्ष के बल ही अपने जीवन को नया स्वरूप दिया। सवाल उठता है कि ऐसा असमान विभाजन और द्वंद्व संबंधों में क्यों? पत्नी के प्रति ऐसी उपेक्षा का व्यवहार क्या भारतीय सामंती संस्कार का परिचायक नहीं? जो आधुनिकता के रंग में रंगी हुई है। अपनी रचनाओं के पात्रों में अपनी सारी सहानुभूति देने वाला लेखक अपने निजी जीवन में, अपनी पत्नी के प्रति इतना कठोर क्यों? अपने सहजीवनी के मन को पढ़ने में विफल क्यों? इस यथार्थ और परंपरा–आधुनिकता के द्वंद्व के मनोविज्ञान को आज सबसे ज्यादा समझने की आवश्यकता है तभी जाकर स्त्री सशक्तिकरण, पितृसत्ता के तंत्रों तथा विकास की रेखा को समझा जा सकता है। जिसे न समझने के कारण ही मन्नू भंडारी जैसे तमाम स्त्रियों का जीवन कई संकट से गुजरता रहा है। जिसके प्रति आक्रोश और विद्रोह की चिंगारियां सभी स्त्रियों में उत्पन्न होने की जरूरत है। इसलिए मन्नू भंडारी लिखती हैं कि ''मेरे पास आज अगर कुछ है तो हर दिन के साथ बढ़ती छटपटाहट और लगातार रिसते–टूटते आत्मविश्वास की कचोट?''[19] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक सोच के कारण ही मन्नू भंडारी जैसी पढ़ी–लिखी व्यवस्था की चक्की में पीसती, छटपटाती हुई घुटन की जिंदगी जीती है।

विशिष्ट होने और बने रहने का द्वंद्व भी भारतीय समाज तथा साामाजिक संरचना में ही निहित है। मन्नू भंडारी अपनी आत्मकथाओं में स्वयं को विशिष्ट पुरुष कहलाने वालों की कहानी को उजागर करती है। जिसमें वे अपने पिता से लेकर पति राजेन्द्र तक के विशिष्ट होने और उसके अंतर्विरोध को बनाए रखने की प्रक्रिया के बारे में लिखती है। उन्हीं के शब्दों में, ''एक ओर विशिष्ट बनने और बनाने की प्रबल लालसा तो दूसरी ओर अपनी सामाजिक छवि के प्रति भी उतनी की सजगता। पर क्या यह संभव है? क्या पिता जी को इस बात का बिल्कुल भी अहसास नहीं था कि इन दोनों का तो रास्ता ही टकराहट का है।''[20] डॉ. नीरू ने इस संदर्भ में बहुत ही सटीक विश्लेषण किया है कि विशिष्ट बनने की चाह में पारंपरिक सामाजिक छवि तो ध्वस्त होती ही है, मर्यादाएं भी टूटती हैं मगर मुख्य विचारणीय बिंदु यह है कि जिस विशिष्टता या जिस नएपन की तलाश में यह सब हो रहा है, उसका स्वरूप क्या है? और जो टूट रहा है, ध्वस्त हो रहा है–वह समाज के लिए कितना उपयोगी या अनुपयोगी था?''[21] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि विशिष्ट बनने या होने में पुराने और नये का जो विध्वंस है, या टूटन है वह समाज के लिए कितना उपयोगी है या अनुपयोगी है। इस पर विचार करना जरूरी है।

परंपरा और आधुनिकता के बीच नैतिकता जैसे मूल्य हमेशा ही मौजूद रहे है। आज तक नैतिकता का कोई निश्चित पैमाना समाज में नहीं देखने को मिलता है। सभी व्यक्ति और समुदाय अपने अपने ढंग से नैतिकता को परिभाषित करते आ रहे हैं। जो एक लिए नैतिक है वह दूसरे के लिए अनैतिक कैसे हो सकता है? इन्हीं प्रतिमानों या दूहरी नीति का तफसील करती हुई प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में परंपरा और नैतिकता जैसे सापेक्ष प्रश्नों को अपने ही तर्कों द्वारा अपने पक्ष में प्रस्तुत करती है। डॉ. सर्राफ से उनका नजदीकी संबंध होना और उसके बांहो में समा जाना और फिर समाज परिवार का डर, यह द्वंद्व देखने को मिलता है आखिर क्यों? जहां एक तरफ प्रभा खेतान बेखौफ और निडर, वहीं डॉ. सर्राफ को अचानक समाज,

परिवार और अपनी प्रतिष्ठा याद आने लगती है। प्रभा खेतान इस हवाले से लिखती हैं कि वे कहते हैं ''भविष्य में हमें नहीं मिलना चाहिए।''[22] सवाल उठता है यदि आप प्रेम करते हैं तो इतना सामाजिक खौफ क्यों? वह कौन सी नैतिकता है कि जब आप उस व्यक्ति से प्रेम करते हैं तो उस पर विचार नहीं करते है या आपके लिए प्रेम सिर्फ एक शारीरिक संबंध बनाने का जरिया है? भौतिक सुख प्राप्ति के बाद क्यों? क्या वह प्रेम सिर्फ भौतिक सुख की प्राप्त का नहीं? क्या यह पितृसत्तात्मक सोच नहीं? इस पर प्रभा खेतान की प्रतिक्रिया को समझने की जरूरत है। वे लिखती हैं कि ''मेरी हथेलियां पसीज गई, माथे पर पसीने की कुछ बूंदे छलक आई। भला यह भी कोई निर्णय हुआ? अपने ही सुख के खिलाफ यह कैसा आत्मघाती निर्णय। हमें फिर कभी नहीं मिलना चाहिए। मगर क्यों? क्या अब मैं कभी इन होठों को नहीं छू पाऊंगी। हमेशा हमेशा के लिए इस व्यक्ति से जुदा हो जाऊं, मगर क्यों? किसलिए ? कौन हैं वे लोग जिनसे एक पुरुष को, वह भी इतने स्थापित डॉक्टर को डर लगता है। जबकि डर तो मुझे लगना चाहिए था।''[23] यह द्वंद्व लगातार चलता रहता है। लेकिन प्रभा खेतान इस द्वंद्व और सामाजिकता को लगातार चुनौती भी देती है और उसे स्वीकार भी कर रही है। ''मैं तुमसे वापस मिलने के लिए खुद कितना बेताब हूं''[24] कहने वाले डॉ. सर्राफ अपने संबंधों के बीच द्वंद्व की स्थिति में है। इसलिए वे कहते हैं कि '' तुम जानती हो मैं एक विवाहित पुरुष हूं, मेरा परिवार है, समाज है, तुम इस आग में मत कूदो, यह मेरा नरक है मुझे इसमें अकेले रहने दो।''[25] सवाल उठता है कि जिसे डॉ. सर्राफ नरक कहता है वह संबंध में आने से पहले क्यों नहीं सोचा! यहां डॉ. सर्राफ का अपराधबोध भी है और इसके साथ प्रभा का भविष्य भी। संभवतः यही वजह है कि इसे छिछली भावुकता कहते हुए वे कहते हैं कि ''छिछली भावुकता में कुछ नहीं रखा, पांच सात बार का मिलना कुछ चुम्बन और आलिंगन, इसे प्यार तो नहीं कहा जा सकता है। इसके लिए ताउम्र तुम कुंआरी तो नहीं बैठी रहोगी।''[26] डॉ. सर्राफ जिसे 'छिछली भावुकता' और 'प्यार' कहने से मना करता है क्या वह पितृसत्ता नहीं है? जो एक तरफ शारीरिक सुख की भी इच्छा रखता है वहीं दूसरी ओर उसके अस्तित्व को नकारता भी है। प्रभा खेतान यह सब कहां मानने वाली थी वह तो चल पड़ी अपने चयन के पथ। यह पथ कितना सही या गलत है, इसकी परवाह उसे कहां? इसलिए वे कहती है कि ''मुझे पता था जिस राह पर मैं चल पड़ी हूं वह गलत सही जो भी हो पर वहां से वापस मुड़ना संभव नहीं। इसे ही प्रेम कहते हैं और मुझे अपने प्यार पर पूरा भरोसा था।''[27] क्या सच में प्रभा खेतान जो फैसला लेती है वह सही है और उनका यह निर्णय उचित है? सारी दुनिया में उसे जिस पर विश्वास है वह सचमुच में वैसा ही खरा उतरता है। ''सारी दुनिया में यही एक पुरुष है जो मेरा है मेरे लिए हैं''[28] कहने वाली प्रभा खेतान कहां रूकने वाली थी उस पुरुष के अन्याय, अत्याचार के सामने जिन्होंने यह घोषित कर दिया हो कि ''क्या तुम्हारे प्रति सारी जिम्मेदारी मेरी है? तुम्हारा अपना आचरण? मैंने तुम्हे फुसलाया या फिर तुम्हारी अपनी जिद थी? ऐसी कौन सी बड़ी गलती की मैंने? क्या विवाहित पुरुष दूसरी औरत से खेलता नहीं? मैंने कुछ अनोखा किया? मैं फिर कहता हूं मेरी तुम्हारे प्रति कोई जवाबदेही नहीं। हम दोनों के बीच जो भी घटा वह क्षणों की कमजोरी थी, जब कोई लड़की गले पड़ती हो तो क्या करे बेचारा पुरुष?''[29] दरअसल इन वाक्यों की गहराई में जाए तो यह स्पष्ट होता है कि डॉ. सर्राफ की बातें में पितृसत्ता की सारी धारणाएं निहित हैं जो एक स्त्री को वस्तु में तब्दील करता है, उस पर अपना

अधिकार समझता है लेकिन उसके प्रति अपनी कोई जिम्मेदारी नहीं लेता है, उसे कोई अधिकार नहीं देता है। डॉ. सर्राफ प्रभा खेतान के साथ इन्हीं जिम्मेदारियों और अधिकारों से मुक्त रहने के लिए ऐसा कहता है, क्योंकि वह जानता है कि प्रभा ऐसा ही करेगी। अन्यथा बाद में यदि वह अपना अधिकार जमाना शुरू कर दी तो जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ेगी। और इसी की काट प्रभा खेतान डॉ. सर्राफ की कमजोरियों को समझते हुए जिन जिम्मेदारियों से मुक्त होने की बात डॉ. सर्राफ ने किया उसी के प्रत्युत्तर में प्रभा खेतान कहती है कि ''एक विवाहित व्यक्ति को जिस मर्यादा में रहना चाहिए था, उसमें आप नहीं रहे।''[30] इस द्वंद्व और सवाल–जवाब को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि वैवाहिक जीवन की मर्यादा यदि डॉ. सर्राफ ने तोड़ी है और अपराध किया है तो वह खुद भी तो एक विवाहित पुरुष के साथ संबंध जोड़कर अपराध की भागी बनी है। वास्तव में प्रभा खेतान का सारा व्यवहार कुछ ऐसे ही द्वंद्व पर टिका है। वह 'विवाह संस्था' का विरोध करती है, पत्नीत्व को चुनौती देती है मगर सारी उम्र उसी अधिकार को पाने के लिए तरसती भी रहती है जो एक पत्नी का सहज प्राप्य है। दरअसल में प्रभा खेतान एक जीवन साथी के सभी अधिकारों को पाना चाहती थी। लेकिन वह डॉ. सर्राफ के साथ जैसे जुड़ने की जज्बात के साथ आई थी उसमें वह इसे न चाहने की मांग कर दी थी मगर यह संभव कहां था जैसे–जैसे समय बीतता गया सब कुछ की इच्छाएं प्रबल होती चली गई। क्यों न हो भी प्रेम का अधिकार आप जिसे दे रहे हैं उससे अपेक्षाएं क्यों न हों?

भारतीय समाज में सामान्यतः विवाह की प्रथा हिंदू धर्म के अनुसार ही संचालित है। 'अन्या से अनन्या' में हिंदू धर्म में विवाह के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। ''ईसाई धर्म में जहां नाजायज संबंधों एडल्ट्री को पाप ठहराया गया है वही ''हमारे हिंदू धर्म में इसे पाप नहीं कहा गया। मैंने अपने हिंदू पंडित से पूछा है। हमारे शास्त्रों में बहुविवाह का प्रचन है । मन से वरण करने को हम गंधर्व विवाह कहते हैं। यह तो 1952 में हिन्दू मैरिज एक्ट के कारण एकल विवाह का प्रचलन बढ़ा। लेकिन कानून बना देने से कोई परंपरा खत्म नहीं हो जाती।''[31] इससे स्पष्ट है कि 1956 के मैरिज एक्ट के कारण बहुविवाह प्रथा खत्म होती है लेकिन बहुविवाह प्रथा और नाजायज संबध दोनों में अंतर है या नहीं? लेकिन प्रभा खेतान तो विवाह संस्था के खिलाफ जीवन जी रही है और अपने संबंधों को उचित ठहरा रही है? आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी जीवन की हूबहू नकल करता समाज भी यहां है और परंपरा के नाम पर जड़ रूढ़ हो चुका समाज भी यहां विद्यमान है। प्रगति के सही मायने जान कर स्त्री–पुरुष दोनों के स्वतंत्र व्यक्तित्व व दायित्वपूर्ण आचरण की पैरवी करने वाला वर्ग चाहे अल्पसंख्या में ही सही, मगर उभरने लगा है यहां!

वैयक्तिक स्वतंत्रता बनाम सामाजिक पहचान का द्वंद्व। दोनों सदा एक–दूसरे के अनुकूल नहीं होते बल्कि सच तो यह है कि प्रायः ये एक–दूसरे के विरोधी ही होते हैं। व्यक्ति सारी उम्र इस या उस घेरे में रहकर प्रतिपक्षी से आहत होता रहता है। समाज में साफ सुथरी अच्छी छवि चाहिए तो अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता को कुचल समाज के बने बनाए सांचों में ढालते रहो (या दबे रूप में अपनी इच्छाओं को पूरा करते रहो।) वे सांचे अच्छे हैं या बुरे यह सोचने का जोखिम मत उठाओ। समाज की जड़ीभूत परंपराओं का विरोध करने वाले को क्रूर निर्मम समाज ने या तो बहिष्कार कर दंड दिया है या सूली पर चढ़ाया है या जहर का प्याला पीने पर

विवश किया है। इसके बावजूद विद्रोह की एक लहर चलती रही है जो रूढ़िवादिता और जड़ता के खिलाफ लड़ाई कर समाज को गतिशील करता रहा है। स्त्री आत्मकथाओं को इस रूप में देखने पर कई विकासशील परंपरा को समझा जा सकता है। डॉ. सर्राफ के साथ जीवन जीने का संकल्प भी बनी बनाई सामाजिक ढांचे का विरोध था तो यह उपक्रम भी उनकी अपनी पहचान के लिए था।

परंपरा और आधुनिकता के बीच द्वंद्व को संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में भी समझने की जरूरत है। संस्कृति के विविध रूपों को मानवीय अस्तित्व के साथ ही देखा जा सकता है। संस्कृति का जन्म मनुष्य के अस्तित्व के कठोर संघर्ष की जरूरत से हुआ है। दुनिया के लगभग सभी जीव अपने अस्तित्व की रक्षा प्रकृति और आनुवंशिकी से प्राप्त स्वतः स्फूर्त प्रतिक्रियाओं और गुणों से करते हैं। अपनी अस्तित्व रक्षा की इसी मजबूरी से मनुष्य की संस्कृति विकसित हुई है, लेकिन धार्मिक–संस्कृति के ठेकेदारों ने मठों के माध्यम से धर्म के नाम पर स्त्री के मूल्य एवं गरिमा को नष्ट सा कर दिया है। जिससे यहां की संस्कृति राजनीति की शिकार हो गई है। भारतीय समाज में एक तरफ स्त्री को देवीस्वरूप कहा जाता है तो दूसरी उसको अमानवीय शब्दों से भी नवाजा जाता है। यह जो द्वंद्व पैदा है वह परंपरा और आधुनिकता की देन है। सांस्कृतिक तौर पर स्त्री को देवीस्वरूपा कहने वाले लोग उन्हीं स्त्री रूप को समाज में मानव अस्तित्व के रूप में नहीं समझा जाता है क्यों? स्त्री आंदोलन में स्त्री को मानवीय अस्तित्व के रूप में स्वीकार करने की बात की जाती है तो वह आधुनिकता चेतना एवं भारतीय संविधान सम्मत ही तो है। यूं भी कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में व्यक्ति की स्थिति और भूमिका समसामयिक सामाजिक मूल्य तथा आदर्शों पर आधारित होती है। कोई भी स्थिति चिरस्थायी नहीं है और न रह सकती। समय के साथ सामाजिक परिस्थितियां बदलती रहती हैं। इन परिस्थितियों के साथ–साथ परम्परागत आदर्शों व मूल्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की स्थिति में भी परिवर्तन आता है। परिवर्तन का यह ज्ञानबोध शिक्षा व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। स्त्री आंदोलन में यदि हमारी शिक्षा व्यवस्था को चुनौती दी जा रही है तो उसका मतलब यह है कि शिक्षा व्यवस्था के कारण जो स्त्री–पुरुष में अलगाव या भेदभाव पैदा होता है, उसे खत्म करना। रेखा कस्तवार अपनी पुस्तक 'स्त्री चिंतन की चुनौतियां' में शिक्षा में भेदभाव की नीति को उजागर करती हुई लिखती है कि ''व्यक्ति शब्द के उच्चारण में यद्यपि पुरुष और स्त्री दोनों समाहित हैं, पर सभ्यताओं के विकास ने स्त्री और पुरुष को दो अलग–अलग खेमों में डाल दिया है। भारत ही नहीं विश्व की सभ्यतम कही जाने वाली परम्पराओं में स्त्री के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण नारी छवि के विवेचन का महत्वपूर्ण मानदंड है।''[32] अर्थात् सामाजिक व्यवस्था में नारी की छवि को लेकर जो मानदंड तैयार किया गया है। उसपर पुनर्मूल्यांकन की जरूरत है। पुनः विचार करने की जरूरत है।

समाज में शिक्षित और साक्षर दोनों का द्वंद्व हमेशा से ही रहा है। शिक्षित चेतनाशील होते हैं वहीं साक्षर में इस चेतना का अभाव होता है। स्त्री आत्मकथाओं में यह द्वंद्व स्पष्ट तौर पर समझी जा सकती है। दिनेशनंदिनी डालमिया एक शिक्षित स्त्री है। अपनी बौद्धिकता की वजह से समाज में उनकी अपनी जगह है लेकिन इस जगह को बनाने में उनका संघर्ष भी कम नहीं है। उन्हीं के शब्दो में, "मुझे लगता है, मैं अपने पद के अनुरूप ही संवाद करती थी। अपने विषय में भी जो कुछ कहती अतिरिक्त तटस्थता के साथ ही कहती। स्त्रियां

उपन्यास के पात्रों की तरह भौंचक होकर मेरी बातें सुनती – शायद मेरे भाग्य से ईर्ष्या भी करती। 'ये कितनी भिन्न थी' – एक हिन्दू पत्नी के कर्तव्यों से और उसके बदले में मिलने वाली सुरक्षा की भावना से।''[33] अर्थात् एक हिंदू पत्नी के रूप में अपने कर्तव्य को देखना और अपनी सुरक्षा को देखना है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अपने पद के अनुरूप ही संवाद करना। यह भी एक प्रकार का द्वंद्व है जो सामाजिक विभाजन को रेखांकित कर जाता है। यदि मनुष्य के तौर पर डालमिया बात करती तो क्या उसका कद घट जाता? शायद वे स्त्रियां भी जो उपन्यास की पात्र की सुनती थी और ईष्या करती थी वह भी साथ आ जाती!

सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक भिन्नता के कारण ही किसी व्यक्ति की व्यक्तित्व की गरिमा पर चोट किया जाता है। इसमें तमाम तरह के भेदभाव की भूमिका अहम होती है। दिनेशनंदिनी डालमिया जब रंगभेद की नीति के कारण खुद को अपमानित महसूस करती हैं तो वह इसका विरोध करती हैं। इसी क्रम में वे लिखती हैं –मुझे उसने बैठने को कहा। यह पहला मौका था जब मुझे पता लगा कि रंगभेद की कमीनी भावना से कितने लोग इस तरह अपमानित और प्रताड़ित होते हैं। मुझे डॉक्टरनी पसदं नहीं आयी, और मैंने वहां से भागना चाहा। इसी तरह का सबक मुझे एक बार भारत में भी पड़ा था। वह भी एक आंग्ल स्त्री ही थी – मुन्नी की मां की डॉक्टर। जब वह पहले पहल मुझे देखने आयी तो मुझे बुरी तरह झंझोड़ा कि मैं चीख उठी और पूरा शरीर एक दुखन बन गया। उसने झूठ ही इनसे कह दिया कि मैं आसन्न प्रसवा नहीं हूं।''[34] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पढ़ी लिखी जनता भी कहीं न कहीं भेदभाव की भावना या पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर काम करती है। समाज में द्वंद्व की स्थिति पैदाकर समाज को विकास की ओर से भटकाने वाला काम करता है। वे अपने सामने खड़े मनुष्य के अस्तित्व को नकारता है। इसी संदर्भ में डालमिया के पति जब यह कहकर परिचय देता है कि "ये मंदा है, भगत जी बड़ी विदुषी, कई पुस्तकों की लेखिका हूं'[35] इनकी शैक्षणिक और बौद्धिकता की छाप इनके साहित्य में खूब दिखाई पड़ती है। पुस्तकीय ज्ञान और व्यवहारिक ज्ञान में भी द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। वहीं कुसुम अंसल अपनी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' में लिखती है कि "पता नहीं घटनाओं का प्रवाह मेरे अन्तर्मन को बिना छुए क्यों चला जाता है? पुस्तके, वेदान्त अवश्य ही मुझे एक परिपूर्णता प्रदान करता था परन्तु फिर भी मन के किसी अज्ञान कोने में एक शून्यता थी जो जैसे जमी खड़ी थी, जो कभी–कभी एक दुखन–सी टीस जाती थी।''[36] अर्थात् कहा जा सकता है कि सब कुछ रहने के बावजूद भी मन कहीं लगता है। मन किसी द्वंद्व में विचरण करता रहता है। इसी कारण से जीवन में शून्यता भी महसूस होती है और वह दुःख–टीस में तब्दील हो जाता है। स्त्री आत्मकथाओं में यह द्वंद्व व्यक्तिगत संबंधों से लेकर पारिवारिक संबंधों, समाज–राष्ट्र के संबंधों में, शिक्षा–अशिक्षा आदि सभी में पारंपरिक सोच–विचार एवं आधुनिक सोच–विचार के बीच एक द्वंद्व के रूप में व्याप्त है। कहीं यह संस्कारबद्ध है तो कहीं उससे मुक्त। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों ने जब अपनी पहचान, अपनी गरिमा, अपने अस्तित्व और अस्तित्व के लिए खड़ा होती हैं तो इस क्रम में कहीं पुरानी व्यवस्था टूट रही होती हैं तो कहीं आधुनिकता पर प्रहार किया जाता है। यह सब किया जाता है सामाजिक मान्यताओं एवं पारंपरिक रूढ़िवादिताओं के कारण। सभी स्त्री आत्मकथाकार की अपनी एक पहचान है। उनकी अपनी बौद्धिकता भी है और जीवन जीने के मानदंड भी। इसके बावजूद भी वह भारतीय समाज की पारंपरिक सोच से

मुक्त होने में कामयाब नहीं हैं। प्रभा खेतान ऐसी एक वाकया का वर्णन करती हुई लिखती हैं कि '' मैं अपनी पहचान चाहती थी, एक ऐसा जीवन जो स्थानीयता के साथ वैश्विक हो। जीवन, रोमांस, सेक्स, सम्बंध सबके अलग–अलग कोड होते हैं। इन चिह्नों के अर्थ अलग होते हैं। बंगाली और पंजाबी समाज से हमारा मारवाड़ी समाज भिन्न था। प्रगतिशीलता के संदर्भ में मैं किसी समाज को कम–ज्यादा कहकर नहीं तौलना चाहती। लेकिन यही सोचती हूं कि आखिर कौन इन्हें निर्मित करता है? व्यक्ति ही ना।"[37] निश्चय ही प्रभा खेतान इस प्रकार समाज में निर्मित मूल्यों और उसकी मर्यादाओं की सीमा को रेखांकित कर रही होती है। समाज में व्यक्ति और उसके संबंधों की पड़ताल कर रही होती है। उन संबंधों में स्त्री की वजूद की तलाश करती हैं। उसकी हैसियत की परख करती है। इसीलिए वे लिखती हैं कि ''इस औरत को हम मंच पर कैसे बैठाएं? माना कि पढ़ी–लिखी, आत्मनिर्भर स्त्री है पर ऐसी स्त्री समाज की नाक नहीं बन सकती।"[38] यह भारतीय समाज की सबसे बड़ी विडम्बना है और यह भी कह सकते हैं कि सबसे बड़ा द्वंद्व है कि स्त्रियां आत्मनिर्भर हो जाए, पढ़ी–लिखी भी हो लेकिन पितृसत्तात्मक सोच में वह एक भारतीय स्त्री ही होनी चाहिए। उनमें आधुनिकता का संचार न हो और न ही उसकी चेतना होनी चाहिए। इसलिए वर्षों से चली आ रही स्त्री विरोध स्वरों को भी सुनकर वह विरोध नहीं करती हैं। वे लिखती हैं कि ''वर्षों से इन आवाजों को सुन री हूं मगर मैं चुप हूं, खामोश हूं। उत्तर नहीं दे पाती, क्योंकि डॉक्टर साहब को मैं छोड़ नहीं पाती। डॉक्टर साहब को छोड़ने के नाम से ही मैं कातर हो जाती हूं। मुझे अपना सारा अस्तित्व खतरे में लगता।''[39] यह डर और अस्तित्व का खतरा ही पितृसत्ता है जिसे पढ़ी–लिखी स्त्रियां भी खत्म करने की जरूरत नहीं समझती है और अपने जीवन में तमाम तरह की परेशानियों का सामना करती रहती हैं। यहां स्त्री पहचान, अस्तित्व और पितृसत्ता का द्वंद्व है। यहां यह भी समझा जा सकता है कि आत्मनिर्भर और चेतनशील स्त्रियां भी पितृसत्ता के तंत्रों से टकराती नहीं है, उससे बचने का प्रयास करती हैं।

इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा के विचार अलग हैं। वे लगातार पितृसत्ता को चुनौती देती हैं और स्त्री जीवन मूल्यों को बराबर से आंकती हैं। पितृसत्ता के जनक पुरुष और उस सत्ता में कैद स्त्रियां भी स्त्रियों के जीवन मूल्यों को कभी नहीं समझती हैं। वे भी पुरुषवादी मानसिकता से ही काम करती हैं। जब वे लिखती है कि 'घरेलु औरते नौकरी पेशा स्त्री पर छींटाकशी करती हैं' तब वे वस्तुतः स्त्रियों में घरकर गई पुरुषवादी सोच को ही उजागर करती है। सवाल यह नहीं है कि वे स्त्रियां ऐसा करती हैं बल्कि वे इसी दुनिया को समझी भी है। घर से बाहर न निकलने का दुस्साहस उन्होंने कभी नहीं किया इसलिए वे बाहरी दुनिया को भी नहीं जानती है। घर से बाहर निकलने पर ही वह इसे समझ सकती थी। इसीलिए मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं कि ''असलियत यह था कि जो घर के घेरे तोड़कर बाहर निकलती हैं, पुरुषों की बराबरी से काम करती हैं, वे हमें शानदार लगती हैं। यह हम भीतर ही भीतर मान रहे थे। ईर्ष्या तुच्छता से नहीं, बड़प्पन से हुआ करती है, जो हममें थी, ईर्ष्या –डाह या दोस्ती और लगाव में एकजुट हुई स्त्रियां यही रूप हमारे अड्डे का था।''[40] अर्थात् यह घर और घर से बाहर का द्वंद्व यहां खत्म होता है। जिसमें यह द्वंद्व नहीं होता है वे निर्भिक होकर बाहर की दुनिया में पांव रखती है और अपनी पहचान–अपनी बौद्धिकता का परिचय देती है। ''मैं खुद को तरह–तरह से सांत्वना देती हूं

कि मैंने स्त्री के लिए मनुष्य के स्तर पर जीने की स्थिति ही तो खोजी है कि मैंने पुरुष के समकक्ष अपनी भावनाओं को बराबरी से रखा है, कि मैंने अपने समाज में लोकतांत्रिक विधान की घोषणा की है, कि औरत को हर तरह से सहनागरिक का दर्जा चाहिए। मैं इन सारी बातों को इसलिए नहीं लिख रही कि अपने लिए एक ऐसी दुनिया की कल्पना कर रही हूं, जिसमें अनैतिक सुख और अभद्र इच्छाओं वाली जिन्दगी के चित्र हैं, बल्कि इसलिए सब कुछ रचा है कि प्रेम की सद्भावना में, अनैतिक और अभद्र' भी उदात्त रूप धारण कर लेता है, क्योंकि नफरत वाले हिस्से वहां कही नहीं होते।''[41] यहां यह देखा जा सकता है कि मैत्रेयी पुष्पा पारंपरिक स्त्री की जगह एक आधुनिक स्त्री की पहचान पांती है और पितृसत्ता को लगातार चुनौती देती है। उनमें द्वंद्व का वह रूप नहीं है जो स्त्री को न आगे बढ़ने देता है बल्कि एक आधुनिक विचार का आगमन है जो उसे जीवन जीने की कला देता है। आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। वहीं मन्नू भंडारी भारतीय समाज में स्त्री–पुरुष खासकर पति–पत्नी के बीच पारंपरिक संस्कार को लेकर उत्पन्न द्वंद्व की पहचान करती हुई लिखती हैं कि '' हमारे यहां कुछ व्रत–उपवास ऐसे हैं, जिनको करने के बाद स्त्री अपने पति के पैर छूने जाती हैं और पति महाशय ... गांव–देहात के सामान्य–साधारण की बात तो छोड़ ही दीजिए, शहर के पढ़े–लिखे आधुनिकता का तमगा लटकाए, स्त्री–पुरुषों की बराबरी का ढोल पीटने वाले लोग भी उस समय शुद्ध 'पति परमेश्वर' बने आराम से अपने पैर बाहर कर देते हैं। कभी कोई इनके इस आचरण पर टिप्पणी करें तो तुरुप के पत्ते की तरह यह तर्क तो हमेशा उनके हाथ में रहता ही है ... अरे, हमें तो खुद यह सब बिल्कुल पसन्द नहीं पर क्या करें ... पत्नी की खुशी के लिए, उसके संतोष के लिए करना पड़ता है। पत्नी के सुख और संतोष की दावेदारी करने वाले ऐसे ही लोगों में से दो –एक को तो मैंने अपनी पत्नी को मारते भी देखा है। कुछ पत्नियां शरीर पर प्रहार झेलती हैं तो कुछ अपनी भावनाओं पर – जैसे झेलना भोगना तो पत्नियों की नियति ही हो ?''[42] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सिर्फ किताब पढ़ लेने से आधुनिक नहीं हुआ जा सकता है। आधुनिकता के मूल्यों को जीवन में आत्मसात करने के पश्चात ही आधुनिक हुआ जा सकता है। साथ ही मन्नू भंडारी की आत्मकथा इस आधुनिकता की फैशनपरस्ती को भी बेनकाब करती है। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि प्रगतिशीलता का मूल्य हांकने वाले पुरुषों के द्वारा स्त्री को मारना या पीटना या उनका सम्मान न करना भी उनकी प्रगतिशीलता और पुरुषवादी मानसिकता का द्वंद्व है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी आत्मकथा 'पिंजरे का मैना' में परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व के संदर्भ में बहुत अच्छी बात कही हैं कि इस समाज में पुरुष सबकुछ करना चाहते हैं लेकिन स्त्रियों के लिए बंदिश रहती है। 'मनुष्य सामान्यतः अपनी दुर्बलताओं पर नियंत्रण नहीं कर पाता है। हमारे देश में स्त्री को हर कदम पर अपने मन को मारने का अभ्यास कराया जाता है, पुरुष कुछ भी करने का साहस (या दुःसाहस कहिये) रखते है।। हमारे घर में दो घटनायें ऐसी ही हुई। घर में मांस–मछली नहीं पकाया जाता था, हालांकि मेरे पति व देवर दोनों मांसाहारी थे, पर इतने शौकीन भी नहीं कि घर में बनाना पड़े। मैं तो खैर छूती भी नहीं थी।' इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में भूख और भोजन को लेकर जो द्वंद्व की स्थिति होती है उसमें भी पुरुषवादी सोच भावी रहता है। स्त्रियों को बचपन से ही अक्सर यह शिक्षा दी जाती है कि वह मांसाहारी भोजन

न ग्रहण करें वहीं लड़कों को यह छूट रहती है। यही बात लड़के और लड़कियों के वस्त्र को लेकर भी दिया जाता है। यह सब के सब आधुनिकता का फौड़ी नकल है तो वहीं परंपरा की जड़ता है, रूढ़िवादिता है।

'शिकंजे के दर्द' में सुशीला टाकभौरे लोकतंत्र में भागीदारी और विकास के लिए निर्धारित विचारधारा के संदर्भ में उसके अंतर्विरोध एवं द्वंद्व को सामने रखा है। सामान्यतः दलित–बहुजन समाज में धर्म, संस्कार, विचारधारा एवं प्रतिनिधित्व का सवाल उठाया जाता है। हिंदू धर्म और उसका हिंदूत्व न आदिवासी, दलित–बहुजन समाज और न ही स्त्री समुदाय के विकास के लिए लाभकारी हो सकता है। यह विचारधारा ही हमेशा से इस समाज के लिए विपरीत रहा है। ऐसी स्थिति आज यदि 'हंसी–हंसी के तन–मन मूसी, जाहिर बातन में अति तेज' वाली बात यह विचारधारा कर रही है तो उसकी साजिश को भी समझने की जरूरत है। इसलिए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि ''आरक्षण का लाभ हमारी जाति–उपजातियों को बहुत कम या लगभग नहीं मिल पाया। शिक्षा, एकता और संघर्ष की कमी के कारण हम पिछड़े हैं।'... धर्म की घंटी बजाना छोड़िए समाज, जागृति और क्रांति की बात समझिए। प्रगति और परिवर्तन की बात अपनाइए। महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मण थे, वे न तो हमारे पूर्वज हैं और न ही हमारे जाति गुरु हैं। डॉ. अम्बेडकर ही हमारे नेता, शुभचिंतक और मार्गदर्शक हैं, उनकी शिक्षा और विचारधारा को अपनाइए।''[43] इस प्रकार कहा ही जा सकता है कि आत्मकथा में व्यक्त विचार और विचारधारा समाज को नई दिशा की ओर बढ़ने में मदद करती है। वर्तमान में भी प्रतिनिधित्व के सवाल को आरक्षण के द्वंद्व में फंसा कर खत्म करने का काम किया जा रहा है वहीं हिंदूत्व की राजनीति में डॉ. अम्बेडकर को प्रतीक बनाकर बहुजन समाज को अंधविश्वास में डाला जा रहा है। डॉ. अम्बेडकर हिंदू धर्म और हिंदूत्व के हमेशा खिलाफ थे। हिंदू धर्म और डॉ. अम्बेडकर दोनों एक साथ कभी नहीं हो सकता है। इस द्वंद्व की स्थिति की बारीकियों को समझने की जरूरत है अन्यथा बहुजन समाज (दलित, आदिवासी, पिछड़ा समुदाय, अल्पसंख्यक और स्त्री)की स्थिति बहुत ही दयनीय होगी, जिसकी कल्पना भी कभी ने नहीं की होगी।

आज विचार और विचारधारा को लेकर दो पीढ़ियों के बीच की दूरी को बढ़ाया जा रहा है। इसका एक कारण परंपरा और आधुनिकता की सही पहचान हो पाना है। दो के बीच की विचारधारा की सही समझ न होना है। एक स्त्री के होते हुए दूसरी स्त्री की खोज भी पारंपरिक सोच ही है वही स्वाभिमान से जीवन जीने और अपनी दयनीय स्थिति के विषय में सोचना भी जरूरी नहीं समझा जाता है। क्या यह सवाल स्त्री दृष्टिकोण से नहीं विचार किया जाना चाहिए। शीला इन्द्र अपनी आत्मकथा ' क्या कहूं क्या न कहूं' इस पर विचार करती हुई कहती हैं कि दो पीढ़ियों की बीच जो फासला है वह भी द्वंद्व का कारक है। शीला इन्द्र इसी दो फासले के बीच स्त्री की बेवशी की पहचान करती हुई लिखती हैं कि ''ये औरते सचमुच बेचारी होती थी, बेहद निःसहाय किंतु ये बेचारी अपनी बेचारेपन से अपने पति को लुभा नहीं पाती थी। अक्सर तो उनकी जिंदगी में ही बेटे के लिए दूसरी बहू खोजने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती थी। बेचारी लड़कियों के बेचारे बाप दबी जबान से अपनी बेटी का प्रस्ताव थमा जाते। उनको यह भी सोचने की जरूरत महसूस नहीं होती थी कि जिस घर की बहू मर चुकी है या मर रही है, वह क्यों और कैसे इस दशा को पहुंची?''[44] क्या इस पर स्त्री विमर्श की दृष्टि से विचार नहीं किया जाना चाहिए कि जिस घर में एक स्त्री को खुशी नहीं मिली उसी घर में दूसरी स्त्री को कैसे खुशी मिल

सकती है? जब सब कुछ वही है। आगे वे लिखती हैं कि ''फिर भी प्रश्न उठता है कि क्या वे पुरानी पीढ़ी की औरतें निरी मिट्टी का लौंदा थी? अथवा उनमें कुछ दमखम भी था? क्यों वे सिर्फ पिसना ही जानती थी, अथवा अपने स्वाभिमान के लिए सिर उठा कर जीना या मरना भी नहीं जानती थी? जीवन आसान तो कभी नहीं होता, न कल था न आज है और न आने वाले में कल ही होगा, पर शायद उन कठिनाइयों से निबटने के तरीके देश काल परिस्थितियों और व्यक्तियों के अनुरूप अलग–अलग अवश्य रहे हैं, पर अलग भी कहां? तब भी ऐसी स्त्रियां थीं जिन्होंने अपनी जिंदगी के निर्णय लेती एवं जीती। समय देश काल समाज प्रचलित नैतिक मान्यताओं के किसी व्यवधान को स्वीकार नहीं किया और जीवन को अपने लिए बनाए नियमों–मान्यताओं के किसी व्यवधान को स्वीकार नहीं किया और जीवन को अपने लिए बनाए नियमों के अनुरूप जिया और आज इक्कीसवीं शताब्दी में भी ऐसी स्त्रियां हैं जो पिता एवं पति किसी के निर्णय पर प्रश्न करने की जरूरत नहीं समझतीं। वह उनके लिए वेद वाक्य होता है यानी कि हर काल में जिंदगी को जीने के तरीके अलग रहे हैं। तब भी ऐसी स्त्रियां थी जिन्होंने समाजिक मूल्यों को ठुकराकर धारा के विपरीत तैरने का साहस किया और समय के साथ बहने से इंकार किया। आज हमारे सामने अनेक ऐसे लोग हैं जो आज के अनुरूप न जीकर सदियों पुरानी लीक पर चल रहे हैं। इंसान के पास केवल जीना ही अपना नहीं होता, उसके जीने के तरीक भी अलग होते हैं। समाज या समय उसे सही कहे या गलत कहे, इससे प्राय उन्हें अंतर नहीं पड़ता।''[45] अर्थात् देशकाल और परिस्थितियों के बीच स्त्रियां अपने ढंग से जीवन जीती आ रही हैं। समाज के मूल्यों को अपने ढंग से विचार करती हुई जीती रही है, लेकिन 21वीं सदी में स्त्रियां क्यों पिता या पति के निर्णय पर प्रश्न नहीं करने की जरूरत समझती हैं जब उनके पास आधुनिक विचार तथा आधुनिक समाज की सामाजिक व्यवस्था का कानूनी दस्तावेज संवैधानिक अधिकार प्राप्त है। यह बहुत ही मार्मिक सवाल शीला इन्द्र उठाती हैं। स्त्री आत्मकथाओं में यह जो द्वंद्व की स्थिति आ रही है इसका एक कारण भारतीय समाज की संरचना में निहित लगता है। भारतीय समाज की संरचना बहुत ही तेजी से परितर्वनकामी विचारों को आत्मसात नहीं करने देती है। इस पर समाजशास्त्रीय चिंतन करने की जरूरत है और उसी परिप्रेक्ष्य में स्त्री आत्मकथाओं में व्याप्त परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को समझने की जरूरत है।

भारतीय समाज में हिंदू बहुलतावादी समाज का स्वरूप प्राचीन काल से वर्तमान तक के आलोक में देखा जाए तो वर्णाश्रम धर्म और जातिवादी संरचना से विनिर्मित हुआ है। इस संरचनावादी समाज में मनुष्य–मनुष्य में विभेद और श्रेणीबद्धता हमेशा से ही रही है। श्रेणीबद्धता के कारण स्त्री–पुरुष संबंध भी समानता पर आधारित नहीं रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में श्रेष्ठ जातियां श्रेष्ठता को प्राप्त की हुई हैं वहीं नीची जातियां नीचे के पायदान पर हैं। इस सब के बीच स्त्री–पुरुष संबंध भी एक श्रेष्ठता और नीचता के बीच विभाजित है। पुरूष को श्रेष्ठ दर्जा प्राप्त है तो वहीं स्त्रियों को नीचे माना गया है। समाज के विकास की प्रक्रिया में इस संबंध में परिवर्तन देखा गया है और देखा जा सकता है। लेकिन सामाजिक संरचना और स्त्री–पुरुष संबंध में श्रेणीबद्धता का अंत नहीं हुआ है, उसमें समय के अनुरूप लचीलापन जरूर

देखा जा सकता है। यही श्रेणीबद्धता और लचीलापन स्त्री आत्मकथाओं में भी उजागर हुआ है। जिस पर आज पुनः विचार करने की जरूरत है।

आजादी के बाद भारतीय समाज में अनेक बदलाव को देखा जा सकता है। जिसमें आजादी के स्वप्न और मोहभंग दोनों ही शामिल हैं। यह बदलाव समय सापेक्ष आधुनिकता के साथ है और अपनी परंपरा से भी। यह बदलाव लौकिक और अलौकिक, यथार्थ और अयथार्थ, वायदे और प्रतिबद्धता, नैतिकता और अनैतिकता, यांत्रिकता और मनुष्यता, वास्तविकता और अनुकरण आदि के साथ स्वप्न और मोहभंग आदि के बीच देखा जा सकता है। यह बदलाव सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक आदि सभी स्तरों पर भी देखा जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन में समाज के विभिन्न संस्थाओं और तत्वों की भूमिका होती है जैसे परिवार, धर्म, दर्शन, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति और स्त्री–पुरुष संबंध आदि। सामाजिक परिवर्तन से ही समाज के स्वरूप में परिवर्तन होता है। आदिम समय से लेकर आज तक के मानव के सफर में समाज के बदलते स्वरूप को सहज ही देखा जा सकता है। यह सफर आदिम अवस्था से लेकर चांद के सफर में देखा जा सकता है। इस सफर में स्त्री–पुरूष दोनों की भूमिका को आज रेखांकित किया जा रहा है लेकिन भारत का गांव आज भी स्त्री–पुरुष के संबंध में प्राचीन धारणाएं रखती हैं। यह धारणा कई बार तो अवशेष के रूप में आधुनिक भारत में भी दिखाई देती हैं। यूं कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत में समाज की स्थितियां–परिस्थितियां जरूर बदल गई हैं लेकिन उसकी मानसिकता में परिवर्तन की जो अपेक्षा की जानी चाहिए वह नहीं हुई है। सामाजिक विज्ञान कोश के अनुसार देखा जाए तो सामाजिक परिवर्तन के लक्षणों को इस प्रकार देखा जा सकता है– ''सामाजिक परिवर्तन सामाजिक ढांचे में रद्दोबदल है जो कि सामाजिक कार्य एवं संबंधों की पद्धति है। इसमें उन उन ढांचों के प्रकाशन एवं परिणाम समाहित हैं जो आचार संहिता, मूल्य, सांस्कृतिक उत्पादन एवं प्रतीकों में निहित होते हैं।''[46] इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था, कार्य, संबंध, आचरण, मूल्य आदि के साथ–साथ सांस्कृतिक उत्पादों एवं प्रतीकों में परिवर्तन देखा जा सकता है। यह परिवर्तन स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही स्तर पर देखा जा सकता है। आधुनिक भारत में समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक परिवर्तनों को पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण, लौकिकीकरण, जातीय गतिशीलता आदि में देखने का प्रयास किया है। समाज में होने वाले इस परिवर्तन से साहित्य अछूता नहीं है और समय अनुरूप साहित्य में भी यह परिवर्तन देखा जा सकता है।

समकालीन भारतीय समाज का स्वरूप क्रमिक विकास क्रम में बना है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार समकालीन भारतीय समाज के स्वरूप और पैटर्न के बारे में चर्चा करते हुए लिखते है कि ''समकालीन भारत में सामाजिक क्रम विकास के कई अलग–अलग स्तर साथ–साथ मौजूद हैं जैसे आदिकालीन शिकारी और भोजन संग्राहक, झूम खेती करने वाले किसान जो हल–बैल से जुताई करने के बजाय आज भी कुदाली या आद्य हल का इस्तेमाल करते हैं, विभिन्न प्रकार के घुमंतू–बकरी भेड़ और मवेशी पालक, एक जगह से दूसरी जगह घूम–घूमकर व्यापार करने वाले और कारीगर तथा शिल्पी एक ही जगह बसे किसान जो खेती के लिए हल का

इस्तेमाल करते हैं, दस्तकार और प्राचीन वंश परंपरा वाले भूस्वामी तथा अभिजात वर्ग। दुनिया के अधिकतर प्रमुख धर्म हिंदू इस्लाम, ईसाई और बौद्ध यहां हैं और इनके साथ आस्था और कर्मकांड की दृष्टि से इतने अलग–अलग ढंग के संप्रदाय और पंथ भी यहां हैं जो विस्मय में डाल देते हैं। इन सबके साथ आधुनिक अकादमिक, अफसरशाही, औद्योगिक और वैज्ञानिक अभिजन को भी जोड़ देने से हम देखते हैं कि यहां अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों साथ–साथ रह रहे हैं। अपने क्रमविकास की प्रक्रिया में भारतीय समाज ने एक मिली–जुली संस्कृति विकसित की है जिसकी विशेषता है बहुलवाद के कुछ स्थायी संरूप–पैटर्न।''[47] अर्थात् इससे यह स्पष्ट होता है कि समकालीन भारत का समाज एक विकास क्रम में अपने स्वरूप को गढ़ा है जिसमें एकता में अनेकता की भावना विद्यमान है, मिली जुली संस्कृति है, परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व है।

भारतीय समाज का स्वरूप और उसकी संरचना एक श्रेणीबद्धता में बंधी हुई है। जिसकी कुछ खास विशेषता है जो उसे वैज्ञानिक युग में भी, चांद तक के सफर कर चुकने के बाद भी इसे जीवित रखा है। समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे इस पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि पारंपरिक हिंदू समाज की संरचना की कुछ व्यापक विशेषताएं हैं जो पूरे भारत में एक समान हैं। वस्तुतः उनका प्रभाव उन समुदायों पर भी देखा जा सकता है जो अन्य धर्मों के अनुयायी हैं। यह विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं–

1. ''पारंपरिक हिंदू समाज जन्मना प्रस्थिति में विश्वास करता रहा है। सरल शब्दों में हिंदू समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति किसी जाति में जन्म लेने के संयोग से निर्धारित होती है, उसके कर्मों से नहीं। अर्जित प्रस्थिति के उदाहरण मिलते हैं किंतु उच्चतर स्तरों की ओर गतिशीलता कठिन और धीमी रही है तथा यह स्थिति अब भी हमारे साथ है।
2. हिंदू समाज सोपानबद्ध था। इसकी बुनियादी श्रेणियां थीं उर्ध्वाधर रूप से व्यवस्थित वर्ण। पांचवीं श्रेणी वर्ण व्यवस्था के बाहर थी। इनमें से प्रत्येक श्रेणी में अनेक जातियां पहले भी थीं और आज भी हैं। ये जातियां भिन्न सोपानों में स्थापित थीं। जातियों की सापेक्ष स्थिति के बारे में मतभेद हो सकते हैं लेकिन उनकी आधारभूत प्रस्थिति का स्तर सुनिर्धारित था।
3. प्रस्थिति मूल्यांकन का मानदंड आर्थिक या राजनीतिक नहीं बल्कि मुख्यतः आनुष्ठानिक था। समान आनुष्ठानिक प्रस्थिति वाले लोगों के साथ ही निम्नतर समूहों के साथ–नहीं घनिष्ठ संपक्र स्थापित किया जा सकता था जिसमें स्पर्श तथा साथ–साथ भोजन करना सहभोज शामिल है। निम्नतर समूहों के साथ शारीरिक संपर्क अथवा भोजन से अशुचिता अथवा अशुद्धि होगी। पवित्रता बनाए रखने तथा अशुचिता से बचने के लिए विस्तृत नियम हैं।
4. पुरुषार्थों अर्थात् जीवन के लक्ष्यों की अवधारणा थी। ये पुरुषार्थ हैंः धर्म धर्मपरायणता/नैतिकता/सदाचार का पथ/व्यक्ति तथा जाति के कर्तव्य, अर्थ संपत्ति और कल्याण की कामना, काम दैहिक कामनाओं विशेषकर यौन सुख की प्राप्ति तथा मोक्ष।

5. जीवन के इन चार लक्ष्यों से संबंधित जीवन के चार आश्रम अवस्थाएं थे। ये थे ब्रह्मचर्य– विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ– गृहस्थ जीवन जिसमें संपत्ति अर्जित करना, यौनेच्छाओं की पूर्ति तथा संतान प्राप्ति शामिल है, वानप्रस्थ– संन्यासी जीवन /शनैः शनै विराग तथा संन्यास– परिवार तथा लौकिक चिंताओं से मुक्ति। अंतिम संन्यास केवल द्विज जातियों या तीन उच्च वर्गों पर लागू होता है। यह शूद्रों के लिए नहीं है।
6. पारंपरिक हिंदू धर्म में ऋण कर्ज दायित्वों की धारणा है। व्यक्ति देवताओं, ऋषियों, पुरखों और समाज का ऋणी होता है। ऋणों की अदायगी भी धर्म का अंग था।
7. कर्म का सिद्धांत हिंदू धर्म का आधार बना रहता है। इस अवधारणा को परिभाषित करना अत्यधिक कठिन है। सामान्य व्यक्ति के लिए इसका अर्थ है कि उसके पूर्वजन्मों के कर्म उसके वर्तमान जीवन को प्रभावित करते हैं और वर्तमान जीवन के कर्म भावी जीवनों की रूपरेखा निश्चित करेंगे। कर्म की धारणा में पुनर्जन्म का विचार समाहित है।''[48] उपर्युक्त विशेषता के आधार पर श्यामाचरण दुबे समकालीन भारतीय समाज के स्वरूप को निर्धारित करते है। इसी के साथ जो दिलचस्प बात है वह यह कि वे इन विशेषताओं को परंपरा और धर्म ग्रंथ पर आधारित विचारधारा की ऊपज मानते है किसी सामाजिक यथार्थ के आधार पर नहीं। उन्हीं के शब्दों में ''ये भारत की बहुसंख्य जनता के सामाजिक ढांचे के विचारधारात्मक आधार हैं। लेकिन ये विशेषताएं परंपरा और ग्रंथों के अनुसार हैं, इनका सामाजिक यथार्थ से संबंध होना आवश्यक नहीं है।''[49] इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज का मौजूदा स्वरूप सामाजिक यथार्थ की संरचना पर नहीं बना है। धर्म और परंपरा पर बना है। सामाजिक यथार्थ के अनुरूप न होने के कारण भारतीय समाज की समस्याएं भी भिन्न है। इस भिन्नता के कारण दिनोंदिन समस्याएं बढ़ती और विकराल होती जा रही हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की संरचना वर्णाश्रम धर्म और जाति व्यवस्था के आधार पर बनी है जिसे धर्म और ईश्वर का संरक्षण प्राप्त है और धार्मिक ग्रंथों की भूमिका इसे मानसिक स्तर पर व्यवस्थित करने में रही हैं। जिस कारण यह समस्याएं आज जाति की कोख से निकल कर नस्लवाद, क्षेत्रवाद, नकस्लवाद, आंतकवाद, भाषावाद, संप्रदायवाद आदि कई शक्ल सूरत में फैल गई हैं। भारतीय समाज के सामने उत्पन्न चुनौतियों को श्यामाचरण दुबे रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि ''कुछ समस्याएं अब भी बनी हुई हैं, कुछ नई समस्याएं पिछले कुछ दशकों में उत्पन्न हुई हैं। नृजातीय आंदोलन, धार्मिक कट्टरपन, अंतरसामुदायिक संबंधों के संरूप में नये मोड़ों, भाषाई संघर्षों, क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद ने समकालीन भारतीय समाज के सामने नयी चुनौतियां खड़ी की है।''[50] अर्थात् वर्तमान में सभी समस्याओं में से अधिकांश की जड़ें भारतीय समाज की संरचना और उसकी व्यवस्था–वर्णाश्रमधर्म व जातिवादी में निहित है। ''समकालीन भारतीय समाज इस समय तक एक अजीब स्थिति में है। वह आधुनिकता और परंपरा–दो विरोधी सिरों–की ओर खींचा जा रहा है। परंपरा और आधुनिकता दोनों उसे अपनी–अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींच रही हैं। उनकी मुठभेड़ से कुछ अजीबोगरीब नतीजे सामने आया हैं। देश

ने एक ओर लोकतंत्र, समानतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा स्वीकार की है और उसे प्रोन्नत कर रहा है, दूसरी ओर आदिकालीन निष्ठाएं अब भी कायम हैं, शोषणमूलक संरचनाओं को कभी कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली, परंपरा की विकल स्मृति को राजनीतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है तथा धार्मिक पुनरूत्थानवाद और परवर्ती कट्टरपन से कठोरतापूर्वक नहीं निपटा गया। भावनात्मक तथा बौद्धिक जागरूकता के स्तर पर वर्ण और जाति के ढांचे के भीतर अंतर्निहित असमानता तथा अमानवीयता की निंदा की गयी है लेकिन इसे ढहाने का कोई सार्थक या महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। देश की लगभग आधी आबादी जिसमें मुख्यतः अनुसूचित जनजातियां, अनुसूचित जातियां तथा अन्य पिछड़े समुदाय हैं संपूर्ण कृषि भूमि में केवल दस प्रतिशत की हिस्सेदार है। निर्धन बंधुआ मजदूर तथा अपमानजनक धंधों में लगे लोगों के पास अपनी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्दशा से मुक्ति पाने के रास्ते नहीं है।... वर्ण और जाति के राजनीतिकरण के कारण निम्नतर जातियों पर भांति भांति के अत्याचार हो रहे हैं। ... भारतीय समाज, अर्थशास्त्र तथा राजनीति ने निम्नीकृत कमजोर तथा असुरक्षितों के हित में केवल जुबान हिलाई है लेकिन वे उनकी समस्याओं के निदान का कोई सार्थक व्यावहारिक हल ढूंढ़ पाने में असफल रहे हैं। इसका स्पष्ट दृष्टिगोचर परिणाम है, असंतोष तथा प्रतिरोध। दोनों का औचित्य समझा जा सकता है। परंपरा की अपनी उपयोगिता है किंतु उसके प्रति सम्मान को शोषण, असमानता तथा अन्याय को जारी रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता। वर्ण और जाति की गतिविधियों में कुछ बदलाव आया है किंतु यह बहुत ही धीमा तथा बहुत ही कम हैं। कानून ने एक हाथ से जो दिया है–अस्पृश्यता तथा बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन, शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में मुआवजे के रूप में आरक्षण, विवाह में जीवन साथी चुनने की आजादी–उसे सतर्कता में ढीलेपन तथा अप्रभावी अमल की कृपा से दूसरे हाथ से छीन लिया गया है।''[51] इस प्रकार कहा जा सकता है कि समकालीन भारतीय समाज में समस्याएं अधिकांशतः या तो जातिव्यवस्था के कारण उत्पन्न हुआ है या राजनीतिकरण के कारण। दोनों की स्थिति में देश की आम जनता, गरीब जनता, दलित, स्त्री आदिवासी आदि को की नुकसान पहुंचा है या उसे सिर्फ राजनीतिक इस्तेमाल किया गया है। उनके अधिकार एवं विकास के मुददे भी राजनीतिक से प्रभावित रहे हैं। जिस कारण से भारतीय समाज में कई प्रकार के अंतर्विरोध उत्पन्न हुआ है। यह अंतर्विरोध भारतीय समाज के विकास में न केवल बाधा है बल्कि बहुत पेचीदा है। समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे ने सही ही लिखा हैं कि ''समकालीन भारतीय समाज अंतर्विरोधों का पिटारा है जिसके कुछ पहलू अत्यंत पेचीदा है। निर्धनता के एक विशाल समुद्र में चकाचौंध कर देने वाली संपन्नता के कुछ द्वीप हैं। यह अपनी आध्यात्मिकता का दम भरता है किंतु इसका अभिजन–अमीर तथा शक्तिशाली वर्ग आडम्बरपूर्ण उपभोग के ऐसे मापदंड स्थापित करता है जो एकदम अनैतिक लगते हैं।''[52] इस प्रकार कहा जा सकता है कि समकालीन भारतीय समाज के अंतर्विरोध एक तरफ संपन्नता और आध्यात्मिकता के कारण है तो दूसरी तरफ वह वर्चस्वशाली वर्ग की आडम्बरपूर्ण उपभोगितावादी मानदंड के कारण है। इसके बावजूद इस बात से

इंकार नहीं किया जा सकता है कि भारतीय समाज में परिवर्तन हो रहा है। उसका विकास नहीं हो रहा है। ''समकालीन भारतीय समाज परिवर्तन के एकसंवेगात्मक उद्वेग से गुजर रहा है तथा दुविधाओं और विडम्बनाओं की एक श्रृंखला से मुठभेड़ कर रहा है। ये आहत करते हैं किंतु ये अपरिहार्य है। समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने लोगों की सभी श्रेणियों की समस्याओं को समानुभूति के साथ देखे, आर्थिक असमानताओं तथा अन्याय की समस्याओं के समाधान ढूंढ़े, जन चेतना को व्यापक आयाम देने के कार्यक्रम चलाये, मिथक की अधीनता के विरूद्ध इतिहास के सच्चे अर्थ का उन्नयन करे, तथा निर्णय करने में सहभागिता की प्रक्रियाएं प्रारंभ करे। परंपरा के कुछ पक्ष अपनी जीवतंता तथा उपयोगिता के कारण जीवित रहेंगे जबकि अतीत के अनेक पर्तों वाले पूर्वग्रहों को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा तथा शोषण और आतंक की संरचनाओं को ढहाना होगा। राह लंबी है, प्रक्रिया पीड़ादायक हो सकती है लेकिन हममें से हर एक–भारत के प्रत्येक नागरिक–का भविष्य दांव पर है।''[53] अर्थात् समकालीन भारतीय समाज के विकास की प्रक्रिया जटिल हैं लेकिन दुरूह नहीं है। यह जटिलता बहुत कुछ अतीत के प्रति लगाव, पूर्वाग्रहों और धार्मिक एवं अंधविश्वासी मान्यताओं के कारण है जो उसकी संरचना में समाहित हो गई है। दामोदर धर्मानंद कोसंबी के अनुसार भारतीय समाज का गठन धर्म और अंधविश्वास पर आधारित है। उन्हीं के शब्दों में ''एक वास्तविक समाज के गठन के लिए यह आवश्यक है कि एक मानव समुदाय अतिरिक्त ऊपज और उसके वितरण पर आधारित किसी न किसी प्रकार के उत्पादन के संबंधों से जुड़ा रहे। भारत में ऐसे समाज का गठन और इसकी संस्कृति का सृजन–खाद्य संकलन की सुविधा और निरंतरता के कारण–काफी हद तक धर्म और अंधविश्वास पर आधारित रहा है।''[54] कोसंबी का यह कथन गौरतलब ही नहीं मार्मिक भी है। एक तो इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज की संरचना और गठन किसी उत्पादन संसाधन पर आधारित नहीं है। वह धर्म और अंधविश्वास पर आधारित है। धर्म और अंधविश्वास का प्रभाव भारतीय समाज में इतना है कि कोई भी भारतीय इसके विपरित वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करते हुए भी इससे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। जिस कारण कई बार वह दुविधाग्रस्त हो जाते हैं और इस स्थिति में वे सामाजिक धार्मिक मान्यताओं में फंस जाते हैं। सामाजिक धार्मिक मान्यताओं के कारण आए दिन समाज का वीभत्स, अश्लील और नंगा सच मीडियों के माध्यम से उजागर होता रहता है और दिन–प्रतिदिन जिससे हम रू–ब–रू होते रहते हैं।

भारतीय समाज आजादी के बाद या बहुत कुछ पूर्व भी एक उपभोक्ता समाज रहा है जो सब कुछ का उपभोग करना चाहता है। वह सुख सुविधाएं चाहता है, उसका उपकरण चाहता है, दैहिक भोग और सामान्य मनोरंजन। जन साधारण शारीरिक–भौतिक सीमाओं से ऊपर उठना नहीं चाहता। नई स्थितियां पसंद नहीं करता। नई राहें पसंद नहीं करता।यू भी कह सकते हैं कि वर्तमान में उपभोक्तावादी समाज ने जन सामान्य को सिर्फ सुख सुविधाभोगी बनाया है और बनाता जा रहा है। वह ऐसा वर्ग बन रहा है जो सिर्फ उपभोग करना

सीखे, उत्पादन नहीं। सृजन को एकदम नहीं। समाज की वर्तमान परिस्थितियां, उपभोक्ता और व्यापारी वर्ग जन सामान्य को सिर्फ और सिर्फ उपभोक्ता की चीज प्रदान करता है, उन्हें सृजनात्मक के विरोध सिर्फ उपभोगक्ता बनाते हैं। उपभोक्तावादी समाज रचनाकारों को सभी सुविधाओं से वंचित करते हैं और अच्छी रचना को रचनात्मक मूल्यों के आधार पर नहीं रचना के लिए मूल्य–धन देने से होता है। बाजार में उसकी बिक्री से है न कि समाज में उपभोक्तावर्ग के खिलाफ रचे जाने वाले मूल्यों से। अच्छी रचना का मूल्य, अच्छा रचने से नहीं है बल्कि रचना के मूल्य देने वालों से है। देने वालों की इच्छा के अनुसार रचना करने से ही रचना अच्छी होती है। बाकि सब कुछ व्यर्थ है। आज बाजार में वही किताबे और वही पत्र–पत्रिकाएं ज्यादा बिकती हैं, जो सकमालीन जनसामान्य के विचार–मूल्यों और जीवन–मूल्यों से आगे नहीं जाती है। यही कारण है कि एक ओर तो क्लासिक साहित्य की ब्रिकी होती है, और दूसरी ओर रूमानियत, भावुकता और दैहिक अभिव्यक्तियों से भरे सामयिक साहित्य की। जो रचनाएं वाकई रचनाएं है, इतिवृति या पुनरावृत्ति नहीं हैं, उनकी बिक्री नहीं होती है। या कह लिजिए कि वही रचना बाजार में टिक पाती है जो बाजार के मूल्यों के अनुरूप है। स्त्री आत्मकथाओं में मूल्यों के टकराव में जहां पुराने मूल्यों का अंत है और नवीन मूल्यों का अगमन है। वहां यह द्वंद्व तेजी से उभर रहा है। समाज में उन मूल्यों को ज्यादा महत्व दिया जा रहा है जो भारतीय सनातन संस्कृति के अनुरूप है उनमूल्यों को तहजीह नहीं दिया जा रहा है जो भले ही आधुनिक और विकासमान हो, लेकिन भारतीय पारंपरिक मूल्यों के विपरीत हैं। इसलिए पारंपरिक संस्कृति और आधुनिक संस्कृति के बीच द्वंद्व की स्थिति पैदा हुई है और स्त्री आत्मकथाओं में इसे सहज ही समझा जा सकता है कि पढ़ी–लिख और आत्मनिर्भर होने के बावजूद भी स्त्रियां पुरानी संस्कृति और मूल्यों को ढोने के लिए तैयार रहती हैं।

संस्कृति सम्यक रूप से किए गए कार्यों की श्रृंखला है। मानव ही नहीं अन्य सभी प्राणियों के द्वारा किए गए कार्यों का सम्यक स्वरूप ही संस्कृति है। इसमें सभी प्रकार के आंतरिक जीवन, बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक का समावेश होता है। वह मनुष्य के आंतरिक और बाह्य जीवन की अस्मिता और अस्तित्व पर निर्भर करता है। जिस प्रकार की सामाजिक स्थितियां–परिस्थितियां रहती हैं उसी प्रकार के व्यवहार व कर्म जीवन में बेहतर जीवन के लिए करते हैं। दूसरे शब्दों में संस्कृति बेहतर जीवन के लिए समय, स्थान और परिस्थिति के अनुरूप किया गया कर्म है। संपूर्ण जीवन की समाप्ति संस्कृति में होती है और जीवन ही नहीं सभी देशकाल की सभ्यता का मापदंड संस्कृति द्वारा ही किया जाता है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने सही ही लिखा है कि ''किसी भी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में या सामाजिक संबंधों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन आदर्शों की समष्टि को संस्कृति समझना चाहिए।''[55] वहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि 'मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।'[56] डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, ''संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।''[57] इस प्रकार उपरोक्त कथन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति बेहतर जीवन के लिए किया गया कर्म, साधना और जीवन व्यवहार है। समकालीन समाज जिस प्रकार समय सापेक्ष विकास की एक क्रिया–प्रक्रिया रहा है, उसका विकास रहा है, उसी अनुरूप उसकी संस्कृति भी बनती गई है।

समकालीन समाज और उसकी संस्कृति 21वीं सदी का समाज और संस्कृति है जिसमें वैज्ञानिकता, आधुनिकता, यांत्रिकता, बाजारवाद आदि का प्रभाव जीवन पर पड़ा है और जीवन इससे प्रभावित होता रहा है।

आजादी के बाद भारतीय समाज काफी तेजी से बदला हुआ समाज है। इस बदलाव में आजादी की स्थितियां–परिस्थितियां तो साथ रही है साथ ही पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव भी काफी रहा है। इसी बीच अस्मिताओं का विमर्श शुरू होता है। यह विमर्श अपने अधिकारों, पहचान, हकों, भागीदारी, बराबरी आदि के लिए किया जाता रहा है। इसका प्रभाव भी हमारी संस्कृति पर दिखने को मिलता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आजादी के बाद सांस्कृति अस्मिताओं का दौर शुरू होता है। यह अस्मिता विभिन्न समुदाय के जीवन की व्यवस्था और सामाजिक संस्थाओं के तत्वों से शुरू होता है। जिसमें धर्म, शिक्षा, क्षेत्र, भाषा, जाति आदि तत्वों की भूमिका अहम रही है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार ''भारत में सांस्कृतिक अस्मिताओं का निर्माण धर्म, क्षेत्र और जातीयता के आधार पर हुआ है। इनमें धर्म एक मिथ्या संकेत है। सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदू समरूप नहीं हैं, न मुस्लिम ही समरूप है। विभिन्न धर्मों और जातियों के लोगों की अनेक क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषाएं समान होती हैं जैसे भाषा, भोजन, वेशभूषा। उनके सांस्कृतिक मूल्य तथा विश्वदृष्टि भी समान होती है। देश के सांस्कृतिक परिदृश्य में अपने स्थानीय वैविध्य के साथ क्षेत्रीय संस्कृतियां अपने वैशिष्ट्य के कारण अलग दिखायी पड़ती हैं। लेकिन ये संस्कृतियां लगातार अपनी–अपनी शास्त्रीय परंपराओं का हवाला देती रहती हैं–हिंदू वेदों और शास्त्रों, मुसलमान कुरान तथा हदीस और ईसाई ओल्ड एवं न्यू टेस्टामेंट का। यह नमूना अपने आप में एक सामाजिक संरचना है।''[58] इस प्रकार कहा जा सकता है समकालीन भारतीय समाज की संस्कृति विभिन्न समुदायों के विभिन्न सामाजिक तत्वों के बीच से शुरू होती है और बेहतर जीवन के लिए किए गए संघर्ष के साथ अस्मिता व अस्तित्व के बीच गतिमान है।

परंपरा और आधुनिकता के नाम पर संस्कारजन्य व्यवस्था भी स्त्रियों की मुक्ति के मार्ग में बाधक बनी रही है। इसी संस्कारजन्य और भारतीय संस्कृति की पारंपरकिता की जड़ता को उजाकर करती हुई सुशीला टाकभौरे लिखती है कि ''हिंदू धर्म में कौओं को खिलाकर मर चुके पूर्वजों तक भोजन पहुंचाने की बात है जो वैज्ञानिक युग में बेतुकी लगती है। फिर भी हिंदू धर्मग्रंथों में लिखी बातों के अनुसार लोग ऐसा करते हैं। मरे हुए पुरखों को भोजन कराना अंधविश्वास की बात थी। ऐसी बातों में अधिक खर्च करके हमारे लोग आर्थिक कठिनाइयां बढ़ा लेते हैं।''[59] साथ ही वे लिखती है कि '' घर–परिवार के संस्कार उन्हें और कमजोर बना देते हैं।''[60] इस प्रकार कहा जा सकता है कि परंपरा और आधुनिकता के बीच जो फांका है, जो खायी है वह मानव मुक्ति के मार्ग में बहुत बड़ा संकट है, बाधा है। इस सांस्कृतिकजन्य परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को समझने और विमर्श के दायरे में लाकर स्त्रियों को जागरूक करने की जरूरत है।

परंपरा और आधुनिकता के नाम पर भारत में धर्म के आधार पर बहुत कुछ कहा जाता है। भारतवर्ष मे परंपरा के नाम पर और ब्राह्मणवादी मानसिकता के कारण पशु–पक्षियों को पूजा जाता रहा है लेकिन मनुष्य से छुआछूत का बर्ताव किया जाता रहा है। यह परंपरा 21वीं सदी में भी जग–जाहिर है। इससे बड़ी विडम्बना इस देश की और क्या हो सकती है। सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा में लिखती हैं कि, ''हिंदू धर्म में नदी, पहाड़

पेड़–पौधे, गाय, सांप सभी को महत्व और सम्मान दिया जाता है लेकिन अछूत मनुष्यों को कोई स्थान नहीं, कोई सम्मान नहीं। उनके लिए कोई दया–संवेदना नहीं? हिंदू धर्म के आडम्बर में मिट्टी से बने पुतलों को भी भगवान की तरह पूजा जाता है मगर इन्सानों को इन्सान नहीं मानते, यह हिंदू धर्म की विडंबना है, हिंदू संस्कृति का कलंक है।''[61] इतना ही नहीं आगे वे लिखती हैं कि पशु–पक्षियों को अंधविश्वास का प्रतीक बनाया जाता रहा है। उन्हीं के शब्दों में, ''घुग्गू को तंत्र मंत्र का ज्ञाता और अपशकुन मानकर लोग उससे डरते थे। अंधविश्वास अधिक होने के कारण लोग कही सुनी बातों पर पूरी तरह विश्वास करते हुए उनसे भयभीत रहते थे।''[62] आधुनिकता और वैज्ञानिक चेतना के युग में ऐसा होना ही या मानना ही अज्ञानता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में इतिहास के पन्नों में छिपा रूढ़िवादिता न केवल एक परंपरा की जगह ली है बल्कि वह वैज्ञानिकता को भी धूमिल की है। वह वैज्ञानिक चेतना को पनपने ही नहीं दिया है।

दलित स्त्री आंदोलन की बात सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे के दर्द' में करती हैं लेकिन वह स्त्री आंदोलन पर एक साथ कई सवाल भी खड़ा करती हैं। जिसमें ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, डॉ. अम्बेडकर से लेकर मानवाधिकार और अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाई जा रही स्त्री आंदोलन और उसके प्रश्नों पर चर्चा की जाती है। वे लिखती है कि '' मैं भी इन संस्थाओं से जुड़कर महिला जाग्रति के विचारों का प्रचार–प्रसार करने लगी थी, साथ ही अपनी शोषित, पीड़ित स्थिति को भी महसूस कर रही थी।''[63] अर्थात् बिना संस्थाओं से जुड़े या आंदोलन से जुड़े स्त्रियों के शोषण के विविध रूपों को नहीं समझा जा सकता है और न ही जागरूक ही हुआ जा सकता है। कई बार यह चेतना के अभाव में और रोज–रोज एक ही तरह की जीवन जीते जीते महिलाएं उस शोषण उत्पीड़न आदि को जीवन में सहज ही स्वीकार कर लेती हैं। उसे पता ही नहीं होता है कि वह किस तरह की नरकीय जीवन का भोग कर रही है। ''यह एक स्त्री का दुख नहीं है , न जाने कितनी स्त्रियां मेरी तरह जिंदगी के संताप को भोगती हैं। न शिकवा, न शिकायत। जिंदगी का जहर चुपचाप पीते रहना, वे ... दुनिया से जुड़कर भी, शोषण–उत्पीड़न सहते हुए शारीरिक और मानसिक पीड़ा सहती हैं, उनका संताप कहीं ज्यादा होता है।''[64] इस प्रकार कहा जा सकता है कि संताप, पीड़ा, दुख दर्द सभी स्त्रियां झेलने को मजबूर हैं। हमारी पारंपरिक और सामाजिक व्यवस्था ही स्त्रियों को सभी संताप झेलने को विवस करती है। हम स्त्रियां सबकुछ जानते हुए अपनी बेटी और बहु को यही कहते हैं– 'क्या करोगी स्त्री धरती होती है' उसको सहना ही पड़ता है। स्त्री को धरती का दर्जा देकर उसे तमाम तरह के कष्ट झेलने पर मजबूर करते हैं। तब भी पुरुषों का क्या उसे तो मौका मिल ही जाता है। हम स्त्रियां ही पुरुषों को बढ़ा–चढ़ाकर और स्त्रियों को दबाकर रखते हैं। टाकभौरे (शीला) की सास और ननद एक स्त्री है और स्त्री होते हुए भी वे अपनी बहू को स्त्री नहीं समझती है। किसी गलती पर अपने बेटे को नहीं टोकती है जिससे मिस्टर टाकभौरे को अपनी गलती का एहसास नहीं होता है और अपनी गलती भी मर्दानगी लगती है। लेकिन आश्चर्य है जो पुरुष एक स्त्री जो उसकी स्वयं की मां और बहन है, उसके प्रति इतना दयावान, सहृदयी और प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है। वहीं दूसरी स्त्री जो पत्नी है, पढ़ी–लिखी है, नौकरी करती है, बच्चे पैदा कर देती, घर संभालती है, उसके प्रति इतना कठोर कोई पुरुष कैसे हो सकता है? आश्चर्य तब ज्यादा होता है जब एक पढ़ा–लिखा नौकरी पेशा पुरुष का

व्यवहार परिवार में अपनी पत्नी के साथ ऐसा है। जो बाहरी दुनिया में सक्रिय है। विभिन्न आंदोलनों से जुड़ा शिक्षित और संभ्रांत पुरुष का व्यवहार सचमुच सोचने पर मजबूर करता है। शारीरिक हिंसा स्त्री को कमजोर व अबला बनाने के लिए किया जाता है। उसे असुंदर कुरुप कहकर अक्ल दो कौड़ी की नहीं है, छोड़ो तुमसे कुछ नहीं हो सकता आदि बातें स्त्री को कमजोर बनाता है। इन सारी गुणों से भरपूर टाकभौरे जी एक भी नुक्सा अपनाने से नहीं चुकते थे। सभी का प्रयोग अपनी पत्नी रूपी स्त्री पर करते हैं। इस प्रकार सुशीला टाकभौर वर्षों तक इन सब बातों में उलझी रहीं। वे शोषण के चक्र में जकड़ी रही। इसीलिए वे लिखती हैं कि ''बहुत बाद में मैं इस बात को समझ पाई, मुझे लगातार ऐसी स्थिति में उलझाकर रखा जाता था ताकि मैं सहज न रहूं। गुस्से में रहूं या उदास रहूं। पति से कुछ अपेक्षा न करूं, न प्यार की न अपनेपन की, न जिम्मेदारी की। कभी कोई शिकायत न करूं। अपनी दुनिया में खोई रहूं। अपनी मानसिक यातना में उलझी रहूं। अपनी जिम्मेदारी यंत्रवत निभाती रहूं। मैं कई बरसों तक ऐसे मानसिक शोषण से त्रस्त रही थी।''[65] यह जो यंत्रवत फर्ज या कर्म की आदत स्त्रियों में पैदा हुई और वह कभी भी अपने पति से सवाल नहीं कर सकती है। इसका कारण भारतीय प्राचीन सनातन संस्कृति है जिसमें पति या किसी पुरुष या फिर मालिक से सवाल करने की इजाजत स्त्रियों को नहीं है। यह सब इतना सामान्य हो गया है कि आधुनिक विचार भी स्त्रियों को इसके खिलाफ आंदोलन के लिए तैयार नहीं कर पाता है। इसलिए टाकभौरे लिखती है कि ''ऊपर–ऊपर देखें तो जीवन में सब सहज और सामान्य लगता है मगर अंदर जीवन के अनेक पृष्ठों पर मन को उद्वेलित करने वाली कितनी धधकती धाराएं बहती रही हैं, चेतना को शून्य कर देने वाली कितनी बर्फीली धाराएं बहती रही हैं! ये कभी हृदय से आह बनकर धुंधली बादल बनकर छाई हैं, कभी अश्रुधारा बनकर जीवन के पटल पर छाये दुख दर्द के बादलों को धोती रही हैं। जब कभी वे बातें याद आती हैं तो मन में हूंक सी उठती है। मैंने जीवन का यह रूप भी जीया है। जब मैं पीछे मुड़कर देखती हूं तब यादों के साये जीवन के झरोखे से, मुझे फिर से उन बीथियों में ले जाते हैं और मैं फिर से उन अनुभूतियों को जीकर व्यथित हो जाती हूं। किस तरह जीवन में संघर्षों से जूझती रही, संग्राम की तरह लड़ती रही, हारती रही, जीतती रही। जीतना ही उद्देश्य था। मैं कभी हताश नहीं हुई।''[66] अर्थात् एक स्त्री को जीवन के विविध संकटों में भी जीतने का हौसला नहीं खोनी चाहिए। मन में एक विश्वास और उम्मीद के साथ आगे ही बढ़ते रहना चाहिए। आज जरूरत है स्त्रियों को अपनी स्थिति समय पर समझने की, अपने अधिकार को जानने की, अपनी सत्ता को खुद ही अपने हाथों में लेने की। अपनी स्थिति, अपने अधिकार और ताकत को समझने की आवश्यकता है। ''दलित स्त्रियां लड़कर अपने अधिकार लेती है जबकि सवर्ण स्त्रियां चुप रहकर सहन करती है। यदि स्त्रियों में जागृति हो तो वे अन्याय का मुंह तोड़ जवाब दे सकती है और अपने अधिकार छीनकर ले सकती है।''[67] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि दलित घर की स्त्रियां बराबर की स्थिति में जल्दी आ सकती है और सवर्ण घर की स्त्रियों को ज्यादा वक्त लग सकता है। इस सब के बावजूद स्थिति यह है कि दलित स्त्रियों को तीहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है जबकि सवर्ण परिवार की स्त्रियां केवल पितृसत्ता का ही शिकार होती है। उसे पितृसत्ता के अलावा जाति आधारित शोषण का शिकार नही ंके बराबर होना पड़ता है।

भारतीय समाज में यह अक्सर देखा गया है कि स्त्रियां घरेलू कामों में निर्णय लेती हैं लेकिन किसी बड़े कामों में निर्णय नहीं लेती हैं। यदि वे लेती भी हैं तो घर के पुरुष सदस्य को यह कहते हुए अक्सर पाया गया है कि इसका गलत परिणाम निकला तो यह तुम्हें ही भुगतना पड़ेगा। ''खर्च करने की और निर्णय लेने की जिम्मेदारी मुझे ही उठानी पड़ती थी। टाकभौरे जी कहते थे, ''यदि आगे कुछ गलत हुआ तो उसका परिणाम तुमकों ही भुगतना पड़ेगा।' मैं आत्मविश्वास के साथ सभी निर्णय अपनी जिम्मेदारी पर लेकर खर्च भी उठाती रही।''[68] इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि स्त्रियां अपने आत्मविश्वास के साथ निर्णय लेती हैं तो उसे कोई पुरुष आगे बढ़ने से नहीं रोक सकता है। पुरुषवादी मानसिकता तो यह चाहती है कि स्त्रियां घर में रहें, कोई निर्णय न ले और यदि ले तो मुझसे पूछ कर ले। ऐसी स्थिति में स्त्रियों में न ही आत्मविश्वास का भाव पैदा होता है और न ही वह कोई निर्णय ही ले पाती हैं। धीरे–धीरे यह बात उनमें प्रतिकार या प्रतिरोध की भावना को खत्म कर देती है और वह पंगु होकर शोषण का शिकार होने लगती है। यदि वह इन शोषण या उत्पीड़न से मुक्त स्वतंत्र निर्णय लेती हैं और आत्मविश्वास के साथ कोई काम करती है तो निश्चय ही वह सफल हो सकती हैं।

स्त्री आंदोलन में स्त्री–पुरुष की भिन्नता को लेकर कई सवाल उठे हैं। महादेवी वर्मा इस अंतर को स्वीकार करती हुई लिखती हैं कि ''दो वस्तुओं का अंतर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नहीं होता, यह मनुष्य प्रायः भूल जाता है। नारी ने भी यही चिरपरिचित भ्रांति अपनाई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, शारीरिक विकास के विचार से और सामाजिक जीवन की व्यवस्था से स्त्री और पुरुष में विशेष अंतर रहा है और भविष्य में भी रहेगा, परंतु यह मानसिक या शारीरिक भेद न किसी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और न किसी हीनता का विज्ञापन करता है। स्त्री ने स्पष्ट कारणों के अभाव में इस अंतर को विशेष त्रुटि समझा केवल यही सत्य नहीं है, वरन यह भी मानना होगा कि उसने सामाजिक अंतर का कारण ढूंढ़ने के लिए स्त्रीत्व को क्षत–विक्षत कर डाला।''[69.] अर्थात् स्त्री–पुरुष में भेदभाव नैसर्गिक नहीं सामाजिक–सांस्कृतिक है। इस भेदभाव को सामाजिक–सांस्कृतिक मान्यताएं मिली हुई अन्यथा आधुनिक विज्ञान ने तो खत्म करने का विचार दिया है और आज इस सोच में अंतर भी आया है।

आधुनिक युग में स्त्री की स्वतंत्रता को लिकर महादेवी वर्मा ने बहुत ही सटीक विश्लेषण किया है कि '' बाहर के संघर्षमय जीवन में जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रों में कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, जीवन यापन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को अपने स्वेदकणों से तौल कर स्वीकार करेगी, उसी पुरुष में नारी के प्रति जिज्ञासा जाग्रत रखने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अंग सौष्ठव के रक्षार्थ असाध्य कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप, अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है उसे देखते हुए कोई भी विचारशील स्त्री को स्वतंत्र न कह सकेगा।''[70] अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता है कि जो स्त्रियां रूप, शरीर और आकर्षण से घिरी हुई होती है तब वैचारिक रूप से स्त्री स्वतंत्र नहीं होती है। इस संदर्भ में महादेवी का यह कथन बहुत ही मार्मिक भी है कि ''आधुनिक स्त्री ने अपने जीवन को इतने परिश्रम और यत्न से जो रूप दिया है वह कितना स्वाभाविक हो सकता है, यह कहना अभी संभव नहीं। हां, इतना कह सकते हैं कि वह बहुत

सुंदर भविष्य का परिचायक नहीं जान पड़ता। स्त्री के लिए यदि उसे किसी प्रकार उपयोगी समझ भी लिया जावे तो भावी नागरिकों के लिए उसकी उपयोगिता समझ सकना कठिन ही है।''[71] अर्थात् महादेवी का यह कथन कि अब तक स्त्रियों ने जिस परिश्रम और यत्न से जिस रूप में अपने आप को निर्मित की है वह बहुत सुंदर भविष्य का परिचय नहीं दे रहा है। जो आज उपयोगी है वह कल भी उपयोगी साबित हो यह कहना कठिन है। इसे यूं कहें कि आजादी पूर्व जिस प्रकार की स्त्रियां या उसकी सोच या उसकी विचारधारा रही है वह आजादी के उपरांत बदली है और उसमें बदलाव की जरूरत है। इस बदलाव को स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्ति स्त्री और उसके जीवन तथा उसकी विचारधारा से समझा जा सकता है। आज स्त्रियां सभी क्षेत्रों में अपनी शक्ति और चिंतन का परचम लहराई है लेकिन वह शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार आदि से मुक्त नहीं हुई हैं।

भारतीय और पश्चिम की स्त्री आंदोलन के बावजूद उसकी स्थिति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। इन कारणों का विश्लेषण करती हुई महादेवी वर्मा लिखती हैं कि ''स्त्री यदि रंगीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय–विमुग्ध्य हो उठेगी, यदि नहीं तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियां स्त्री के लिए अपमानजनक हैं।''[72] अर्थात् यह कहा जा सकता है समय सापेक्ष स्त्रियों में परिवर्तन हुआ है, समाज में उसकी स्थिति बदली हुई है लेकिन समग्रता में प्राचीनकाल की स्त्रियों और आधुनिक काल की स्त्रियों का दर्द एक जैसा है, परिवर्तन है तो सिर्फ उसके स्वरूप में। इसका एक कारण यह है कि हमारी संस्कृति में आज भी स्त्रियां पारंपरिक सोच के बीच 'रंगीन खिलौने' की तरह हैं या सिर्फ 'वस्तुमात्र' की तरह इस्तेमाल की जाती हैं। उसके स्वतंत्र चिंतन और चिंता को स्वीकार ही नहीं किया जाता है। हर हालात में जिसकी ओर महादेवी वर्मा संकेत करती हुई कहती हैं कि स्त्री के वस्तुकरण और स्वयं आकर्षक दिखने की स्थिति खतरनाक है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री के इस वस्तुकरण रूप और मानवीय रूप में अंतर आया है। जहां वह मानवीय रूप में आती हैं वहां पारंपरिक समाज उनकी आधुनिक संविधान सम्मत नारी को पसंद नहीं करता है वहीं यह भी चिंता का विषय है कि आधुनिकता के नाम पर सिर्फ पश्चिम की नारी की तरह अपने आप को तैयार कर लेना भी कम खतरनाक नहीं है। इसलिए वह पश्चिम की स्त्रियों की इन स्थितियों की तुलना करते हुई कहती हैं कि भारतीय स्त्री के लिए यह अनुकरण खतरनाक हो सकती है। उन्हीं के शब्दों में, ''पश्चिमी स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की आधुनिकता से प्रभावित महिलाओं का अध्ययन करें तो दोनों ही ओर असंतोष और उसके निराकरण में विचित्र साम्य मिलेगा।''[73] इस विचित्रता और साम्यता को यदि नहीं समझा जाएगा तो भारतीय स्त्रियों को न तो मानवीय रूप में देखा जा सकता है और न ही वह 'नागरिकता' का अधिकार समुचित रूप में जी सकती है। भारतीय समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति के कारणों की चर्चा करती हुई महादेवी वर्मा लिखती हैं कि, ''हमारे यहां की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित चली आ रही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते करते उसे जिस अधोगति तक पहुंचा दिया है वह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति को पहुंचकर भी जो व्यक्ति असंतोष प्रकट नहीं करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अंत में कठोर जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक

दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों और परंपरागत संस्कारों के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएं मिलीं और न सुयोग, परंतु उसने उन्हीं को अपना मार्गप्रदर्शक बनाना निश्चित किया।''[74] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सदियों से दयनीयता की स्थिति के प्रति अब भी स्त्रियों में असंतोष का भाव प्रकट नहीं होता है वह उसी स्थिति में समझी जानी चाहिए। जैसे कोमल तुल वस्तुएं भी एक दिन अधिक दबाने पर प्रतिक्रिया करता है वैसे ही भारतीय स्त्रियां भी विद्रोह करेंगी। वह आंदोलन करेंगी। यह आंदोलन सामाजिक रूढ़ियों, परंपरागत संस्कार आदि के कारण होने वाली स्थिति के प्रति अपना मार्गदर्शन तैयार कर लिया है। यह दूसरी बात है कि वर्तमान स्त्री आंदोलन की वैचारिकता और उसकी दिशा अभी भी निर्धारित होना बाकी है।

भारतीय समाज में स्त्री आंदोलन का यह हर्ष है कि इस आंदोलन में एक तरफ समाज का पारंपरिक संस्कार एवं मान्यताएं चली आ रही है तो दूसरी ओर आधुनिकता के नाम पर उनमें एक अलग ही प्रवृत्ति का समावेशन हो रहा है जो एक तरफ उन्हें आधुनिक विचार से बौद्धिक बना रही है तो वहीं दूसरी तरफ आधुनिकता का सतही समझ जीवन के दुःख परिणति की ओर ले रहा है। महादेवी वर्मा ने सही ही लिखा हैं कि ''एक ओर परंपरागत संस्कार ने उसके हृदय में यह भाव भर दिया है कि पुरुष विचार, बुद्धि और शक्ति में उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नहीं रहने देती। इन्हीं दोनों भावनाओं के बीच में उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वों की मांग सामने रखती, परंतु परिस्थितियां इसके अनुकूल नहीं थीं। जो अप्राप्त है उसे पा लेना कठिन नहीं है परंतु जो प्राप्त था उसे खोकर फिर पाना अत्यधिक कठिन है। एक में पानेवाले की योग्यता संभावित रहती है दूसरे में अयोग्यता, इसी से एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नहीं होता जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारों के विषय में भी यही सत्य है।''[75] इससे यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को अपनी प्रतिस्पर्द्धा पुरुष से करने के बजाय अपनी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अपनी मांग को निर्धारित करती और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती। इसी आलोक में वे भारतीय स्त्रियों की स्थिति का जायजा लेती हुई लिखती हैं कि ''कुछ ऐसी हैं जिन्होंने अपने युगांतरदीर्घ बंधनों की अवज्ञा कर पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक आंदोलन को गतिशील बनाने के लिए पुरुषों को अभूतपूर्व सहायता दी; कुछ ऐसी शिक्षिताएं हैं जिन्होंने अपनी अनुकूल परिस्थितियों में भी सामाजिक जीवन की त्रुटियों का कोई उचित समाधान न पाकर अपनी शिक्षा और जागृति को आजीविका और सार्वजनिक उपयोग का साधन बनाया और कुछ ऐसी संपन्न महिलाएं हैं, जिन्होंने थोड़ी सी शिक्षा के साथ बहुत सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने गृहजीवन को एक नवीन सांचे में ढाला है।''[75] अर्थात् भारतीय स्त्रियों ने कैसे पुरुष का साथ दिया है और सामाजिक परिवर्तन के साथ अपने जीवन में शिक्षा, श्रम, चेतना के साथ अपनी आजीविका और अपने जीवन को बेहतर बनाया है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों के जीवन को इस अवलोकन में मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय स्त्रियों ने शिक्षा, चेतना, आत्मनिर्णय, आत्मनिर्भरता आदि के साथ स्त्री जीवन

मूल्यों को स्थापित ही नहीं किया है बल्कि उसे हासिल करने में भी सफल रही हैं। इस सब के बावजूद समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति या चिंताजनक स्थिति का कारण जहां पुरुषवादी सोच विचार है वहीं महादेवी वर्मा यह कहती हैं कि ''स्त्री की जीवन शक्ति का ह्रास इसी कारण हुआ कि वह अपने आपको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के अनुरूप बनाने में असमर्थ रही। उसने एक केंद्र बिंदु पर अपनी दृष्टि को तब तक स्थिर रखा, जब तक चारों ओर से परिस्थितियों ने उसकी दृष्टि नहीं रोक लीं। उस स्थिति में प्रकाश से अचानक अंधकार में आये हुए व्यक्ति के समान वह कुछ भी न देख सकी। फिर प्रकृतिस्थ होने पर उसने वही पिछला अनुभव दोहराया।''[77] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जब तक समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं हो सकती है जब तक वह अपने आप को समाज के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुरूप नहीं बनाती है। भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति कैसी होगी तथा समाज कैसा होगा, इस पर महादेवी वर्मा एक भविष्यद्रष्टा की तरह बहुत ही सार्थक बात कही है। वे लिखती हैं कि ''भविष्य में भारतीय समाज की क्या रूप रेखा हो, उसमें नारी की कैसी स्थिति हो, उसके अधिकारों की क्या सीमा हो आदि समस्याओं का समाधान आज की जाग्रत और शिक्षित नारी पर निर्भर है। यदि वह अपनी दुरावस्था के कारणों को स्मरण रख सके और पुरुष की स्वार्थपरता को विस्मरण कर सके तो भावी समाज का स्वप्न सुंदर और सत्य हो सकता है, परंतु यदि वह अपने विरोध को ही चरम लक्ष्य मान ले और पुरुष से समझौते के प्रश्न को ही पराजय का पर्याय समझ ले तो जीवन की व्यवस्था अनिश्चित और विकास का क्रम शिथिल होता जाएगा। क्रांति की अग्रदूती और स्वतंत्रता की ध्वजा धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण में शेष होगा, केवल ध्वंस में नहीं।''[78] यहां महादेवी वर्मा की बातों से सहमति–असहमति हो सकती है लेकिन वह एक भविष्य की रूपरेखा है, एक आंदोलन का, एक आधुनिकता का आगाज है, जहां विरोध पितृसत्ता से है, उसकी मानसिकता है, उसकी प्रवृत्ति है पुरुष से नहीं।

परिवार और समाज की पुरानी मान्यताओं के कारण आधुनिक शिक्षित स्त्रियों को घर से बाहर काम करने में दिक्कत आती है। लेकिन उसका वर्तमान यह कहता है कि उसे घर से बाहर काम करने की जरूरत है। इस कारण से शिक्षित स्त्रियां पुरानी मान्यताओं को स्वीकार नहीं करती है। ये सभी मान्यताएं जो एक स्त्री के जीवन को घेरती है वह पुरुषों के द्वारा बनाया गयी है, स्त्री ने नहीं बनाई है। विवाह पूर्व या पश्चात नौकरी करना या काम करना भी पुरुषों के द्वारा निर्धारित होता है। इन सब मिथ्या को महादेवी वर्मा एक स्त्री की दृष्टि से देखकर विश्लेषण करती है। ''आधुनिक शिक्षा प्राप्त स्त्रियां अच्छी गृहिणियां नहीं बन सकतीं; यह प्रचलित धारणा पुरुष के दृष्टि बिंदु से देखकर ही बनाई गई है, स्त्री की कठिनाई को ध्यान में रखकर नहीं।''[79] इसलिए वे लिखती हैं कि 'अवकाश के समय का दुरुपयोग वे केवल अपनी प्रतिष्ठा की मिथ्या भावना के कारण ही करती है और इस मिथ्या भावना को हम बालू की दीवार की तरह गिरा सकते हैं। ''यह सत्य है कि हमारे यहां ऐसी सुशिक्षित स्त्रियां कम हैं जो शिक्षा के क्षेत्र में तथा घर में समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती हों, परंतु यह भी कम सत्य नहीं कि हमने उनकी शक्तियों को नष्ट–भ्रष्ट कर उनके जीवन को पंगु बनाने में कोई कसर नहीं रखी।' इसी के साथ वे विवाह प्रकरण में स्त्री जीवन की नौकरी के विषय में लिखती हैं कि ''विवाह करते ही सुखी गृहस्थी के स्वप्न सच्ची हथकड़ी–बेड़ी बनकर उनके हाथ–पैर ऐसे जकड़ देते हैं कि उनमें जीवन शक्ति

का प्रवाह ही रुक जाता है।''[80] इस प्रकार आधुनिकता और परंपरा के बीच एक सूत्र की तलाश करती हुई महादेवी वर्मा स्त्री–पुरुष के बीच विकासशील मनुष्य बनने की बात करती हैं या फिर उसे मशीन की तरह यंत्र बनकर जीवन को चलाने का नाम देती है। इससे बचने के लिए जहां एक तरफ स्त्री की स्वतंत्रता जरूरी है वहीं दूसरी ओर पुरुष में त्याग की भावना की जरूरत है। वे लिखती हैं कि ''स्त्री को किसी भी क्षेत्र में कुछ करने की स्वतंत्रता देने के लिए पुरुष के विशेष त्याग की आवश्यकता होगी। पुरुष अब तक जिस वातावरण में सांस लेता रहा है वह स्त्री को दो ही रूपों में बढ़ने दे सकता है, माता और पत्नी। स्त्री जब घर से बाहर भी अपना कार्य क्षेत्र रखेगी तो पुरुष को उसे और प्रकार की स्वतंत्रता देनी पड़ेगी, जिसकी घर में आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे आने जाने की, अन्य व्यक्तियों से मिलने जुलने की तथा उसी क्षेत्र में कार्य करने वालों से सहयोग लेने देने की आवश्यकताएं प्रायः पड़ती रहेंगी। ऐसी दशा में पुरुष यदि उदार न हुआ और प्रत्येक कार्य को उसने संकीर्ण और संदिग्ध दृष्टि से देखा तो जीवन असह्य हो उठेगा! वास्तव में स्त्री की स्थिति के विषय में कुछ भी निश्चित होने के पहले पुरुष को अपनी स्थिति निश्चित कर लेना होगा। समय अपनी परिवर्तनशील गति में उसके देवत्व और स्त्री के दासत्व को बहा ही ले गया है, अब या तो दोनों को विकासशील मनुष्य बनना होगा या केवल यंत्र।''[81] अर्थात् पितृसत्ता का त्याग या अंत के साथ ही स्त्री एक मानव के रूप में, मानवीय रूप में जीवन स्वीकार कर और पुरुष भी, अन्यथा दोनों 'यंत्र' के रूप में जीवन को जीएगा। यह भारतीय समाज के भविष्य का निर्धारण है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन के इन पहलुओं को भी देखा जा सकता है। जब प्रभा खेतान सब कुछ से संपन्न होती हुई 'मातृत्व' भाव की तलाश करती है, तब सामान्यत वह यंत्रवत जीवन से मुक्त होने की आकांक्षा प्रकट करती हैं। सुशीला टाकभौरे पति की यातना से यंत्रवत काम करने की मुक्ति की इच्छाएं रखती है तो वह अपनी जिंदगी की यंत्रवता से ही मुक्त होनी की बात करती है। इस मानवीय आकांक्षा या मानवीय रूप में जीवन जीने की इच्छा को समझती हुई महादेवी वर्मा लिखती है कि स्त्री अधिकार को पत्नि या मातृत्व से आगे बढ़कर व्यक्ति और नागरिक के रूप में स्वीकार करने की बात करती है। उन्हीं के शब्दों में, ''स्त्री के जीवन में राजनीतिक अधिकारों तथा आर्थिक स्वतंत्रता का अभाव तो रहा ही, साथ ही उसकी सामाजिक स्थिति भी कुछ स्पृहणीय नहीं रही। उसके जीवन का प्रथम लक्ष्य पत्नीत्व तथा अंतिम मातृत्व समझा जाता रहा, अतः उसके जीवन का एक ही मार्ग और आजीविका का एक ही साधन निश्चित था। यदि हम कटु सत्य सह सकें तो लज्जा के साथ स्वीकार करना होगा कि समाज ने स्त्री को जीविकोपार्जन का साधन निकृष्टतम दिया है। उसे पुरुष के वैभव की प्रदर्शनी तथा मनोरंजन का साधन बनकर ही जीना पड़ता है, केवल व्यक्ति और नागरिक के रूप में उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं आंका जाता।''[82] यह जो मानव या नागरिक के रूप में स्त्री जीवन को न समझा जाना ही किसी भी समाज की दयनीय स्थिति का कारण है। समाज स्त्री जीवन को बोझ की तरह देखता है उसे सहजीवनी या सहधर्मी के रूप में नहीं समझा जाता है। उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाए कि वह अनुभव कर सके कि वह भी मानव है और उनकी भी जिंदगी का मूल्य समाज में उतना ही है जितना कि पुरुषों के जीवन का, तो समाज में स्त्री–पुरुष का न भेदभाव पैदा होगा और न ही उनमें किसी भी प्रकार के द्वंद्व की स्थिति आएगी। स्त्री जीवन के प्रति आज भी समाज की सबसे बड़ी चिंता यह है कि लड़की आत्मनिर्भर

और आत्मनिर्णय की स्थिति में कैसी हो। यह न होकर उसकी विवाह की चिंता सबसे ज्यादा होती है। ''जैसे ही कन्या का जन्म हुआ, माता–पिता का ध्यान सबसे पहले उसके विवाह की कठिनाइयों की ओर गया।''[83] वह शारीरिक रूप से या मानसिक रूप से जीवन की परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता ग्रहण की नहीं या वह अपने जीवन के सही –गलत का फैसला ले सकती हैं, इसकी चिंता कभी भी समाज में नहीं किया जाता है। 21वीं सदी में भी नहीं। माता–पिता इसे समझने के बजाय उसके विवाह की चिंता करते हैं। चाहे वह शरीर से उस जीवन के लिए असमर्थ है, चाहे मन से अनुपयुक्त परंतु विवाह के अतिरिक्त उसके जीने का अन्य साधन नहीं। उसकी इच्छा–अनिच्छा, स्वीकृति–अस्वीकृति, योग्यता–अयोग्यता की न कभी किसी ने चिंता की और न करने की आवश्यकता का अनुभव किया। इस सबके बावजूद स्त्री को पत्नीत्व का प्रबंधन करना ही पड़ता है अन्यथा उसके पास दूसरा कोई उपाय नहीं होता। वह भरण–पोषण की स्थिति में नहीं होती है। वह भरण–पोषण के लिए पुरुष के साधन या उसपर निर्भर रहती है जो कि उसके शोषण या दयनीय स्थिति का एक कारक ही होता हैं। इसलिए आज जब स्त्रियां इस संदर्भ में अपना पक्ष रखती है तो वह आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता का सवाल सबसे पहले उठाती हैं।

आधुनिक युग में भी स्त्रियां पारंपरिक सोच की तरह इस गलतफहमी में रहती हैं कि उसका पति तो कमा ही रहा है उसे कमाने की क्या जरूरत है। इस सोच की स्त्रियां पारंपरिक सोच के कारण कभी यह नहीं सोचती हैं कि स्वालंबन होकर समाज में अपने व्यक्तित्व व हित की रक्षा कर सकती हैं। ऐसा क्यों होता है, यह एक बड़ा सवाल है। इसे स्त्री आंदोलन और उसकी व्यवहारिकता के बीच समझने की आज ज्यादा जरूरत है। वे लिखती हैं कि ''अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में कितना महत्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसकी उच्छृंखलता बहुलता में जितने दोष हैं वे अस्वीकार नहीं किए जा सकते, परंतु इसके नितांत अभाव में जो अभिशाप है वे भी उपेक्षणीय नहीं। विवश आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती रहती है, जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविश्वास के लिए विष के समान है। दीर्घकाल का दासत्व जैसे जीवन की स्फूर्तिमती स्वच्छंदता नष्ट करके उसे बोझिल बना देता है, निरंतर आर्थिक परवशता भी जीवन में उसी प्रकार शून्यता उत्पन्न कर देती है। किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिशाप है जिसमें वह स्वावलंबन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।''[84] अर्थात् स्वालंबन का भाव भूलने के कारण ही समाज में उसकी सामाजिक व्यक्तित्व व हित की रक्षा नहीं होती है। जिसके कारण समाज में कई प्रकार का द्वंद्व स्त्री जीवन में रूप में दिखाई पड़ती है। परिवार, समाज और राष्ट्र में स्त्रियों के जीवन के द्वंद्व को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि रूपों में देखा जा सकता है। इसमें पति की उपेक्षा से लेकर नौकरी करने और स्वालंबन की स्थिति, आत्मनिर्भरता, आत्मनिर्णय आदि सभी रूपों में कहीं न कहीं स्त्री जीवन में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व हावी होता दिखाई देता है। पंरपरा और आधुनिका के बीच द्वंद्व का आधार ही हमेशा से समाज व परिवार का संस्कार है। इसी संस्कार की वजह से भारतीय स्त्रियां न तो पूरी तरह से परंपरा से अलग हो पाईं और न ही पूरी तरह से आधुनिकता हो ही ग्रहणकर पाईं। भारतीय पुरुष से मार खाई और

शोषण–उत्पीड़न की शिकार स्त्रियां भी सच का बयान नहीं करती हैं जिस कारण से समाज से शोषण का अंत मुश्किल होता है। इस संदर्भ में कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं कि ''सच पूछिए तो पति की उपेक्षिता मेरी नारी, पुरुषों की चाहत से टकरा टकरा कर भी अपने चरित्र को संस्कारों की खोल से बाहर नहीं उतार सकी।''[85] निश्चय ही यह वही संस्कार और मानसिकता है जिसका जिक्र महादेवी वर्मा भारतीय समाज और स्त्री स्वालंबन, आत्मनिर्भरता के संदर्भ में करती हैं। भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व इस रूप में भी देखा जा सकता है कि आधुनिक युग में भी हमारे समाज में लड़का–लड़की साथ–साथ पढ़–लिख नहीं सकता है। हालांकि इस मानसिकता में परिवर्तन तो देखने को मिलता है। लेकिन स्थिति आज भी बहुत नहीं बदली है। जैसा कि कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं कि ''महाविद्यालय तक पहुंचते–पहुंचते इतना समझ आने लगा कि लड़के–लड़की का साथ रहना गलत समझा जाता है।''[86] इतना ही नहीं, समाज में खासकर ब्राह्मण परिवार में जिसे भारत में सबसे श्रेष्ठ और उच्च शिक्षित परिवार अक्सर माना जाता है। उनमें जाति के सवाल को बहुत ही गंभीरता से समझा जाता है। वे अपनी जाति को लेकर बहुत ही सर्तक हैं। वे लिखती है कि '' अरे क्या कान्य कुब्ज सब मर गएं जो सरयूपारीयों को लड़की दे दें। और भी तो दो लड़कियां हैं ब्याहने को।''[87] इस प्रकार देखा जाए तो ब्राह्मण समाज में जाति का भेदभाव कितना ज्यादा है। भले ही वह कितना पढ़ा–लिखा ही क्यों न हो! इसी मानसिकता ने आज तक भारत में लड़का–लड़की में भेदभाव बरकरार रखा है। कभी न लड़के के मन की बात को समझा गया है लड़की के मन की बातों को समझने का सवाल ही कहां उठता है? इसलिए कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं कि ''मुझे सचमुच ही घर से सभी बड़ों ने भयभीत कर दिया था। कोई भी हमारी मानसिकता को समझने के लिए तैयार नहीं था। ...बस परंपरागत दृष्टिकोण ही उन पर हावी था... लड़की का किसी लड़के से बात करना तक हराम है। वह केवल किसी अनाम, अपरिचित से पति की धरोहर है, जिसे ढूंढ़ने का केवल उन्हें ही अधिकार है।''[88] यहां विचारणीय बिंदु यह है कि भयभीत करना, मानसिकता, परंपरागत दृष्टिकोण, हराम और पति ढूंढ़ने का अधिकार है। इन बिंदुओं के अवलोकन से देखा जाए तो भारतीय समाज एक अजीबोगरीब विकास की रूपरेखा आत्मसात कर रहा है जिसमें दृष्टि का ओझल भी है और संस्कार का मुलम्मा भी।

भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व सभी तरह से स्त्रियों को पर्दों के भीतर खींचने को तैयार हैं। स्त्रियों के लिए पर्दा क्यों ? इस सवाल का जवाब पंडित रमाबाई ने हिंदू स्त्री का जीवन' में बहुत ही गंभीरता से देती है। वे लिखती हैं कि ''जीव जंतु से लेकर पेड़ पौधों तक में प्रकृति की यह मांग है कि सभी जीवित प्राणी स्वतंत्र रूप से अपनी वृद्धि की परिस्थितियों के साथ अनुकूल विकास करें अन्यथा वे उस रूप को नहीं पा सकेंगे, जो मूलतः उनका आकार है, फिर इस नियम का उल्लंघन क्यों? औरतें पर्दे में क्यों? घर की चाहरदीवारी में सीमित अपनी पूरी जिंदगी खुली हवा में सांस न ले पाने को मजबूर, वे पीढ़ी दर पीढ़ी कमजोर होती जाती है। उनकी शारीरिक बनावट क्षीण से क्षीणतर होती जाती है, उनकी भावनाएं समाज के अंधविश्वासों एवं मान्यताओं के बोझ तले दब जाती हैं और उनका मस्तिष्क किसी तरह के विचारों एवं ज्ञान से वंचित रह जाता है, जिससे वह विश्व को देखने समझने के काबिल नहीं रह पातीं।''[89] अर्थात् समाज में परंपरा के नाम

होने वाले पर्दे वस्तुतः स्त्रियों की योग्यता, उसकी क्षमता, उसके स्वास्थ्य आदि को चारदीवारी के भीतर रखने के लिए किया जाता हैं। यही कारण ही है भारतीय समाज विकास की दिशा में अनियंत्रित और अनियमित हैं क्योंकि वह देश की आधी आबादी की शक्ति का सही से इस्तेमाल ही नहीं करता है। वह उसे दिन ब दिन सीमित करने का प्रयास करता है अपनी झूठी शान, परंपरा, रीति–रिवाज आदि के नाम पर। हकीकत यह है यह सब पुरुष वर्चस्व का किला है जिसे स्त्रियों की शक्ति कभी भी खत्म कर सकती है। इसी को रोकने के लिए पुरुष सत्ता उसके जीवन को धर्म, संस्कार, परिवार, मर्यादा, नैतिकता आदि के नाम पर कैद कर देती है और उसके माध्यम से धीरे–धीरे स्त्री शक्ति को खत्म करती रहती है।

किसी भी समाज की स्त्रियों की स्थिति का संकट उस समाज व राष्ट्र का संकट होना चाहिए। जब तक यह भावना नहीं आती है तब तक समाज विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता है। स्त्री आत्मकथाओं मे स्त्री जीवन के जिस यथार्थ और उससे उत्पन्न द्वंद्व को दिखाया गया है वह वस्तुतः एक द्वंद्व ही नहीं समाज के लिए संकट है। पंडित रमाबाई के शब्दों में यह सकंट राष्ट्र का संकट है, राष्ट्रीय संकट है। वह समाज में स्त्रियों की दशा की रूपरेखा व कारक को उजागर करती हुई समाज में स्त्री जीवन के संकट को राष्ट्रीय संकट के रूप में रेखांकित करती हैं। उन्हीं के शब्दों में ''सदियों से हिंदू आचार संहिता को पूर्ण रूप से समर्पित ये औरतें दासत्व प्रिय प्राणियों में बदल गई हैं। किसी पर भी आश्रित और पूर्ण निर्भर होने में उन्हें खुशी होती है और यह प्रवृति उनके पुत्रों में फलित होकर इच्छा में बदल जाती है जो दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर होने में गर्व और संतुष्टि पाते हैं। यह पार्थक्य जिसमें पूर्णतः निर्भरता एवं पूर्ण उपेक्षा हमारे राष्ट्र की माताओं पर थोपी जा चुकी है तथा भाग्यवादी बातें जो पिता के मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर बताई जाती हैं, तथा इसने ऐसे जहरीले परिणाम पैदा किए हैं कि यदि समय रहते इनका कोई उपचार नहीं किया गया तो हिंदुस्तान एक दुखद और लंबी मृत्यु के लिए मजबूर हो जाएगा।''[90] पंडित रमाबाई की चिंता व चिंतन को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। इसी के साथ वे स्त्री के लिए जरूरत व प्राथमिकता को रेखांकित करती है। इसके लिए वे बताती हैं कि ऊंची जाति की हिंदू स्त्री की प्रमुख जरूरतें हैं, पहली– आत्मनिर्भरता, दूसरी शिक्षा तथा तीसरी देशी स्त्री अध्यापिकाएं। इस संदर्भ में वे आगे लिखती हैं कि ''भारत में एक धर्मनिरपेक्ष स्कूल खोला जाए जिसे आगामी 10 सालों तक आर्थिक मदद दी जाए। उस स्कूल में न हिंदू धर्म की शिक्षा दी जाएगी न ही ईसाई धर्म की। स्कूल के पुस्तकालय में वेद और बाइबल अगल बगल में रहेंगे और सबके लिए उपलब्ध होंगे। जातिगत नियमों का पालन करने की व्यक्तिगत स्तर पर छूट होगी पर किसी भी तरह का सार्वजनिक धार्मिक समारोह नहीं होगा।''[91] अर्थात् भारतीय समाज को तरक्की करनी है तो स्त्री जीवन के द्वंद्व के साथ, उसके जीवन के संकट को राष्ट्रीय संकट के तौर पर स्वीकृत करते हुए एक सशक्त सामाजिक परिवर्तन की जरूरत है। यह परिवर्तन ही राष्ट्र को और स्त्री जीवन मूल्यों को संकट से मुक्त कर सकता है। इसी आलोक में स्त्री मुक्ति आंदोलन और उसकी वैचाकिरता को भी निर्धारित किया जाना चाहिए और साथ ही उसकी सामाजिकता को भी जनमानस में संचालित करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

समग्रतः कहा जा सकता है कि किसी भी समाज के विकास में वहां की पारंपरिक मूल्य, जो इतिहासबोध से संचालित होता है उसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है लेकिन परंपरा के नाम पर सामाजिक–सांस्कृतिक जड़ता, रूढ़िवादिता, कर्मकांड आदि का पालन करना समाज को विकास की राह से पीछे ले जाता है। वहीं आधुनिकता जो कि एक वैज्ञानिक एवं तर्कशील वैचारिक मूल्य है, से किसी भी समाज के उत्थान व विकास के लिए अनिवार्य पहलू है। भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व इस कदर गढ़–मढ़ है कि वह समाज के विकास में सहायक नहीं होता है। 'द्वंद्व' की स्थिति स्त्रियों के लिए, स्त्री मुक्ति के लिए बहुत सहज नहीं है। परंपरा की नकारात्मक चीजें और आधुनिकता की 'फुहड़' चीजें दोनों ही किसी भी समाज के विकास में बाधक होती है, स्त्रियों की दृष्टि से इसे सकारात्मक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिस समाज में स्त्री शिक्षा की समुन्नत स्थिति नहीं है उस समाज में परंपरा और आधुनिकता की नकारात्मक तथ्यों की पहचान बहुत आसान नहीं। ऐसी स्थिति में वह स्त्री मुक्ति आंदोलन के लिए घातक है ही, साथ में समाज और राष्ट्र के लिए उचित नहीं कहा जा सकता है। राष्ट्र व समाज के विकास के लिए परंपरा और आधुनिकता की वैचारिकी का समन्वय के साथ समावेशन जरूरी है। साथ ही उसमें स्त्री पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इसी के साथ अगले अध्याय में स्त्री जीवन संघर्ष और आंदोलन का अध्ययन किया जाएगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. दर्शनकोश, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1988, पृ. 344
2. देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य, संकल्प प्रकाशन, मुम्बई, 1992, पृ. 80
3. वही
4. रविभूषण पाण्डेय, उत्तरोत्तर आधुनिकतावाद और सामाजिक परिवर्तन, आकृति प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 56
5. तसलीमा नसरीन, औरत का कोई देश नहीं, पृ. 11
6. हिंदी साहित्यकोश, संपादक डॉ.धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल, पृ. 86
7. रविभूषण पाण्डेय, उत्तरोत्तर आधुनिकता और सामाजिक परिवर्तन पृ. 59
8. वही, पृ. 49
9. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 40
10. वही, पृ. 38
11. मन्नू बाईसा की घेराबंदी (लेख), कथादेश, जनवरी 2009, पृ. 62
12. डॉ. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेज स्त्री आत्मकथाएं पृ. 78
13. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 218
14. वही, पृ. 48
15. डॉ. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेज, पृ. 78
16. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 49
17. गिरीराज किशोरः मन्नूजी, राजेन्द्र और थोड़ा सा मैं , कथादेश जनवरी 2009, पृ. 31
18. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 49
19. वही, पृ. 14
20. वही, पृ. 25
21. डॉ. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेज, पृ. 84
22. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या पृ. 68
23. वही, पृ. 68
24. वही, पृ. 71
25. वही, पृ. 76
26. वही, पृ. 76

27. वही, पृ. 113

28. वही, पृ. 74

29. वही, पृ. 114

30. वही, पृ. 75

31. वही, पृ. 141

32. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 52

33. दिनेशनंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ. 162

34. वही, पृ. 147

35. वही, पृ. 206

36. कुसुम असंल, जो कहा नहीं गया, पृ. 145

37. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 210

38. वही, पृ. 198

39. वही, पृ. 198

40. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 61

41. वही, पृ. 246

42. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 124

43. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 254

44. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या न कहूं पृ. 19

45. वही, पृ. 19

46. इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोसल साइंसेज, वैल्यूम, 13, पृ. 365 सं. डेविड एल सिल्स, दी मैचमित्तन कंपनी एंड दी फ्री प्रेस, न्यूयाक्र, अमेरिका उद्धरित, रेणु के साहित्य में स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक राजनीतिक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति, शोधार्थी, सब्य साचिन, जेएनयू, पृ. 12

47. श्यामाचरण दुबे, भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2001, पृ. 1

48. वही, पृ. 39

49. वही, पृ. 41

50. वही, पृ. 41

51. वही, पृ. 56

52. वही, पृ. 107

53. वही, पृ. 126

54. डी डी कोसांबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, अनुवाद–गुणाकर मुले, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 52

55. मंगलदेव शास्त्री प्रबंध प्रकाश, भाग–2, पृ. 3

56. नामवर सिंह,(सं.) हजारीप्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट,इंडिया, 2006, पृ. 69

57. वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य और संस्कृति :भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1971, पृ. 5

58. श्यामाचरण दुबे, भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2001, पृ. 119

59. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 41

60. वही, पृ. 39

61. वही, पृ. 51

62. वही, पृ. 70

63. वही, पृ. 203

64. वही, पृ. 205

65. वही, पृ. 211

66. वही

67. वही, पृ. 224

68. वही, पृ. 225

69. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़िया पृ. 43

70. वही, पृ. 45

71. वही, पृ. 44

72. वही, पृ. 46

73. वही, पृ. 46

74. वही, पृ. 47

75. वही, पृ. 48

76. वही, पृ. 49

77. वही, पृ. 53

78. वही, पृ. 54

79. वही, पृ. 67

80. वही, पृ. 66– 67

81. वही, पृ. 75

82. वही, पृ. 77

83. वही

84. वही, पृ. 102–3

85. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ 143

86. वही, पृ 62

87. वही, पृ. 65

88. वही, पृ. 65

89. पं. रमाबाई, हिंदू स्त्री का जीवन, पृ. 87

90. वही, पृ. 88

91. वही, पृ. 115

चौथा अध्याय

हिंदी स्त्री आत्मकथाः जीवन संघर्ष और आंदोलन

पूर्व अध्याय में परंपरा और आधुनिकता को समझते हुए परिवार, समाज और संस्कृति के संदर्भों में स्त्री जीवन मूल्यों को स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही इन मूल्यों को शिक्षा, समाज और वैश्विक को भी समझने की कोशिश रही है। इस अध्याय में स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन के विविध परिप्रेक्ष्यों को आत्मकथाओं के माध्यम से समझने का प्रयास किया जाएगा।

4.1 स्त्री जीवन : समस्याएं, संघर्ष और आंदोलन

संघर्ष और आंदोलन किसी भी व्यक्ति या समुदाय के जीवन जीने का प्रश्न रहा है, है और रहेगा। यह शुरू ही होता है तब, जब समाज में किसी भी व्यक्ति या समुदाय में जीवन के मूल्यों के क्षरण या उनके जीवन जीने की कला में हस्तक्षेप होता है या वह (हस्तक्षेप और क्षरण को) उसे महसूस करने लगता है। जब तक यह महसूस नहीं होता है तब तक जिंदगी किसी तरह चलती रहती है। संभवतः मनुष्य ही नहीं कोई भी प्राणी पहली बार जब जन्म लिया होगा तब से लेकर जीवनपर्यंत अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता रहता है और उसके विकासक्रम में यह संघर्ष चलता रहा है। इसी संघर्ष में उसका विकास हुआ है और वह अपने विकास के लिए, अपने समुदाय के विकास के लिए संघर्ष करता रहा है। यही संघर्ष जब सामूहिक रूप में तब्दील हुआ है तब वह आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया है। स्त्री जीवन का किस्सा भी कुछ ऐसी ही है। एलिन मारगन के अनुसार आदिम समाज में स्त्री, पुरुष की भांति स्वतंत्र थी, आत्मनिर्भर थी, वह खोजी थी, आर्थिक जीवन में उसका योगदान बराबर का था। लेकिन पुरुष के हस्तक्षेप, श्रम–विभाजन, न्यूक्लियर परिवार के अस्तित्व और उसके ऊपर स्वामित्व आदि ने स्त्रियों और उसके अधिकार को सीमित कर दिया। यहीं से स्त्री जीवन में परिवर्तन का दौर शुरू होता है। स्त्रियां घर की गृहणी बनने लगती हैं और सीमित हो जाती हैं चारदीवारी में। उन्हीं के शब्दों में, ''उसके लिए परिवर्तनशील युग वह था जब आखेटक संग्राहक जीवनशैली के परिणामस्वरूप श्रम विभाजन और न्यूक्लियर परिवार अस्तित्व में आया। समय के उस बिंदु तक वह पुरुष से कहीं भी पीछे नहीं थी, वह स्वतंत्र थीं, आत्मनिर्भर थी, वह खोजी थी और आर्थिक जीवन में उसका योगदान बराबर का था। जब तक किसी ने घर की ही खोज नहीं की थी तब तक कोई घरवाली कैसे संभव थी। यह ठीक है कि उसकी स्थिति प्रमुख नहीं थी, और वह अकेली ही नहीं थी इस कमतर हैसियत में, अनेक पुरुष भी ऐसी ही स्थिति में थे–प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह संभव भी तो नहीं है कि वह शीर्षस्थ रहें...और आदिमों में यह हैसियत कोई परेशानी खड़ी करनेवाली नहीं होती थीं। ... किंतु वह जो नहीं करना चाहता उसे करने के लिए उसके साथ जबर्दस्ती नहीं की जा सकतीं। मनुष्य ने बाद में यह तरीका खोज निकाला।''[1] अर्थात् स्त्रियां जो स्वेच्छा से नहीं करना चाहती थीं बाद में पुरुर्षवर्चस्व ने उसे जबर्दस्ती कायम किया। एलीन मारगन कहती हैं कि यहीं से पुरुषवादी सोच ने

स्त्रियों को वस्तु/सम्पत्ति की संतति के रूप में देखना शुरू किया और स्त्री उसके लिए एक संपत्ति बन जाती है जिस पर वह अपना प्रभुत्व/ अधिकार समझता है। वह एक व्यवस्था में तब्दील हो जाती है। यह सब 'आखेटक संग्राहक अर्थ व्यवस्था' की व्यवस्था से 'कृषि व्यवस्था' तथा 'आदिम समाज' व्यवस्था से लेकर 'न्यूक्लियर परिवार' तक की व्यवस्था में परिवर्तन में होता है। इस सबमें 'स्त्री प्रजनन' उत्पादक मशीन के रूप में बदलती गई और वह 'संपत्ति संतति' को बढ़ाने वाली मानी जाने लगी। इस अवलोकन के पश्चात एलीन मारगन कहती हैं कि ''स्त्री अब उसे कभी भी छोड़ कर नहीं जा सकती थी। इसके लिए उसने कायदे बनाए, जो उन कायदों से अधिक कठोर थे जो आखेटक –संग्राहकों ने निर्धारित किए थे। यह ईश्वर का विधान है, उसने कहा और दूसरे कृषकों ने मान लिया। उसे और स्त्री को एक–दूसरे के प्रति आजीवन, मृत्युपर्यंत निष्ठावान रहना चाहिए, किंतु यह तथ्य भी इसमें निहित था कि यदि वह बंध्या अथवा किसी अन्य कारण से उपयुक्त सिद्ध नहीं होती है तो वह उसे त्याग भी सकता है।''[2] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि इतिहास की परंपरा में स्त्री संपत्ति संरक्षण और व्यवस्था परिवर्तन में स्त्री अधिकार को खत्म करते हुए ही पुरुषवादी सोच ने स्त्री को संपति भी समझा और उसे सिर्फ 'प्रजनन' करने तक सीमित किया तथा उसे धर्म या ईश्वर का विधान बता कर उनकी सोच को, आचार–विचार–संस्कृति में इस कदर व्यवस्थित किया है कि आज तक स्त्रियां यह सब धर्म–ईश्वर–संस्कृति के नाम पर ढोती आ रही हैं लेकिन उससे मुक्त नहीं हो पा रही हैं। इसी प्रक्रिया में ''विवाह संस्था' भी जो वैधानिक रूप में पत्नी को पति की सपंत्ति बनाता है और 'घरेलू गुलाम भी।''[3] को भी शामिल कर लिया गया। वैवाहिक संस्था के इस स्वरूप से सहमति–असहमति हो सकती है लेकिन समाज में आज भी यह प्रक्रिया अनवरत चली आ रही है। जबकि विवाह एक सामाजिक संस्था है जो कि दो प्राणी को, मनुष्य को एक साथ जीवन जीने के लिए जोड़ता है। सुख–दुःख की सहधर्मी के तौर पर जोड़ता है लेकिन कब यह सहधर्मी परेमश्वर, पति, मालिक और 'अर्द्धनारीश्वर' बन जाता है! यह विचारणीय सवाल है। यह स्त्री आंदोलन और विमर्श के लिए बहुत बड़ी चुनौती और सबसे बड़ा संकट भी है। इसी चुनौतियों का सामना करती हुई 'मानवीय संकट' से मुक्त होने के लिए स्त्रियां संघर्ष और आंदोलन करती हैं। पाश्चात्य जगत हो या पूर्व जगत या भारतीय समाज हो सभी स्त्री संघर्ष और आंदोलन की शुरूआत यहीं से होती है।

इसी क्रम में समाज में स्त्री अपनी दयनीय स्थिति का जायजा भी लेती है। भारतीय समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति के कारणों की चर्चा करती हुई महादेवी वर्मा लिखती हैं कि ''हमारे यहां की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित चली आ रही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते–करते उसे जिस अधोगति तक पहुंचा दिया है वह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति में पहुंचकर भी जो व्यक्ति असंतोष प्रकट नहीं करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अंत में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों और परंपरागत संस्कारों के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएं मिलीं और न सुयोग, परंतु उसने उन्हीं को अपना मार्गप्रदर्शक

बनाना निश्चित किया।''[4] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि भारत में वर्तमान में स्त्री की स्थिति अनवरत इतिहास का फल है। वह सदियों से स्त्री अधिकार से वंचित चली आ रही है। भारत में स्त्रियों की दयनीयता का कारण यहां की सामाजिक–सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियां हैं। इतना ही नहीं, यह भी समझने की जरूरत है कि महादेवी वर्मा जिस असंतोष की बात कर रही है वस्तुतः वह मानव के संघर्ष और उसके आंदोलन को ही रेखांकित कर रही हैं। उसी का परिणाम है कि आज स्त्रियां विद्रोह कर रही हैं अपनी परंपरा और अपनी सामाजिक रूढ़ियों के प्रति। वह पुरुष के प्रभुत्व को चुनौतियां दी हैं। उसके खिलाफ संघर्ष कर आंदोलन का आगाज किया है। इन संघर्षों और आंदोलनों के विविध स्वरूपों को स्त्री आत्मकथाओं में समझा जा सकता है।

इतिहास में स्त्री के संघर्ष और आंदोलन अदृश्य है। इसका कारण कई हो सकता है लेकिन सबसे अहम कारण है कि इतिहासकार की दृष्टि। जिसमें आम जनता और स्त्री हमेशा की तरह गायब रही है। क्या समाज के निर्माण में स्त्रियों की भूमिका नहीं रही है? रही है तो उसका इतिहास क्यों नहीं? या वह इतिहास में दर्ज क्यों नहीं? निश्चय ही यह तथ्य इतिहासकार की दृष्टि दोष को ही रेखांकित करता है। वहीं दूसरा तथ्य यह है कि आज स्वयं स्त्रियों को अपने जीवन–संघर्ष और आंदोलन को लिखना होगा। उसे अब तक लिखे गये इतिहास का पुनर्मूल्यांकन करना होगा और उसमें एक नया अध्याय अपने जीवन का अध्याय जोड़ना होगा। तभी जाकर इतिहास मुकम्मल होगा।

इतिहास में, समाज में व्याप्त प्रतीकों, लोककथाओं, गीतों और अन्य स्रोतों में से स्त्री जीवन से जुड़े हुए पक्षों को निकालकर इतिहास की कथा को लिखने का प्रयास किया जाना चाहिए। स्त्रियों के द्वारा लिखी गई अपनी आपबीती गाथा स्त्री जीवन के संघर्षों का ही इतिहास कहा जाना चाहिए। वह इतिहास की कसौटी को भले ही पूरा नहीं करता हो लेकिन वह इतिहास निर्माण की सामग्री है। स्त्री आत्मकथा भी स्त्री जीवन के संघर्षों का दस्तावेज ही है और स्त्री जीवन के सुखद पहलुओं के लिए किया गया आंदोलन है। सुधा अरोड़ा के शब्दों में, स्त्रियों की समस्याएं वैश्विक है''[5] इसीलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन भी वैश्विक है। सदियों से दोयम दर्जे के जीवन को जीती हुई स्त्रियां अपने सभी मानवीय अधिकारों जो प्राकृतिक और सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि सभी प्रकार की है, के लिए लगातार संघर्ष कर रही हैं। 19वीं सदी की शुरूआत से लेकर आज तक पूरी दुनिया में स्त्रियां अपने अधिकारों के लिए आंदोलनरत हैं। विभिन्न प्रांतों व देशों में स्त्रियों की समस्याएं एक जैसे हैं लेकिन उनका आंदोलन एक जैसे नहीं है। संभवतः यह हो भी नहीं सकता है लेकिन आज स्त्रियां एक–दूसरे से जुड़ती जा रही है और उसके संघर्ष एवं आंदोलन का कारवां बढ़ता जा रहा है। स्त्री आत्मकथाएं प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष उन्हीं सवालों, संघर्षों व आंदोलनों की ऊपज है, उसी का दस्तावेज है।

4.2 स्त्री जीवन मूल्यों का संरक्षण : परिवार, सामाजिक संस्थान, पितृसत्ता और स्त्री देह का सवाल

वर्तमान में स्त्रियों को अपने अस्तित्व और अस्मिता के साथ गरिमा, आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता, सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के स्तर पर तथा सत्ता में भागीदारी के सवाल पर समानता, स्वतंत्रता और मैत्रीय

भाव आदि कई स्तरों पर संघर्ष करना पड़ रहा है। और जहां संघर्ष है वही आंदोलन की शुरूआत होती है। हिंदी स्त्री आत्मकथाओं में भी ऐसा ही कुछ वर्णन है। भारतीय समाज में जहां एक तरफ आज भी यह महिमा मंडित करते हुए सुना जा सकता है कि नारी की जहां पूजा होती है वही देवताओं का भी वास होता है। यह एक मिथक है। साथ ही यह दंतकथा भी सुनने को मिलती है कि इस देश में स्त्री लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती आदि रूपों में विराजमान हैं, यह भी एक मिथ्या हो सकती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि 21वीं सदी के इस आधुनिक युग में भी स्त्रियां अपने अस्तित्व के लिए लगातार संघर्षरत हैं। उसे तमाम रूपों में प्रतिबिंबित किया जाता है और किया जाता रहेगा लेकिन विडम्बना यह है कि कोई भी समाज उसे मानव के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। वह मानवता का हिस्सा हो सकती है और आज मानवता संकट में है तो स्त्रियां संकट में है। यह किसी को भी स्वीकार नहीं है। इसलिए सीमोन द बाउवर अपनी पुस्तक 'स्त्री उपेक्षिता' की भूमिका में यह लिखती हैं कि ''आज की औरत की वास्तविकता कोई नकार नहीं सकता। वस्तुतः मानव जाति में औरत एक पृथक अस्तित्व एक तथ्य है। औरत मानवता का आधा हिस्सा है। यह अलग बात है कि हमें समझाया जाए कि आज नारीत्व खतरे में है। औरत को औरत होना सिखाया जाता है। औरत बनी रहने के लिए उसे अनुकूल किया जाता है।''[6] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि स्त्री को मानव के रूप में स्वीकार न करने के कारण ही मानवता का संकट पैदा हुआ है। यह संकट आज इतना विकराल हो गया है कि स्त्रियों को अस्तित्व के संघर्ष में 'स्त्री' की व्याख्याा तक करनी पड़ रही है। सीमोन द बाउवर के शब्दों में कहा जा सकता है कि ''औरत होना मादा मानव के संपूर्ण अस्तित्व के लिए उत्तरदायी नहीं हो जाता।... यदि आज नारीत्व का अस्तित्व नहीं है तो हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा कभी था भी नहीं, किंतु तब क्या औरत शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं?''[7] यानी सीमोन यह कहना चाहती है कि पितृसत्ता ने कभी भी औरत को औरत के रूप में नहीं स्वीकार करती हैं जबकि उसे मानव के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। वे स्त्री को मानव के रूप में स्वीकार करने की बात करती हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''जब हम मानव शब्द का उच्चारण करते हैं तो उसमें पुरुष और स्त्री, दोनों समाहित होते हैं।'' लेकिन समस्या तब है जब एक औरत को औरत के रूप में रूढ़ कर दिया जाता है, उसे प्रकृतिगुण के कारण औरत होने पर मजबूर किया जाता है। और प्रजनन प्रक्रिया के कारण उसे औरत के रूप में परिभाषित भी किया जाता है। इसी संदर्भ में सीमोन द बाउवर प्रजनन प्रक्रिया के रूप में औरत को परिभाषित करने की मानसिकता का विरोध करती हुई सवाल करती हैं कि 'औरत क्या है'? उन्हीं के अनुसार, ''यदि प्रजनन की प्रक्रिया से औरत को परिभाषित नहीं जा सकता और यदि हम शाश्वत नारी की अवधारणा के माध्यम से उसको व्याख्यायित नहीं करना चाहते, तब हमें इस प्रश्न का सामना तो करना ही पड़ेगा कि औरत क्या है?''[9] इसका मतलब है कि स्त्री एक मानव है और उसे मानव के रूप में नहीं समझा जाता है तब उसके अस्तित्व को अस्वीकार किया जा रहा होता है। वर्तमान समाज भी उसे इस रूप में स्वीकार नहीं करता है। इसलिए वह कहती हैं कि पुरुष औरत को औरत के लिए परिभाषित नहीं करता, बल्कि पुरुष से संबंधित ही परिभाषित करता है। वह औरत को स्वायत्त व्यक्ति नहीं मानता। यहां तक कहा जाता है कि औरत अपने बारे में नहीं सोच सकती और वही बन सकती है जैसा पुरुष उसको आदेश दे। इसका अर्थ यह है कि वह अनिवार्यतः

पुरुष के लिए भोग की वस्तु है और इसके अलावा कुछ भी नहीं। यानी समाज की यह व्यवस्था या मानसिकता कि स्त्री पुरुष के लिए भोग की वस्तु है। वह स्त्री के अस्तित्व को समाप्त करता है। उसके स्वतंत्र मूल्यों को नकारता है। उसकी चेतना को कुंद करता है। क्योंकि ''कोई भी स्वतंत्र चेतना अपनी इच्छा से सहर्ष वस्तु तो बनना स्वीकार नहीं करेगी।''[10] इसका मतलब है कि स्त्री में मानव की चेतना को या तो खत्म किया जाता है या उसे इस तरह संस्कारित किया जाता है कि उसे कभी यह भी पता नहीं चलता है कि उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और वह उस रूप में सोच–विचार सकती है। यही वजह है कि स्त्री मानव भी है इस सवाल को उठाती हुई कहती है कि ''औरत में आज्ञाकारिता की यह चाह कहां से आई? अपने अस्तित्व की गरिमा का यह स्खलन उसने क्यों स्वीकार किया?''[11]. सवाल उठता है कि क्या इतिहास में भी स्त्री का अस्तित्व इसी रूप में रहा है ? क्या प्रकृति ने उसे इसी रूप में निर्मित किया है। निश्चित ही यह कहा जा सकता है कि प्रकृति ने शारीरिक भिन्नता और मातृत्व के रूप में स्त्री अस्तित्व को मानव के रूप में जन्म दिया है लेकिन इतिहास में क्या वे हमेशा पुरुष के अधीन रही है? क्या यह रहना हमेशा संभव है? यदि नहीं तो, क्या स्त्री अस्तित्व में परिवर्तन नहीं होना चाहिए? यह बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल है और स्त्री संघर्ष और आंदोलन में इसे उठाया नहीं जाना चाहिए। यही सवाल जब स्त्रियां उठाती हैं या इस रूप में पितृसत्तत्मक समाज को चुनौतियां देती हैं तो पितृसत्तात्मक सोच उसे बहिष्कृत करती हैं, उसे समाज से अलग करती हैं या इस कदर प्रताड़ित कर मृत्यु के समान पहुंचा जाती है या उसे मारकर किसी पेड़ पर लटका देती है ताकि कोई फिर उसे चुनौती देने का साहस न करें।

स्त्री अस्तित्व के सवाल और परिवर्तन को लेकर सीमोन द बाउवर ने बहुत ही महत्वपूर्ण बातें कही हैं। एक ''औरत अपने आपको एक ऐसी अनावश्यक वस्तु मानती है जो कभी अनिवार्य नहीं हो सकती। इसीलिए औरत स्वयं इस परिवर्तन को लाने में असमर्थ रही है। दूसरा औरत कभी प्रामाणिक रूप में अपने प्रति वैयक्तिक दृष्टिकोण स्वीकारती। औरत का विद्रोह आज भी महज एक प्रतीकात्मक आंदोलन है। स्त्रियों के बीच सामूहिकता की भावना का अभाव है। औरतों के पास अपने आपको एक इकाई के रूप में संगठित करने के ठोस साधनों का अभाव है। समूह के बदले औरत अकेली और पुरुषों के बीच बिखरी हुई है। वह पुरुष के घर में, उसकी गृहस्थी में काम करती है। वह पुरुष की दी हुई आर्थिक सुविधाओं को भोगती हुई उसी के सामाजिक स्तर से अपना तादात्म्य स्थापित करती है। पुरुष उसके आसपास कभी पिता, कभी भाई तो कभी पुत्र के रूप में रहता है।''[12] इसका आशय है कि जब तक स्त्री इन सब रूपों को स्वीकार करती है या इस अर्थवता में जीती है तब तक समाज में स्त्रियों की स्थिति में बहुत ज्यादा आमूलचुल परिवर्तन असंभव है। इसके लिए स्त्रियों को स्वयं ही बदलना होगा। पुरुष उसका सहयोगी ही हो सकता है। मैत्रेयी पुष्पा यदि अपने स्त्रीत्व को ऊपर नहीं उठाती हो वह मैत्रेयी नहीं बनती। रमणिका गुप्ता यदि पुरुषसत्ता को चुनौती नहीं देती हो वह अस्तित्व, अपनी गरिमा को भारतीय फलक पर नहीं लातीं। प्रभा खेतान ने एक पितृसत्ता को तोड़ती है तभी वह प्रभा खेतान बनती है। सुशीला टाकभौरे जब पितृसत्ता को चुनौती देती है तभी वह अपनी गरिमा को कायम करती है। शीला इन्द्र जब अपने अस्तित्व को पहचानती हैं तभी वह विधवा विवाह की प्रथा और मर्दवादी सोच को चुनौती देती है।

स्त्री जीवन के संघर्ष और आंदोलन का संबंध स्त्री–पुरुष संबंधों पर निर्भर करता है। स्त्री–पुरुष के संबंध में सेक्स का विभेदीकरण वास्तव में जैविक तथ्य है, इतिहास की यह कोई परिघटना नहीं है। स्त्री–पुरुष का संबंध एक प्रकृति का अनिवार्य घटक है। इससे अलग नहीं हुआ जा सकता है लेकिन जब से इतिहास में स्त्री–पुरुष के संबंध में पारस्परिकता का संबंध स्थापित हुआ है तभी से स्त्री पुरुष की गुलाम बनना शुरू हो गयी। इस संदर्भ में सीमोन द बाउवर लिखती है कि ''पारस्परिकता का संबंध आवश्यक रूप में मालिक और गुलाम के बीच भी होता है और जब यह जरूरत आर्थिक हो, तब इस गुलामी की मुक्ति नहीं।''[13] इसका अर्थ यह हुआ कि इतिहास में जैसे ही पुरुष को अपनी सत्ता स्थापित करनी हुई उन्होंने स्त्री को गुलाम बनाने के लिए आर्थिक रूप से पंगु बनाया है। यह स्थिति आज भी बरकरार है। और स्त्रियां इसे सहज स्वीकार भी करती है कि उसे धन की क्या जरूरत है? उनका पति उसे सबकुछ देता है। इस स्थिति में पुरुष एक दाता और स्त्री एक ग्रहीता के रूप में उपस्थित होती है जो उसे उसकी गुलामी से मुक्त नहीं होने देती है। इसी के साथ दूसरा तथ्य भी है कि स्त्री को पुरुषों से मिलने वाली सुविधाओं का भी त्याग करना होगा। यह भी कह सकते हैं कि स्त्रियों को आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर होना होगा, तभी वह अपनी स्थिति समाज में बदल सकती हैं। अन्यथा, वह असुरक्षित रही है और इतिहास भी ऐसा ही रहा है। उसमें कोई खास बदलाव की संभावना भी नहीं है। इसलिए सीमाने द बावउर लिखती हैं कि ''अतीत में प्रत्येक इतिहास का निर्माता पुरुष ही रहा है। वर्तमान समय में, जब औरत जागतिक मामलों में रुचि लेना शुरू कर रही है, तब भी वह वही जगत है, जो पुरुष का है। पुरुष के मन में इस जगत् के प्रति कोई संदेह नहीं। उसकी स्थिति असुरक्षित नहीं। यह औरत की ही स्थिति है, जो अपना विश्लेषण मांगती है। औरत यदि अन्या होना अस्वीकार करे, यदि वह समझौते से मुकरे तो इसका परिणाम होगा पुरुष–जाति से जुड़ने के फलस्वरूप परम्परागत रूप से प्राप्त तमाम सुविधाओं का परित्याग।''[14] अर्थात् यह स्पष्ट है कि पितृसत्ता के कारण मिलने वाली सुविधाओं का परित्याग किया जाए तो उसके खिलाफ आंदोलन भी किया जा सकता है और उसे बदला भी जा सकता है। लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की नजर में अन्यता की रहेगी और ऐसी स्थिति में वह पारस्परिकता के बंधन में जकड़ी रहेगी। जिस दिन पारस्परिकता का बंधन खत्म होगा उसी दिन स्त्रियां पुरुषवादी व्यवस्था से मुक्त हो जाएंगी। वहीं एलीन मारगन इस प्रकार कहती हैं कि 'जब तक प्रत्येक स्त्री इस रूप में आश्वस्त नहीं हो जाती कि आवश्यकता होने पर वह खुद अपनी गुजर–बसर कर सकती है, तब तक हम पुरुष के इस संदेह को दूर नहीं कर सकते कि जब हम कहते हैं कि 'मुझे प्यार चाहिए और मैं स्थायी संबंध चाहती हूं' दरअसल हमारा आशय यह होता है कि 'मुझे भोजन चाहिए और मैं चाहती हूं कि तुम काम करो और जीवनपर्यंत मेरा भार उठाओ। इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि श्रम विभाजित परिवार का सभी के लिए अंत हो जाएगा। यदि पुरुष ऐसी पत्नी चाहता है, जो घर पर रहकर बच्चों का लालन–पालन करे, और उसे ऐसी स्त्री भी मिल जाती है जो यही करना चाहती है, तब तो ठीक है, उस समय तक जब तक वह खुद को यह विश्वास दिला देता है कि वह यही चाहता है और हर दूसरी चीज की तरह इसकी भी कीमत चुकानी पड़ेगी, और जब तक वह अपने आप से यह महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं पूछती... 'पहले मैं अपने बच्चों का लालन–पालन करूंगी और उसके बाद?' क्योंकि उसके

बाद चालीस साल लंबा हो सकता है और वह कभी यह नहीं चाहेगी कि यह प्रति चरम स्थिति की तरह सामने आए।''[15] अर्थात् पुरुष अनुकूलन के अनुसार स्त्री जक तक जीवन जीती रहती है तब तक कोई खतरा नहीं होता है जैसे ही पुरुष को यह लगता है कि वह विपरीत जा रही है वह शिकंजा कसने लगता है और लेकिन एक लंबे समय के बाद विपरीत जीवन होने पर भी स्त्रियां अपने लिए ऐसा नहीं सोचती हैं क्योंकि तब तक वह अपनी प्राथमिकता बदल लेती है। वह बच्चों के साथ अपनी स्थिति में द्वितीय पायदान पर होती है। इस प्रकार वे हमेशा की तरह और हमेशा के लिए द्वितीय पायदान पर जीवन जीती हैं। इस स्थिति से मुक्ति ही स्त्री मुक्ति का आंदोलन है।

4.3 स्त्री मुक्ति की अवधारणाओं के विविध आयाम

स्त्री जीवन की समस्याओं के प्रति स्त्रियों के संघर्ष की शुरूआत तब से ही है जब से समाज में घर और घर–मालिक की अवधारणा विकसित हुई है, लेकिन उसको लेकर आंदोलन की शुरूआत आधुनिक युग में ही होता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि स्त्री अधिकारों को लेकर आंदोलन की पृष्ठभूमि पूर्व या पश्चिम के देशों में नहीं रही है। वह अवश्य हुई होगी लेकिन उसका कोई मुकम्मल स्वरूप नहीं मिलता है। समाज में स्त्रियों के दोयम दर्जे की स्थिति को लेकर संघर्ष का आगाज तो प्रारंभिक अवस्था में पुरुषों के द्वारा ही चलाया गया है। इसकी शुरूआत कब और कैसी हुई यह निश्चित तौर पर कहना मुश्किल है लेकिन गोपा जोशी लिखती है कि 'सोलहवीं सदी के प्रारंभिक चरणों में इसपर चर्चा शुरू हुई होगी। जब स्त्रियों को सार्वजनिक रूप से अपनी बात कहने की आजादी नहीं थी।'[16] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि 16वीं सदी से स्त्रियों के संघर्ष के लिए आंदोलन की शुरूआत होती है।

यह आंदोलन स्त्रियों के प्रति पुरुषवादी सोच व व्यवस्था से लेकर सामाजिक तत्वों में पुरुषों के आधिपत्य व वर्चस्व के खिलाफ था। यह आंदोलन उस सामाजिक–सांस्कृतिक तत्वों के खिलाफ भी था जिसमें पुरुषों का वर्चस्व स्थापित करने के लिए धर्म और ईश्वर का सहारा लिया गया। और स्त्रियों को इस धरती पर मानवीय अधिकार के बदले उसे 'स्वर्ग में' और जनमानस में 'देवी का स्थान' देकर सदा –सदा के लिए मानव के रूप में उन सभी अधिकार से वंचित कर दिया जो पुरुषवर्चस्व को चुनौती देता था। इस संदर्भ में सीमोन द बाउवर ने बहुत सही लिखती हैं कि ''विधायकों, पुरोहितों, दार्शनिकों, लेखकों और वैज्ञानिकों ने अब तक यह दिखाने की चेष्टा की कि औरत की अधीनस्थ स्थिति स्वर्ग में ही बनाई गई है और पृथ्वी पर उसको सुविधाएं मिलती हैं। जिस धर्म का अन्वेषण पुरुष ने किया, वह उसकी आधिपत्य की इच्छा का अनुचिंतन है।''[17] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों का आंदोलन और संघर्ष अपने दैवीय अस्तित्व से लेकर उस धार्मिक तानाबाना के खिलाफ शुरू होता है जिसके कारण वह मानवीय अस्तित्व को धारण करने के बावजूद भी मानवीय अधिकारों से वंचित रहती है। जिसका उपभोग पुरुष करता है। जब–जब स्त्रियां अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई आगे बढ़ने की कोशिश करती हैं तब–तब पुरुष वर्चस्व और मजबूत होकर उसका दमन करने के लिए खड़ा हो जाता है। पश्चिम में औद्योगिक क्रांति के बाद यही हुआ था तो भारत में आजादी के बाद। भारत में तो स्त्रियों

की वर्तमान स्थिति बहुत ही दयनीय है जिसमें एक तरफ भारत माता की जय कहा जाता है तो दूसरी तरफ हर तीन मिनट में किसी स्त्री के साथ दुर्व्यवहार पुरुषों के द्वारा किया जाता है। स्त्री श्रम–संसाधन और आर्थिक स्वाधीनता की भागीदारी जैसे जैसे बढ़ती जाएगी हो सकता है कि उन पर अत्याचार की संभावना बढ़ सकती है। इस पुरुषवादी व्यवस्था में एक कमजोर पुरुष भी स्त्रियों के अधिकारों पर सवाल उठाते हैं। इस पितृसत्ता में पुरुष हमेशा ही अपने अधिकारों को लेकर सुरक्षित रहते हैं लेकिन उसी व्यवस्था में स्त्री हमेशा ही असुरक्षित रहती है। इस व्यवस्था में पुरुष की श्रेष्ठता हमेशा बनी रहती है और स्त्री निकृष्ट समझी जाती है। इसके खिलाफ स्त्रियों के आंदोलन की शुरूआत पूर्व–पश्चिम दोनों ही देशों में रहा है। इस संदर्भ में बात यह उभरी है कि जैसा कि सीमोन द बाउवर लिखती हैं कि ''औरत के प्रति जो पुरुष जितना आक्रामक और घृणापूर्ण होता है वह उतना ही हीनग्रंथि का शिकार है। जो पुरुष औरत का अधिक अपमान करता है वह मानसिक रूप से स्वयं अपमानित होने की आशंका से ग्रस्त रहता है। संस्कारवश पुरुष औरत से मिली हुई सुविधाओं को छोड़ना नहीं चाहता, इस आशंका से वह ग्रस्त रहता है। वह सोचता है कि अधिकारों को छोड़ते ही उसकी औरत भी छूट जाएगी। अपनी कल्पना में वह भविष्य की औरत को सम्मान देने में असमर्थ रहता है। आज गणतंत्र के युग में अधिकतर पुरुष खुले रूप से न तो औरतों का अपमान करते हैं और न ही उन्हें हीन रूप से 'अन्या' के रूप में अवधारित करते हैं। उनकी नजर में औरत का अपना अस्तित्व अपने लिए नहीं होता। वह सिर्फ पुरुष के जगत में विभिन्न भूमिकाओं को निभाती है। उसके अस्तित्व को पुरुष ही सार्थकता प्रदान करता है।''[18] यह जो स्त्री अस्तित्व का सवाल है। सामान्य तौर पर यह पुरुष के लिए खतरनाक है। इसलिए पुरुष जब भी अपने अस्तित्व को संकट में पाता है वह विपरीत प्रतिक्रिया करते हुए स्त्रियों को इस संकट में डाल देते हैं। इन्हीं संकटों में समाज और देश की परिस्थितियों की, उसकी व्यवस्था की और सबसे बड़ी बात समाज की मानसिकता की परख होती है। इस अवलोकन में यह भी समझ में आता है कि स्त्रियां अपने अस्तित्व के साथ–साथ उस सत्य की खोज तक पहुंच जाती है कि जहां से समाज में स्त्रियों की जिंदगी की खोज की शुरूआत भी होती है और उसकी स्पष्टता व अवधारणा की गहराईयों तक पहुंचने की कोशिश की जाती है कि समाज में मानवीय दृष्टिकोण, विकास व परिस्थितियों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य तथा उसका सिद्धांत विकासवाद की ओर अग्रसर रहे। उसमें किसी भी प्रकार का धार्मिक–नैतिक भ्रम न रहे और न ही श्रेष्ठता, हीनता, भला–बुरा, प्रगति और प्रतिक्रिया जैसे शब्दों का उलझन व अस्पष्टता आ कर स्त्रियों के तथा समाज के विकास में बाधा बने।

पितृसत्तात्मक समाज हमेशा ही स्त्री–पुरुष में भिन्नता की बात करता है। जबकि स्त्री आंदोलन में इस भिन्नता को अलग ही रूप में रेखांकित किया गया है। स्त्री आंदोलन यह मानता है कि ''स्त्री–पुरुष के बीच शारीरिक भिन्नता के अतिरिक्त दूसरी कोई स्थायी भिन्नता संभव नहीं है।''[19] इस आंदोलन में जैविक भिन्नता के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की सामाजिक–सांस्कृतिक या तात्विक दृष्टि से भिन्नता को नकारना ही आंदोलन की समानता की अवधारणा है। जब तक समाज में स्त्री –पुरुष समानता नहीं होगी, समाज में स्त्रियों को मानव व नागरिकता की दृष्टि से नहीं समझा जाता है तब तक वह समाज विकास की राह पर अग्रसर हो ही नहीं सकता है। यदि इस स्थिति में विकास का जो भी अवधारणा या स्वरूप अपनाया जाएगा वह विफलता की ओर कदम

होगा। मानव व उसकी संस्कृति एक ऐतिहासिक विकास का प्रतिफल है। जिसमें दोनों स्त्री–पुरुष एक दूसरे की सहधर्मी–सहकर्मी की भूमिका बनी रही है। लेकिन जैसे ही यह विकास की प्रक्रिया पुरुषवादी हुई या उसका नियंता–नियंत्रण पुरुष हुआ तभी से मानवीय संस्कृति में विकृतियां पैदा होने लगीं। यह विकृतियां इस स्वरूप में आकार लेने लगीं कि पुरुष अपनी अकड़ में जीने लगें और स्त्रियां कई बार पुरुष बनने लगीं या उस जैसा व्यवहार करने लगीं। दोनों ही स्थितियां समाज के लिए घातक है। सीमोन द बाउवर 'स्त्री उपेक्षिता' में मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत के हवाले से यह लिखती हैं कि ''स्त्री वास्तव में पुरुष लिंग के अभाव के कारण आत्महीनता महसूस करती है। इस हीनता की पूर्ति के लिए वह पुरुष हो जाना चाहती है।''[20] तब यह सवाल और गंभीर हो जाता है। क्या वास्तव में ऐसा होता है! यह एक विचारणीय प्रश्न है और इस पर अलग से शोध की आवश्यकता है। इसी संदर्भ में वह यह भी लिखती है कि सेक्सुअलिटी ने कभी मनुष्य की नियति परिभाषित नहीं की और न मानव व्यवहार की स्थिति की संपूर्णता को परिभाषित करने में इससे अधिक सहायता मिलती है। सेक्स जनित संघर्ष केवल स्त्री पुरुष की शारीरिक सरंचना तक सीमित नहीं। सच्चाई तो यह है कि अनंतकाल से वैचारिक जगत में शाश्वत नारीत्व तथा शाश्वत पुरुषत्व की अस्पष्ट अवधारणाओं में निरंतर होड़ चलती रहती है। हम इस बात की अवहेलना करते हैं कि यह संघर्ष दुनिया में बिल्कुल दो भिन्न रूपों में ऐतिहासिक क्रम में जारी है। जबकि यह संघर्ष सभ्यता–संस्कृति का है, क्योंकि सृष्टि के निर्माण में स्त्री–पुरुष दोनों का समान योगदान है। लेकिन यह कैसे संभव हुआ है कि पुरुष सभी सामाजिक तत्वों या व्यवस्था का नियंता–नियंत्रक हो गया! जहां से, जिस रूप में ऐसा हुआ वहीं से स्त्री जीवन की समस्याएं, उसके संघर्ष और आंदोलन को समझना चाहिए, क्योंकि जब से सामाजिक संहिता का निर्माता पुरुष हुए हैं वहीं से स्त्री पुरुष से हीन होने की कहानी भी शुरू होती है, और वह अब तक संस्कारों में समा गया है, उसकी पुष्टि भी होने लगी है। जबकि हकीकत में ऐसा नहीं है। ''हीनता की ये सारी भावनाएं उस पर थोपी गई हैं। दमन चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो, वह हमेशा एक युद्ध जारी रखता है। यहां भी इसका कोई अपवाद नहीं। स्त्री अपनी सत्ता पुनः स्थापित करने की चेष्टा तो करेगी ही।''[21] अर्थात् स्त्री संघर्ष और आंदोलन स्त्री की अपनी खोई हुई सत्ता– भौतिक व ज्ञानात्मक की वापसी का है। इस सत्ता संघर्ष और आंदोलन में 'स्त्री स्वाधीनता' का एक रूप यह भी देखने को मिलता है कि स्त्रियां 'पुरुष को बंदी बनाने के बदले खुद को उस पितृसत्ता की बंदी दीवार से मुक्त होना उचित समझती है। कई बार तो वह उसका अतिक्रमण कर सर्वोपरिता को भी हासिल करना चाहती हैं। रमणिका गुप्ता की आत्मकथा में इसे बखुबी समझा जा सकता है।

स्त्री आंदोलन का मकसद स्त्री–पुरुष समानता है। पितृसत्तात्मक समाज में जीवन जीने की सुविधाओं पर पुरुषों का वर्चस्व होता है और वह हमेशा स्वामी बने रहना चाहता है। स्त्री आंदोलन में इस वर्चस्व–आधिपत्य को चुनौती दी गई है और दी जा रही है। इसलिए जब सीमोन द बाउवर लिखती है कि ''पुरुष का हमेशा स्वामी बने रहने का दृष्टिकोण एक नया संघर्ष पैदा करता है।''[22] यानी 'स्वामी' बनने का यह दृष्टिकोण स्त्री आंदोलन के लिए चुनौती है और उसका नकार भी। इसलिए स्त्रियों का यह संघर्ष और आंदोलन तब तक बना रहेगा जब तक कि समाज में स्त्री–पुरुष समानता नहीं आ जती है और एक–दूसरे पर वर्चस्व या आधिपत्य का

सवाल खत्म नहीं होता है। वर्तमान हालात में अब यह संघर्ष दो व्यक्तियों का न रहकर दो जातियों का बन गया है जिसमें सुविधा प्राप्त सत्ता वर्ग–पुरुष दलित वर्ग–स्त्री का प्रतिरोध करता है। अतः दोनों की अतिक्रमण की क्षमता एक दूसरे को चुनौती दे रही है, एक दूसरे पर छा जाने की कोशिश कर रही है। जरूरत तो इस बात की है कि दोनों एक–दूसरे की महत्ता स्वीकार करें। एक समतामूलक समाज के निर्माण या विकसित समाज के निर्माण हेतु सत्ता संघर्ष की जगह समानता की व्यवस्था के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। उसे किसी भी उलझन में रखने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।

पितृसत्तात्मक मानसिकता स्त्रियों के सवालों को स्त्री देह से जोड़ कर देखता है। इसलिए जब कभी भी स्त्रियों का सवाल उठता है तो पितृसत्तात्मक मानसिकता उसे स्त्री देह, कपड़ों या अश्लीलता से जोड़ देती है ताकि वह सवाल उलझ जाए तो स्त्रियां भी जो सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया में पुरुषवादी हो गई वह भी स्त्रियों के सवालों के खिलाफ हो जाती हैं। इसलिए कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा– 'और...और...औरत' में स्त्री देह के प्रति पुरुषवादी मानसिकता की शिनाख्त करती हुई लिखती है कि जीवन की सच्चाई को बेबाकी ढंग से व्यक्त किया तो यह नहीं समझा कि सराही जाएगी या दुत्कारी जाएगी। लेकिन सामान्य स्त्री की तरह हम भी वही सुविधाएं, यौन की चाहत रखती रही। लेकिन समस्या तब आई मेरे प्रति हुए अन्याय, अत्याचार आदि को लोगों ने अश्लीलता का ठप्पा मढ़कर मुझे नंगा करने का प्रयत्न किया और अपनों ने भी उसपर तालियां बजाई। उन्हीं के शब्दों में ''जब कोई साड़ी खिंचने को टपकता है तो हम चीखते हैं कि इस अपमान व अन्याय से हमें बचाइए/अब इस चीख को खुली साड़ी के बीच तौलकर यदि कोई अश्लीलता का ठप्पा लगाए तो मैं क्या कहूंगी ? बौखलाहट में तड़पूगी ही। कशमकश का कष्ट तब हुआ जब मेरे अपनों ने मेरी बखिया उधेड़ी मुझे ही नंगा करने का प्रयत्न किया और उनकी मित्र मंडली ने मुझ पर सामूहिक ताली बजाई।''[23] अर्थात् यह जो पुरुषवादी मानसिकता है जो स्त्रियों सवालों को अजीबोगरीब तरीके से उलझाकर खत्म कर देती है उसके खिलाफ आंदोलन को और तीव्र करने की जरूरत है। यह जो अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है। यह वस्तुतः पितृसत्ता है जो अपने वर्चस्व के लिए स्त्रियों के ऊपर 'चरित्रहीनता और अश्लीलता' का आरोप लगाकर उसे मानसिक तौर पर हीनताबोध से ग्रसितकर स्त्री समाज को गुलामी के लिए ढकेलता है। इसी का दूसरा पक्ष यह होता है कि अन्य स्त्रियां पुरुष वर्चस्व को चुनौतियां ही नहीं दी हैं चाहे उसके साथ कितना भी अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न आदि होता रहे और यह गुलामी पीढ़ी–दर–पीढ़ी चली आ रही है। वर्तमान परिदृश्य का आलम यह है स्त्री आंदोलन और संघर्ष में इसे चिह्नित किया जाने लगा है। जिसकी आज सबसे ज्यादा जरूरत है।

पितृसत्ता के कारण ही स्त्रियों का वस्तुकरण भी होता है और वह मानव से या तो 'देवी स्वरूपा बन जाती है' या 'कुलटा–कामिनी' बन कर पुरुषों की सेवा में लग जाती हैं। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों के इस वस्तुकरण के खिलाफ आवाज उठाई गई है। वस्तुकरण की प्रक्रिया धार्मिक संस्कारों या ईश्वरीय मान्यताओं के बीच होती है और वह भी इतनी बारीक ढंग से, कि स्त्रियों को इसे समझने में ही वर्षों का समय लग जाता है। कई बार तो जीवन नष्ट हो जाता है लेकिन उसकी पहचान नहीं हो पाती है। जीवनपर्यंत यह प्रक्रिया चलती

रहती है आदर्श बनाने के लिए संस्कार के रूप में। इसलिए स्त्री जीवन के संघर्ष में इस कहानी को समझने की जरूरत है और उसे आंदोलन के माध्यम से खत्म करने की। स्त्री आत्मकथाओं में इसकी शिनाख्त की गई है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुडिया', सुशीला टाकभौरे ने 'शिंकजों के दर्द' में अनेक सामाजिक रूढ़ियों का जोरदार विरोध किया है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपने पति की उपेक्षाओं को नकारते हुए अपना लेखन जारी रखा तो सुशीला टाकभौरे ने अपने पति के लात–घूसे खाते हुए भी नौकरी और लेखन को जारी ही नहीं रखा सभाओं में रूढ़ियों को तोड़ने के भाषण भी दिए। रमणिका गुप्ता ने तो रूढ़ियां तोड़ने का कार्य बचपन से ही शुरू कर दिया और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा अपने बच्चों के भविष्य के लिए सब–कुछ सहन करती रही। मन्नू भंडारी भी लाख–कोशिश के बाद भी अपने दाम्पत्य को बचा नहीं सकी और प्रभा खेतान तो रूढ़ियां तोड़ने के बाद भी कभी किसी का आदर्श न बन सकी।

पितृसत्ता का यह स्वरूप धर्म और ईश्वर से मान्यता प्राप्त किया हुआ है और धर्म एवं संस्कृति के नाम पर वर्षों से चली आ रही स्त्री गुलामी की परंपरा आज भी अनवरत रूप से चली आ रही है। जब तक 'धार्मिक संस्कृति, धर्म और ईश्वरीय विधान के विविध रूप जीवन–यापन की परंपरा से खत्म नहीं होती है तब तक स्त्रियां अपनी दुर्दशा से मुक्त नहीं हो सकती हैं। भारत ही नहीं पूरी दुनिया में स्त्रियां कहीं न कहीं धर्म और धार्मिक संस्कृति को संरक्षित करने का काम करती है जिस दिन वह यह काम बंद कर देगी उसी दिन से न केवल धार्मिक दृष्टि से स्त्रियों का शोषण खत्म होने लगेगा बल्कि उनकी बहुत सारी समस्याएं स्वतः खत्म हो जाएंगी। स्त्री आत्मकथाओं में धार्मिक संस्कृति और धर्म को लेकर होने वाले शोषण–उत्पीड़न का सवाल उठा है। जैसा कि दिनेशनंदिनी डालमिया 'मुझे माफ करना' में लिखती हैं कि "कलाइयों में लाल रेशमी चूड़ियों के लच्छे, माथे पर बिंदिया और मांग में सिंदूर ही मेरा शृंगार था; उसके बाद मोतियों की मोटी–मोटी कलियां, गीले रूमाल में मेज पर रखी; धूप–बत्तियां जलाकर कुछ देर 'रामचरितमानस' का पाठ किया करती थी। ... धीरे–धीरे बगीचे के सोये हुए गाछों पर पंछी जाग उठते और वहां से जब सामूहिक प्रार्थना के संगीत भरे स्वर ऊपर से नीचे उतरने लगते, तो मैं उन्हें अपने में समेट लेती।"[24] इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में स्त्रियां भारतीय धर्म और संस्कृति की बाह्यआडम्बर को धारण करती हैं। इससे धर्म गायब हो जाता है और धर्म का आडम्बर रह जाता है।

21वीं सदी के भारत में यह धर्म का आडम्बर काफी तेजी से व्यापार की तरह फलफुल रहा है। भारत एक ऐसा देश है जहां वैज्ञानिक तंत्र और व्यवस्था भी धार्मिक आस्था और आडम्बर का शिकार है। भारतीय डॉक्टर और वैज्ञानिक अपने काम की सफलता के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। यह एक मनोविज्ञान है जिसमें व्यक्ति को खुद के काम पर विश्वास नहीं होता है तभी वह ऐसा करता है अन्यथा इसका कोई दूसरा कारण नहीं। स्त्री आत्मकथाओं में भी ऐसा प्रसंग मिलता है जहां अंधविश्वास और सामाजिक रूढ़िवादिता का संदर्भ आया है। 'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान के साथ डॉक्टर का यह कथन इसी बात की पुष्टि करता है कि "जी बहुत अधिक।" "तब प्रार्थना कीजिए कि ये ठीक रहें। बीमारी कभी भी खराब रूप ले सकती है क्योंकि फेफड़ों में कैंसर का दाग स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है।"[25] सवाल उठता है कि बीमारी है तो इलाज और दवा से

ही ठीक हो सकती है लेकिन दुआ या प्रार्थना किस लिए? यदि दुआ या प्रार्थना से बीमारी ठीक जो जाए और समाज स्वस्थ्य हो जाता तो फिर डॉक्टर या दवा की जरूरत क्यों होती? इस पर 21वीं सदी के भारत में विचार करने की जरूरत है। इसी के साथ यह सवाल भी उठता है कि क्या वैज्ञानिकता के बरक्स धर्म और उसकी कर्मकांडता का सवाल उठता है।

स्त्री मुक्ति के प्रश्न के साथ एक सवाल जो लगातार उठता रहा है, वह यह कि, क्या स्त्री देह की मुक्ति ही स्त्री मुक्ति है? सवाल बहुत ही मार्मिक है लेकिन इसपर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री देह का इस्तेमाल स्त्री के मनोविज्ञान को हीनताबोध में बदल कर उससे सामाजिक स्तर पर अपदस्थ करने या उसे सामाजिक नैतिकता के अंतर्गत कुंठितकर, हीनताबोध में बांध कर स्त्री को उपेक्षित या बहिस्कार का आधार बनाया जाता रहा है जिसके कारण स्त्रियां मानसिक तौर पर बीमार होकर कभी पुरुषों के खिलाफ आवाज नहीं उठा पाई है। वर्तमान समय में भी इसका उदाहरण देखा जा सकता है कि जब कोई स्त्री समाज में आगे बढ़ रही होती हैं तो समाज की पितृसत्तात्मक सोच यह हमेशा प्रयास करता है कि उसके चरित्र पर सवाल खड़ा करती है और स्त्रियों को सामाजिक तौर पर अपने गिरफ्त में लेती है। चरित्रहनन, शारीरिक इस्तेमाल आदि के अफवाह के साथ–साथ बलात्कार की हो रही घटना के पीछे पितृसत्तात्मक मानसिकता ही काम करती रहती है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान में भी चरित्रहनन, शारीरिक इस्तेमाल, बलात्कार की घटना आदि स्त्री की मनोभाव को तोड़ने के लिए किया गया इरादतन वारदात की घटना है। युद्ध भूमि में विपक्ष के मनोभाव को तोड़ने के लिए स्त्रियों को इस्तेमाल किया जाता था और उसके साथ बलात रिश्ते कायम करके युद्ध को जीतने का काम किया जाता था। स्त्री आत्मकथाओं में या स्त्री विमर्श में स्त्री देह मुक्ति का सवाल इसी संदर्भ में आया है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि स्त्री देह की मुक्ति पितृसत्ता से मुक्ति है, क्योंकि इस तरह की घटनाओं में स्त्री–पुरुष दोनों का शारीरिक संबंध होता है लेकिन बदनाम सिर्फ स्त्रियां होती हैं पुरुष नहीं? ऐसा इसलिए कि यह समाज पितृसत्तात्मक है और इसमें स्त्री जीवन का मूल्य नहीं है। प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा' और रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'आपहुदरी' में स्त्री देह मुक्ति के सवाल को उठाया गया है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था की रूढ़ियों के कारण ही भारतीय समाज में स्त्रियां बचपन से ही सामाजिक भेदभाव का शिकार होती है और उसके प्रति जब ज्ञान होता है तब वह विद्रोह करने लगती है और कई बार वह परिस्थितिवश विरोध नहीं कर पाती हैं। यहीं से समाज में स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन की शुरूआत को समझने की जरूरत है। स्त्री आत्मकथाओं में बालशोषण का चित्रण है। 'अन्या से अनन्या, दर्द जो सहा मैंने, शिकंजे का दर्द आदि आत्मकथाओं में लड़की होने के कारण या रंग या अपशकुन आदि मानकर जो उत्पीड़न और शोषण का चित्रण आया है। वह भारतीय समाज में स्त्रियों के अपने जीवन के प्रति जो संघर्ष है उसी का उदाहरण है। पढ़ी–लिखी लड़कियां भी जब धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त नहीं हो पाती हैं तो आम लड़कियों की कहानी कैसी हो सकती है। यह सहज ही समझा जा सकता है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने सामाजिक रूढ़ियों का विरोध इस प्रकार किया है –एक पति की कल्पना स्त्री के लिए किसी आशियाने में बैठे प्यार से भीगे जीवन साथी की ही होती है जिसकी प्रत्येक नस व अंग से जीवन अमृतधारा बहती हो, जो हल्की–सी ठोकर लगते ही सहलाता, थामता, दुलारता, संभालता साथ चलता हो। कैसा–कैसा स्पंदन होता है मन में। नाजुक–सी कोमल उम्र में तो मन–कमल की प्रत्येक पंखुड़ी अपने पति के हाथों में खुलते समय उत्सुक –सिकुड़ी एवं घबराई होती है। अजीब–सी रहस्यात्मक भावनाओं के झूले में मन पेंगे लेता रहता है और यदि ऐसे पवित्र मन पर प्रथम पुरुष ठोकर मार दे, झूला तोड़ दे, पंखुड़ी नोच दे और चीख– चिल्लाकर कहे, 'तू मेरी सहगामिनी नहीं, तू स्त्री नहीं, मेरे लिए विवाह मंत्रों के द्वारा खरीदी दासी जिसे केवल मेरे इशारों व मनमाने व्यवहार के सम्मुख सिर झुकाना है तो कैसा भूचाल उठता है मन में? कन्या के लिए वर आवश्यक है, उसके लिए समाज में प्रतिष्ठित जीवन जीने के लिए माँ–बाप से अधिक पुरुष पति की आवश्यकता है। इसी के लिए रात–दिन भटककर माता–पिता अपनी बेटी के लिए दूल्हा ढूंढ़ते हैं और बेटी के साथ कीमती संपदा देकर उम्मीद करते हैं उसे विश्वसनीय सुखी जीवन मिले।''[26] वहीं प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या में सामाजिक रूढ़ियों का विरोध इस प्रकार किया है वो लिखती हैं –"यदि विवाह व्यवस्था ही एक शाश्वत सच है, और यदि इससे इतर कुछ भी स्वीकृत नहीं तो मुझे भी शादी कर लेनी चाहिए, बिना शादी के मेरी कोई पहचान नहीं बनेगी।"[27] अर्थात् अपनी पहचान के लिए विवाह करना चाहती थी। लेकिन उनका सामाजिक परिवेश इतना क्रूर व विपरीत था कि उसमें मानसिक यातना तो मिलनी ही थी। वे स्वयं लिखती है कि 'क्रूर समाज था, क्रूर परिवेश, उनकी क्रूरता जितनी त्रासद थी उतनी ही बेतुकी भी और ऐसे परिवेश में अपना ही कटा हुआ सिर अपनी हथेलियों पर लिये मैं घूम रही थी। मुझे कोई शारीरिक सजा नहीं मिली, किसी दैहिक पीड़ा का अहसास कभी हुआ नहीं, लेकिन एक चरम मानसिक यंत्रणा को भोगते रहने को, एक स्थायी आतंक को झेलते रहने को मैं बाध्य थी।'[28] इसी प्रकार मैत्रेयी पुष्पा ने भी सामाजिक रूढ़ियों का विरोध व्यक्त किया है – ''मैत्रेयी के ब्याह का बवंडर! कस्तूरी के जीवनकाल में बहुत शोरगुल मचे हैं मगर ऐसा हंगामा कभी हुआ ? नहीं तब भी नहीं हुआ, जब वह विवाह योग्य लड़की थी और घरवालों ने उसे दो पीतल के कलशों की तरह बेच दिया था, कलशे बनिया को, कस्तूरी आदमी को। इसके बाद तब भी नहीं, जब मुँह दिखाई के समय उससे औरतों ने आठ सौ में खरीदी छोड़ी कहा था। उस दिन भी नहीं जब बीस दिन जीकर बेटा मर गया था और उसी रात को पति को उसी घर में परस्त्री के संग सम्भोगरत देखे थे। तब भी नहीं जब पति का स्वर्गवास हो गया और तब भी नहीं, जब भाई दिलासा देने की जगह लूट मचाने लगा।"[29] अर्थात् सामाजिक परिवेश और पितृसत्तात्मक समाज की सरंचना की वजह से स्त्रियां शारीरिक न भी सही, मानसिक यातना–यंत्रणा झेलती है और ऐसे में उनका जीवन साथी भी विपरीत हो जाए तो यह यातना और भी दुगुनी हो जाती है।

सामाजिक रूढ़ियों का एक दूसरा ही स्वरूप रमणिका गुप्ता की आत्मकथाओं में देखने को मिलता है जिसमें उसे या उसकी मां को जहर खाने को कहा जाता है। जिसमें एक फैसले के बदले में रमणिका की मां या रमणिका दोनों में से एक को जहर खाने को कहा जाता है। यह इतिहास विदित है कि जब भी पुरुषों की

आन–शान पर कोई संकट आता है तो उसकी कुर्बानी स्त्रियों को ही देनी पड़ती है। भारतीय इतिहास में स्त्री जौहर की घटनाएं कुछ ऐसी ही घटनाएं हैं। आज भी अखबार के पन्नों में ऐसी घटनाएं देखने को मिलती हैं कि अमुक गांव में स्त्री ने आग लगाकर मरगई या जहर खाकर मर गई या उसे आग में झोंक दिया गया या जहर देकर मार दिया गया। भारतीय इतिहास की 'तंदुर काण्ड' या राजस्थान की भंवरी देवी की मौत आदि आज भी रहस्यमय बना हुआ है। यह सब मुख्यतौर पर पितृसत्ता की देन है। रमणिका गुप्ता जब लिखती हैं कि उसके पिता जी ने जब यह फैसला सुनाया कि तुम दोनों (मां या बेटी) में से एक को जहर खाना होगा या फैसला बदलना होगा तो सामान्यतः यह पितृसत्ता को ही चुनौती देने वाली बात थी तभी ऐसा फैसला आया। उन्हीं के शब्दों में, ''ये फैसला तो बदलना ही होगा नहीं तो तुम दोनों में से किसी एक को जहर खाना होगा – तुम्हारी माँ को या तुम्हें।" मैंने तुरन्त जवाब दिया – "मेरी मां और आप जिन्दगी का सुख देख चुके हैं, भोग चुके हैं। मुझे अभी जिन्दगी देखनी बाकी है इसलिए जहर मैं नहीं खाऊंगी, बीवीजी मां खाएं।''[30] वस्तुतः रमणिका गुप्ता ने जो जवाब दिया है वह भी एक स्त्री की मौत का कारण है। होना चाहिए कि पितृसत्ता को खत्म करने के लिए कदम उठाया जाना चाहिए। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि स्त्री मुक्ति आंदोलन में ऐसे प्रश्नों को खत्म नहीं किया जा सकता है। लेकिन स्त्री–पुरुष दोनों का समान जीवन मूल्य है इसे निर्धारित करने की जरूरत है। उसे समाज की जनमानस में बैठाने की जरूरत है। तभी जाकर एक स्वस्थ्य समाज का निर्माण किया जा सकता है। इसे कैसे किया जाना चाहिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती है स्त्री मुक्ति आंदोलन में।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का संघर्ष स्त्री आत्मकथाओं में एक महत्वपूर्ण सवाल बन कर उभरा है। बिना सामाजिक रूढ़ियों, लोकअफवाह, लोकलाज आदि की बनी बनाई परंपरा जो लगातार स्त्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के बाद टूट रही है वहीं इसी का दूसरा स्वरूप भी देखने को मिलता है कि पितृसत्ता लगातार पूंजीवादी दुनिया की चकाचौंध में इसे नया–नया रूप दे रहा है। ग्लैमर की दुनिया में स्त्रियों द्वारा इसे सहज स्वीकार किया भी जा रहा है। जिसका दो रूप सामने आता है अप्रत्यक्ष रूप में इसमें पितृसत्ता मजबूत होती है तो प्रत्यक्ष रूप में स्त्रियां आर्थिक रूप से संपन्न होने लगती है। स्त्री आंदोलन में इस प्रकार के प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सवालों को भी समग्रता में समझने की जरूरत है।

परित्यक्तता का सवाल भी स्त्री जीवन के संघर्ष का हिस्सा है और आंदोलन में इसे मानवीय रूप में स्वीकार करने और सभी सामाजिक अधिकारों से लैस करने का मुहिम होना चाहिए। मन्नू भंडारी ने अपनी आत्मकथा में एक परित्यक्तता के सवाल को उठाती हैं। परित्यक्तता भी वस्तुतः पितृसत्ता ही है जो स्त्रियों पर अंकुश लगाने के लिए किया जाता है और मानवीय जीवन का अंत हो जाता है। मन्नू भंडारी लिखती हैं कि , ''सोमा बुआ विधवा नहीं, परित्यक्ता हैं। वैधत्य आरंभिक दुख के बाद एक स्वीकृत सत्य हो जाता है और उसकी यातना कम हो जाती है। पर परित्यक्ता का दुख... पति है पर साथ नहीं रहता तो इसमें अकेलेपन के साथ अपमान का दंश भी जुड़ जाता है। साल में एक महीने के लिए पति आता है, पर प्रेम स्नेह बरसाने नहीं बल्कि उसकी गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए आता है।''[31] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि एक ऐसा जीवन जिसमें स्त्री–पुरुष दोनों एक साथ जुड़ा होता है लेकिन स्त्री को अपनी मानवीय आकांक्षाओं का परित्याग करना

होता है और पुरुष कहीं भी अपनी आजादी से जीवन जीता है। स्त्री एक पिंजरे में कैद पंछी की तरह फड़फराती हुई कैदी का जीवन जीती है। यह तो मानवीय जीवन की त्रासदी के सिवाय और कुछ नहीं है। इससे कष्टमय और अमानवीय जीवन और क्या हो सकती है। इसकी जिंदगी न जमीं पर है और न आसमान में, बीच में लटकता हुआ है। जो मानवीय जीवन जी नहीं सकती है और न ही परित्याग कर सकती है। स्त्री मुक्ति आंदोलन में परित्यकता का सवाल निश्चय ही मानवीय जीवन जीने के लिए किया गया सवाल है।

21वीं सदी आधुनिकता और क्रांति के युग के नाम से जाना जाता है जिसमें ज्ञान और कौशल को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है जीवन के लिए। निश्चय ही इस युग में स्त्रियों ने ज्ञान और कौशल दोनों को प्राप्त किया है जिससे न केवल उनका जीवन सुखमय हुआ है बल्कि समाज भी तरक्की किया है। लेकिन पितृसत्तात्मक समाज की विडम्बना यह है कि वह लड़की को एक मानव के रूप में पहचान नहीं दे पाया है या यूं भी कह सकते हैं कि लड़की को या स्त्री को पुरुष का अभिन्न अंग नहीं समझता है। उसे पुरुष के बराबरी का नहीं समझना चाहते हैं। ऐसा क्यों होता है इसे समझने की जरूरत है अन्यथा समाज की विडम्बना के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि समाज किस दिशा में जा सकता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी आत्मकथा 'पिंजरे की मैंना' में इसी विडम्बना का जिक्र करती हुई लिखती है कि "आपकी लड़की बहुत पढ़ी–लिखी है, सारे गुण हैं, बहुत नाम पा लिया है। पर कहू हमारे लड़के के सिर पर पांव रखकर आवे – यह हमें मंजूर नहीं।"[32] अर्थात् लड़की पढ़ी–लिखी गुणवान तो होनी चाहिए लेकिन लड़कों से आगे नहीं निकलना चाहिए। इसे यूं भी कह सकते हैं कि यह पितृसत्ता है जिसमें पुरुष स्त्री में सभी गुणों –कौशल की खोज तो करता है लेकिन उसका इस्तेमाल वे अपने लिए करना चाहते हैं अपने या अपनों के विरूद्ध उसे नहीं देखना चाहता है। अन्यथा यह नहीं कहा जाता है कि सर्वगुणसंपन्न होने के बावजूद भी 'लड़के के सिर पर पांव रख कर आवे– यह हमें मंजूर नहीं।' यह आधुनिक पितृसत्ता है जिसमें स्त्रियां सर्वगुण संपन्न और कौशलयुक्त तो होनी चाहिए लेकिन उसका उपयोग पुरुष की इच्छाओं के अनुसार होना चाहिए न की स्त्री की इच्छा के अनुसार। स्त्री की इच्छानुसार होगी तो पितृसत्ता टूटेगी और स्त्री–पुरुष समानता का भाव उत्पन्न होगा। पितृसत्ता यह कभी नहीं चाहती है कि उसकी सत्ता टूटे। इसलिए वह पढ़ी–लिखी स्त्री को अपने अनुसार या शर्त के अनुसार जीवन जीने के लिए या उसे आगे बढ़ने के लिए कहता है। इसके विपरीत होने पर वह स्त्रियों की नियति को निर्धारित पितृसत्तात्मक औजार से खत्म करने के लिए आधुनिकता के भौड़ेपन का भी इस्तेमाल करता है। यह भौड़ेपन स्त्रियों के कर्मस्थल की सहकर्मी या किसी पुराने संस्थान जहां वह स्त्री या लड़की अपना हुनर सीखती थीं या पढ़ती–लिखती थीं को शंका या गलतफहमी पैदा कर स्त्री जीवन की कौशलता को कठघरे में खड़ा करती है। यह पितृसत्ता नही ंतो और क्या! इसे भी स्त्री आंदोलन में जगह देने की जरूरत है। इतना ही नहीं स्त्रियों को अपने मान–सम्मान और गरिमा के लिए हमेशा ही संघर्ष करना होता है। स्त्री आंदोलन की यह देन है कि वह स्त्रियों को समाज या व्यवस्था में जगह मिलने लगी। लेकिन उनका संघर्ष वहां भी कम नहीं है क्योंकि पितृसत्तात्मक मानसिकता या मर्दवादी मानसिकता से समाज मुक्त नहीं हुआ है। इसलिए समाज में व्याप्त तमाम स्त्री विरोधी मुहावरे, लोकोक्तियां, कहावतें आदि सभी जगह देखने को मिलता है जिसका प्रयोग

अप्रत्यक्ष–प्रत्यक्ष पुरुषों द्वारा स्त्रियों के विरूद्ध किया जाता रहा है तो वहीं इसका प्रयोग कई बार तो संस्कृतिकरण में पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त स्त्रियां भी स्त्रियों के प्रति करती हैं जो सबसे ज्यादा खतरनाक है। रमणिका गुप्ता जब अपनी आत्मकथा में इसका जिक्र करती हैं कि 'हालांकि वह औरत जाति की इज्जत नहीं करता था। किसी भी खिलौने को देख बच्चों की आंखों में जैसे चमक आ जाती है और एक लालसा उठ जाती है उसे छूने की या देखते रहने की, उसी तरह वह औरतों को देखकर अश्लील तो नहीं, पर उच्छृंखल कटाक्ष जरूर दाग देता था, जो औरतों के बारे में आम पुरुषों की मानसिकता के द्योतक होते थे।' तो सामान्य तौर पर आधुनिक पितृसत्ता के विषय में ही कहती है जो आधुनिकता की चकाचौंध में स्त्रियों को, लड़कियों को सिर्फ खिलौना ही समझता आ रहा है और उसे छूने–पाने की लालसा रखता है। मन्नू भंडारी के शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सामंती संस्कारों से ओत–प्रोत इस पौरुषीय अहम की कचोट मैं समझती नहीं होऊं, यह बात नहीं थी, पर उसका निराकरण मेरे पास नहीं, राजेन्द्र के अपने पास था। लेकिन उस दिशा में उन्होंने कभी कदम नहीं बढ़ाया और मैं उन्हें मजबूर करना तो क्या, उन पर किसी तरह का दबाव भी नहीं डालना चाहती थी।'[33] यह जो मजबूरी है और समस्या का निराकरण का सवाल है। यह स्त्री जीवन का बहुत बड़ा संघर्ष है जिसे स्त्री आंदोलन में जगह देने की जरूरत है। उसे आंदोलन में शामिल कर स्त्री जीवन की सुखद पहलुओं के लिए और एक स्वस्थ्य समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य रूप से शामिल किया जाना चाहिए। अन्यथा यही कहा जा सकता है कि जैसा कि मैत्रेयी पुष्पा ने 'कस्तूरी' के लिए कहा कि 'कांपते कलेजे को पुरुषों के आतंक ने कस लिया।' है, उससे मुक्त होने की जरूरत है। 'पुरुषों जैसे काम करने से भी पुरुष जैसी नहीं मान ली जाती है स्त्री'। पितृसत्ता हमेशा उसे शंका की निगाह से ही देखती है। इसी शंका की निगाह को चंद्रकिरण सौनरेक्सा अपनी आत्मकथा में चित्रित करती हुई इसे स्त्रियों के लिए सबसे खतरनाक कहती है। इसी संदर्भ में चंद्रकिरण सौनरेक्सा पारिवारिक संस्था –'घर और घर में स्त्री की हैसियत' दोनों को रेखांकित करती हुई लिखती है कि यह सामंतशाही है। जिस घर में स्त्री के जीवन के श्रम और उसके जीवन मूल्य का कोई औचित्य नहीं , कोई महत्व नहीं। उस घर को भी नए रूप में शोषण का आधार कहती है और स्त्री का पितृसत्ता का पालतू जीव। उन्हीं के शब्दों में, ''क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही मैं इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल–तिल खपा रही हूँ? तीन वर्ष के विवाहित जीवन के बाद कोई विश्वास का आधार नहीं बन पाया अब तक, तो आगे क्या आशा बन सकती है? उन्होंने अनुभव कर लिया कि ''मैंने ऐसे व्यक्ति का साथ चुन लिया है, जो शक के ही चश्मे में सब कुछ देखता है।''[34] यह जो स्त्री अनुभव–विश्वास का स्त्री जीवन के संघर्ष और आंदोलन में जगह देने की जरूरत है। अन्यथा पितृसत्तात्मक चश्मा की निगाह में स्त्री जीवन का अंत, खातमा कब किस रूप में होगा इसे कहना मुश्किल है लेकिन 'सामाजिक संकट' का सवाल भारतीय समाज को तहस–नहस कर देगा। और इस सवाल को समझने की जरूरत ही महसूस करने की जरूरत है कि जैसा कि मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथा में जब लिखती है कि 'मैं स्त्री नहीं, माँ नहीं, रांड हूँ।' हमारे समाज में औरत की वास्तविक स्थिति यही है? तो समाज में स्त्री जीवन की भयानक त्रासदी को रेखांकित करती हैं जिसे समय रहते व्यक्ति, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर समझने की आवश्यकता है। वह एक

सामाजिक संकट की सचेतना है, क्योंकि जिस समाज में स्त्री की दशा और दिशा दोनों इस स्थिति में पहुंच जाए तो वह समाज घोर मानवीय संकट का शिकार हो सकता है या 'घुन खाए अनाज की तरह खोखला' हो रहा है या है, की ही स्थिति को दर्शाता है। यह सवाल और संघर्ष सिर्फ स्त्री जीवन का ही संघर्ष या सवाल नहीं है बल्कि संपूर्ण मानव के अस्तित्व का सवाल है। इसे राष्ट्र के विकास का सवाल के रूप में देखा जाना चाहिए।

इस राष्ट्रीय या मानवीय संघर्ष और सवाल का यह भी हल नहीं है। जैसा कि कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथा में 'लगता नहीं दिल मेरा' और ' और...और... औरत'में पितृसत्ता को रेखांकित करती हुई लिखती हैं कि ''मैं तो एक खाई से निकलकर दूसरी में फ्रंस गई थी। क्या करती? क्षमा देना ही था, सो बेशर्म सी संधि पत्र पर दस्तखत कर दी।'[35] यह भी पितृसत्ता है जिसमें जाकर वह फंसी है जो अपनी गलती पर क्षमा पत्र भी हस्ताक्षर करवा लेती है और स्त्रियों को अपनी चंगुल से मुक्त भी नहीं होने देती है। स्त्री आंदोलन में पितृसत्ता के इस रूप के प्रति जागरूकता और तेज करने की जरूरत है। निवेदिता के शब्दों में, '' नारीवादी आंदोलन की सबसे बड़ी जीत थी स्त्री को देह से आगे जाकर देखना। सेक्स व जेंडर दो अलग चीजें हैं, यह समझाने में लम्बा समय लगा। लिंग के आधार पर स्त्री एक विशिष्ट प्रकार का हिंसा झेलती है नारीवाद इसी दमन के विरूद्ध स्त्री मुक्ति एवं उसकी सामूहिक चेतना के विकास के लिए संघर्ष कर रहा है। पर बात यहीं खत्म नहीं होती। उसकी लड़ाई दुनिया में स्त्री को मनुष्य का दर्जा दिये जाने के लिए है। स्त्री आंदोलन का पहला पक्ष है वर्चस्वविहीन समाज की स्थापना।''[36] अर्थात् स्त्री मुक्ति का आंदोलन सिर्फ स्त्री शोषण या उत्पीड़न तक सीमित नहीं है बल्कि वह मानव होने के बोध से लेकर उसकी स्वीकृति के लिए किया आंदोलन है।

4.4 पितृसत्ता के धार्मिक चरित्र के खिलाफ आंदोलन

धर्म और पितृसत्ता का अन्योन्य संबंध है। दोनों एक–दूसरे का पक्ष रखता है और एक–दूसरे को जीवित रखता है। इसकी पूरी जिम्मेदारी स्त्री पर पितृसत्ता द्वारा थोपी गई है और स्त्रियां आसानी से धर्म और धर्म के माध्यम से पितृसत्तात्मक तंत्रों को जीवित रखती हैं। ''यौन–शुचिता'' का सवाल पवित्रता का सवाल है और इसका संबंध सीधे धर्म और पितृसत्ता से है। धर्म के माध्यम से पवित्रता के सवाल को गढ़ा जाता है लेकिन यह पवित्रता सिर्फ स्त्रियों पर लागू होती है पुरुष इससे मुक्त है। और पितृसत्ता के माध्यम से स्त्रियों को गुलाम बनाने का काम किया जाता है। इसे यह भी कह सकते हैं कि ''शुचिता, पवित्रता एक ऐसा शब्द है जो थोड़े लोगों का बाकी बचे लोगों पर श्रेष्ठता कायम करते हैं। भारत में जातिवाद का यह सबसे बड़ा आधार है और स्त्रियों के शोषण का भी। गौरतलब है कि जो समाज स्त्री के रजस्वला होने को दैवीय घटना मानता है, वही इस मासिक चक्र को उसकी पवित्रता से भी जोड़ देता है। शुचिता और वर्जनाएं स्त्रियों की गत्यात्मकता पर प्रहार करती हैं, उसे एक ऐसे दायरे में, लक्ष्मण रेखा के दायरे में बांध देती है। यह लक्ष्मण रेखा सिर्फ दृश्य भर नहीं होती, अदृश्य रहकर मानस को भी नियंत्रित करती है, स्त्रियों के पूरे जीवन अदृश्य आंखों की निगरानी बैठा देती है।''[37] इस अदृश्य की निगरानी की आंखें धर्म और धर्म की पवित्रता की मानसिता में गुलाम स्त्री के शोषण

को भी समझा जा रहा है। स्त्री आत्मकथाओं में ऐसे कई प्रसंग और घटनाओं की चर्चा है जहां स्त्रियां धार्मिक आडम्बरों और रूढ़िवादिताओं के खिलाफ विरोध का स्वर अख्तियार करती है। उसके खिलाफ संघर्ष करती हुई दिखाई देती है।

स्त्री आत्मकथाओं में कहीं न कहीं धर्म से जुड़ी हुई घटनाओं का जिक्र हैं। धार्मिक आस्था के सवाल के तहत होने वाले शोषण को उठाया गया है। धर्म और धर्मशास्त्रों से अनुकूलित और उनके द्वारा निर्धारित सामाजिक नैतिक विधि निषेधों से जुड़ी मढ़ी, जिस सामाजिक संरचना में हम जी रहे हैं व्यवस्था के प्रभुओं ने उसके तहत पुरुष और स्त्री की सामाजिक हैसियत में तो भेद किया ही है, धर्म, सदाचार और नैतिकता की रक्षा तथा निर्वाह के लिए जरूरी त्याग और बलिदान की सारी जिम्मेदारी भी स्त्री के कंधों पर डाल रखी है। यही कारण है कि पुरुष अपने आचरण और लेखन में, स्त्री को कैसे भी कितना भी अनावृत क्यों न करें, व्यवस्था के प्रभुओं और धर्म तथा नैतिकता के ठेकेदारों के कानों में जूं तक नहीं रेंगती, परंतु स्त्री ने भी अपनी देह या मन की कोई परत खोली नहीं कि उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं। उसे तरह–तरह की अग्नि परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। समाज में इज्जत के साथ जीने की बात तो दूर उसका जीना मात्र दूभर हो जाता है। चंद्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी आत्मकथाओं में पिता के कथन के साथ इस धार्मिक कर्मकांडों को उजागर किया है। बेटा–बेटी दोनों को समानता की माँग करती हुई लेखिका लिखती हैं – बावूजी हंसते और कहते, "पोता क्या स्वर्ग की सीढ़ी है ? भाई, स्वर्ग–नरक तो मनुष्य को अपने कर्मों से मिलता है। मैंने तो कह दिया है – मेरी तेरहवीं पर ब्राह्मण मत बुलाना अनाथालय के बच्चे बुलाकर उन्हें खिलाना। गंगा जी ले के जाने की जरूरत नहीं, यहाँ का सूरजकुंड क्या बुरा है। वैसे, मेरे तो सब काम पूरे हो गये। एक बस लड़की जरूर कुंआरी रह गयी है – इसके लिए भी जेवर, कपड़ा, बर्तन तो इसकी माँ ही तैयार कर गयी थी। ऊपर के खर्चे के लिए पांच सौ रुपये मेरी पास बुक में बचे हुए हैं।[38] निश्चय ही यह धार्मिक भावना की बेटा स्वर्ग का माध्यम होता है, का विरोध स्त्री–पुरुष की समानता का द्योतक है।

दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न अशांति चाहे एकाकी परिवार की स्थिति से संबंधित हो अथवा संयुक्त परिवार की स्थिति से संबंधित, प्रत्येक स्थिति में अकेलेपन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही अकेलापन, असहायावस्था तथा घुटन भरा जीवन पारिवारिक वातावरण को विषाक्त बना देता है। भारतीय जीवन में संयुक्त परिवार प्रथा बड़ी सफल व गौरवशाली रही है परन्तु इस प्रथा में आयी विसंगतियों के फलस्वरूप एकल परिवार अस्तित्व में आए और परिवर्तित जीवन मूल्यों व अधिकार की अतिशय भूख के कारण एकल परिवार भी अधिक सफल न हो सके। संतानें एकल परिवार की स्थिति में हो अथवा संयुक्त परिवार की स्थिति में, नई शाखा व्यवस्था, नवीन जीवन मूल्यों व माता–पिता के आचरण का अनुकरण कर उनके नियंत्रण से इस प्रकार मुक्त हो जाते हैं कि फिर उन्हें सही मार्ग पर लाना टेढ़ी खीर हो जाता हैं आधुनिकता व नवीन मूल्यों के पूर्ण प्रभाव में आ गई इन संतानों के लिए प्रेम तथा स्वच्छन्द यौनाचार ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है और जीवन निर्माण के मार्ग से ऐसी संतानें भटक जाती हैं। आधुनिक काल की स्वच्छंद प्रिय ये संतानें माता–पिता के प्रति उनका दृष्टिकोण मात्र इतना सा रहता है।

समाज के निर्माण में स्त्री–पुरुष दोनों के श्रम और संघर्ष बराबर का है लेकिन पुरुष श्रम और संघर्ष दोनों का फल अपने पक्ष में कर लेता हैं। सुशीला टाकभौरे इसे हिंदू धर्म की असामनता वाली धारणों को मानती है। वे लिखती हैं कि, ''श्रम और संघर्ष करने के बाद भी उन्हें समता, स्वतंत्रता का अधिकार नहीं मिलता था। लड़कियों के प्रति समाज में ऐसी भावना हिंदू धर्म ग्रंथों के आधार पर उन्हें अबला मानने के फलस्वरूप थी। अबला लड़कियों का सबला बनाने की भावना नहीं थी। धर्म और आदर्शों के त्याग बलिदान की शिक्षा के साथ उन्हें शारीरिक और मानसिक रूप से हमेशा कमजोर बनाया गया। तर्क वितर्क के अभाव में वे उचित–अनुचित भी समझ नहीं पाती थी। खुद के लिए विचार करना और निर्णय लेना उनके लिए कठिन था। मेरा पालन–पोषण ऐसे ही वातावरण में, इसी भावना और ऐसे संस्कारों के साथ हुआ था।''[39] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पितृसत्ता का धार्मिक पक्ष स्त्रियों को मानसिक गुलाम बनाने के लिए है जिससे मुक्ति पाए बिना वास्तव में स्त्री मुक्ति संभव नहीं है। इसके लिए स्त्रियों को उन तमाम सांस्कृतिक पर्व–त्यौहारों का त्याग करना होगा जिसमें पितृसत्ता या पुत्र प्राप्ति की इच्छा से किया जाता है या करवाया जाता है।

स्त्री गुलाम का बहुत बड़ा कारण अज्ञान और अंधविश्वास है। भूत, डायन, और अंधविश्वास का गहरा रिश्ता अज्ञानता से है। प्रो. तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में मानसिक रोग कहा है। ननद का नाटकीयपन में अंधविश्वास और बदले की भावना थी जिसमें यह कहा जाए कि तुम्हारा वंश नष्ट हो जाए और तुम बरबाद हो जाओ। जिसे आशा आपराद अपना अपमान मानती है और अगली सुबह ही वे उस घर को छोड़ देती है। वे लिखती है कि संकट में ही रिश्तेदारों की पहचान होती है। ''मेरा दिल बड़ा विषण्ण, उदास था। संकट में ही रिश्ते नातों की सही पहचान होती है। इस दुनिया में अगर अपने आप कुछ है तो इज्जत होती है, वरना बेइज्जती के अलावा कुछ हिस्से में नहीं आता। अगर इंसान के पास पैसा हो तो गुड़ में जो चींटियां लगती हैं तभी लोग अपने पास आते हैं। अगर पैसा न हो तो टालते हैं, मुंह फेर लेते हैं। पैसा ही सब कुछ प्यार प्रतिष्ठा मर्यादा बाकी सब झूठ...। सबसे बड़ा रूपया यही दुनिया का दस्तूर...। हमारे लिए कठोरता से व्यवहार करनेवाले कोई पराये नहीं थे। इनके सगे ममेरे, खलेरे, फुफेरे, भाईबंद थे। दुःख में ही जिंदगी की सही पहचान होती है। लोगों का सच्चा चेहरा सामने आता है...। मैंने जीवन का और एक रंग देख लिया, मेरी सगी मां ने जीवन का विद्रूप सत्य दिखाया। जिंदगी से प्यार करने की ताकत भईजी के प्यार ने मुझे दी, जीवन का सुंदर आविष्कार कराया कुछ पराये मित्र परिवारों ने, जैसे भाऊ, बापू, राजा मामा, शशी ने निस्वार्थ प्रेम का परिचय किया और अब ससुरालवालों ने दिखाया कि रिश्तों में पैसा अहम चीज है।''[40] यानी रिश्तों में पैसा जैसे ही अहम होता है रिश्तों में कट्टापन घुलने लगता है क्योंकि पितृसत्ता में धन का मालिक तो सिर्फ पुरुष है जिसमें स्त्रियों के श्रम के मूल्यों को भी ढकार गया है। आर्थिक गुलामी की स्थिति ही स्त्रियों के शोषण व उत्पीड़न का जड़ माना गया है। यह इसे पितृसत्ता की चालाकी भी कह सकते हैं कि वह अपने वर्चस्व को कायम करने के लिए पहले स्त्रियों को सभी प्रकार के संसाधनों पर से मालिकाना हक से वंचित किया और फिर सहजता से अपनी गुलामी स्वीकार करके जीवनपर्यंत मजदूर करने वाला मजदूर व आज्ञा का पालन करने वाला गुलाम मिल गया। जिसके खिलाफ स्त्रियों ने लगातार संघर्ष किया है और भारतीय संविधान में उसे अपने पैतृक व पति के संपत्ति

में हक का अधिकार मिला हुआ है, जिसे आज व्यवहार में लाने की जरूरत है। अन्यथा पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के श्रम का कोई मूल्य नहीं है। इसी संदर्भ को शीला इन्द्र अपनी आत्मकथा 'क्या कहूं क्या ना कहूं' में उजागर करती हुई लिखती है कि '' मुझे इस बात का दुःख नहीं कि इतना अधिक काम करना पड़ता था, दुःख इस बात का हैं कि जिस व्यक्ति के सहारे मैं वहां गई थी, उन्होंने एक बार भी सिर पर हाथ फेरकर नहीं कहा,''तुम्हे बहुत काम करना पड़ता है, थक जाती होंगी। प्यार का एक वाक्य पत्नी की सारी थकान उतार देता है। उन्हें पत्नी नहीं, औरत चाहिए थी।''[41] यानी यह जो संस्कृति बन गई है कि पत्नी नहीं, औरत चाहिए। यह भी पितृसत्तात्मक सोच ही है जिसमें जीवन साथी नहीं, जीवन के सुख–दुःख के संघर्षों को समझने वाला कोई नहीं। बस शारीरिक भुख मिटाने के लिए, मैथुन के लिए पत्नी चाहिए। वैसे भी पति–पत्नी शब्द भी असमानता का द्योतक है जिसमें मालिक–स्वामी की सोच बनी हुई है। पति मालिक है तो पत्नी तो गुलाम होगी ही। इस सोच या धारणा को भी स्त्री आंदोलन के संघर्षों में खत्म करने की जरूरत है।

इसी के साथ भारतीय संस्कृति के इस पहलुओं को समझने की जरूरत है जिसमें यह कहा जाता है कि बेटी तो परायी होती है। वस्तुतः यह भी एक पितृसत्तात्मक मानसिकता है और स्त्री–पुरुष असमानता का द्योतक भी। समाज में बेटा का अपना ही महत्व है। पितृसत्ता होने के कारण बेटा नियंता और नियंत्रक एवं वंशधारक मानकर चला जा रहा था। तीसरी बार आशा को बेटी होने पर बहुत ही कष्ट हुआ था। इसमें आशा की कोई गलती नहीं फिर भी अपराध तो पितृसत्तात्मक सोच के कारण उन्हीं के ऊपर जाना था। ''नौ महीने तक बेटे का इंतजार करना और आखिर बेटी यह शब्द सुनना यह पचाने में कठिन था। मेरे पास अम्मा ही थी। वे बच्चे को देखने तो आए लेकिन आंखों से नाराजगी टपक रही थी।''[42] अर्थात् यह भी पितृसत्तात्मक मानसिकता की ऊपज रही है कि बेटियों को घर के चारदीवारी में कैद होना पड़ा। या उसे कैद कर रखा जाने लगा। '' बेचारी बेटियां तो जैसे घर के काम करने के लिए पैदा होती है।... बेटियों की स्वतंत्रता पर हमेशा बंधन लगाये जाते। बेंटियां मानों जीवित मनुष्य नहीं, मूक प्राणी हों। उनसे हमेशा आज्ञापालन और अनुकरण की अपेक्षा की जाती है। परिवार में पुरूषों के साथ स्त्रियां भी बेटों को महत्व देकर पुरुषसत्ता को महत्व देती हैं, उसे बढ़ावा देती है। समाज में पितृसत्ता है, इस कारण पुत्र ही पिता का वंशज और कुलदीपक कहलाता था। यह कैसी संस्कृति थी? किसने इसे पूरे समाज पर थोपा? कि बेटियां प्रिय रहकर भी प्रिय नहीं रह पाती थीं।' इस प्रकार कहा जा सकता है कि लैंगिक भेदभाव की संस्कृति की वजह से ही समाज में स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा दोयम दर्जे की है तो पुरुषों की प्रतिष्ठा वर्चस्व की संस्कृति को बढ़ावा देती है। जबकि होना चाहिए कि समाज में स्त्री–पुरुष दोनों को समान प्रतिष्ठा व सम्मान मिलनी चाहिए। शोषणविहीन समाज की स्थापना के लिए तथा स्त्रियों को उसकी गुलामी से मुक्ति के लिए समाज से यौन या भावनात्मक शोषण का अंत जरूरी है। यह तभी संभव हो सकता है कि जब, सुधा अरोड़ा के शब्दों में कहें तो, ''यौन या भावनात्मक शोषण से निबटने के लिए पहले लैंगिक वर्चस्व और लैंगिक शोषण की पहचान करनी होगी जिसकी नींव पर यह समाज बाहर से दिखती खुशहाली पर टिका हुआ है जबकि स्त्री संबंधी सारी समस्याओं की जड़ लैंगिक वर्चस्व है। इसकी पहचान के बगैर शोषण और हिंसा की दिशा में कदम बढ़ाना वैसा ही है जैसे खराब जड़ को नजरअंदाज कर

आप सूखती शाखों और मुरझाये पत्तों का इलाज करते रहें।...अधिकांश दाम्पत्य आइसबर्ग की टिप पर बैठे हुए हैं –बाहर से सुरक्षित दिखने वाले और भीतर ऐसा घमासान कि लावा बाहर फूटने का निकास चाहता है।''[43] यानी लैंगिक वर्चस्व और उसके बनाए रखने वालों तंत्र या उसकी मानसिकता को खत्म किए बिना स्त्री मुक्ति आंदोलन सफल नहीं कहा जा सकता है।

4.5 अस्तित्व–अस्मिता, गरिमा और पहचान के लिए संघर्ष और आंदोलन

स्त्री आत्मकथा में स्त्रियों ने अपने अस्तित्व व पहचान के लिए निरंतर संघर्ष करती दिखाई पड़ती है। सामाजिक संरचना के खिलाफ जाकर स्त्रियों ने अपनी पहचान व अस्तित्व के लिए संघर्ष करती है। प्रभा खेतान बचपन से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती है। बचपन से लेकर कॉलेज तक पहचान विहीन जीवन जी रही प्रभा खेतान क्या डॉ. सर्राफ से जुड़ कर अपनी पहचान बना पाती है? निश्चित ही एक सकारात्मक उत्तर है कि डॉ. सर्राफ से जुड़ने के बाद प्रभा खेतान की पहचान बनती है। उन्हीं के शब्दों में '' तब क्या डॉक्टर साहब के पास मुझे अपनी जमीन मिल सकती है? मैं जो एक टूटी डार हूं, हवा में उड़ता पत्ता हूं, मैं जो तूफान में उड़ती हुई एक चिड़िया हूं।''[44] डॉ. नीरू के अनुसार '' सारे कृत्रिम बंधनों से परे स्त्री पुरुष के दुर्निवार प्रेमाकर्षण के साए में प्रभा की प्रणयानुभूति को मनुष्य मात्र की नैसर्गिक वृत्ति कहकर उचित ठहराया जा सकता है। मगर देशकाल की सापेक्षता में सिरजी गई सामाजिक नैतिक मान्यताओं को भी तो नहीं भूलाया जा सकता, जिनके तहत प्रभा व डॉक्टर का संबंध गलत है अक्षम्य है, अपराध है! नारी मुक्ति के नाम पर एक स्त्री का विवाहित पुरुष से संबंध जोड़ना उस पुरुष की पूर्व पत्नी को सजाए मौत देने के समान है। आश्चर्य है कि पुरुष की बेलगाम सेक्स इच्छाओं की पूर्ति का माध्यम बन एक स्त्री अपनी ही प्रजाति की दूसरी स्त्री की खुशियों की हत्या कर डालती है, एक स्त्री के शोषण में वह पुरुष की सहभागी बनती है। स्वच्छंद प्रेम कथाओं में भी नायक नायिका के उद्दात्त प्रेम की पृष्ठभूमि में नायक की पहली पत्नी की आंसुओं को कैसे अनदेखा किया जा सकता है?''[45] उत्तर शायद परिस्थितियों में ढूंढ़ा जा सकता है। तूफान में घिरी हुई चिड़ियों के लिए जो एकमात्र सहारा मिला है उसे ही पकड़े रखने के लिए वह तरह–तरह का तर्क देती है। ऐसा ही प्रभा खेतान करती है जो अपने अस्तित्व की रक्षा व पहचान के लिए विभिन्न परिस्थितियों में अपने आपको मजबूत करती है अपनी गलती को कभी अपराध नहीं मानती है। उन्हीं के शब्दों में ''माना वह क्षणों की कमजोरी थी एक भूल थी मगर अपनी इस भूल को अपराध कैसे मानलूं? क्या ऐसा कभी घटता नहीं? विवाहित व्यक्ति से एक कुंआरी लड़की कभी प्रेम नहीं करती?''[46] निश्चित ही ऐसा संभव है भारतीय समाज में सामाजिक स्वीकृति के बीच ऐसा विवाह हुआ भी है। सवाल सिर्फ स्वीकृति की है।

स्त्री अपनी पहचान के लिए लगातार संघर्ष करती है। शीला इन्द्र अपनी आत्मकथा में इस पहचान को रेखांकित करती हुई लिखती है। ''सोचने का काम दिमाग का ही होता हैं, किन्तु अक्सर लोग भावावेश मे गलत ढंग के निर्णय लेने के लिए दिल की सुननी है और कौन से निर्णय लेने के लिए हमे सिर्फ़ दिमाग की ही बात माननी है। विचारों और भावनाओं का उचित सामंजस्य ही सही आदमी की पहचान होती हैं।...बचपन से लड़की

होने का जीवन संघर्ष षुरूष बेटियों पर काम का इतना बोझ लाद दो कि जब वे दूसरे घर जाएं, तो उन्हे ससुराल में काम करना भारी न पड़े। हर घर में बेटियां जरा सा भी बिगड़कर बात करें, तो बहुत डांट पड़ती थी। लड़की तमीजदार होनी चाहिए, ऐसा न हो कि ससुराल में बेटी मां–बाप का नाम उछालें। आदर्श स्त्री का यह सर्टिफिकेट पाने के लिए कभी–कभी उसे बहुत लंबी अग्नि परीक्षा से गुजरना होता था, कभी–कभी तो पूरा जीवन ही, अपने आप को आदर्श साबित करने के मद में प्रायः लडकियां गमा देती हैं।''[47] यह आदर्श पितृसत्तात्मक समाज की देन है। क्या पुरुषों को इस आदर्श का सर्टिफिकेट देना होता है? नहीं, तो फिर स्त्रियों से क्यों? स्त्री आत्मकथाओं में इस आदर्श और आदर्श के लिए स्त्रियों के द्वारा दी जाने वाली सर्टिफिकेट के खिलाफ एक लंबा संघर्ष और विरोध हैं। उसे आंदोलन के रूप में ढालने की जरूरत है। निश्चय ही यह स्त्री मुक्ति का आंदोलन है जो सहज मानवीय संबंधों की दरकार करता है। किसी भी प्रकार के आधिपत्य या वर्चस्व का विरोध करता है। मैत्रेयी पुष्पा और रमणिका गुप्ता की आत्मकथा इसका उदाहरण है।

4.6 मानवीय संबंध : संघर्ष और आंदोलन

स्त्री मुक्ति का संघर्ष और आंदोलन किसी भी प्रकार के वर्चस्व की संस्कृति के खिलाफ एक समतामूलक सह संबंधों की खोज करता है। स्त्री लेखन के इतिहास में यह संबंध किसी भी समाज व राष्ट्र के विकास के लिए अनिवार्य अंग है। स्त्री आत्मकथाओं में इस मानवीय संबंध की खोज परस्पर होता रहा है। मार्मिक बात तो यह है कि इसकी शुरूआत और खोज भी स्त्रियां ही करती हैं। पुरुषों की तरफ से इस तरह का कहीं कोई प्रयास होता नहीं दिखता है। शायद पुरुष या पितृसत्तात्मक संस्कार में पला–बढ़ा वह पुरुष इस बात से निश्चिंत रहता है कि यह काम स्त्रियों का है। उसे इसकी जरूरत नहीं है। सभी स्त्री आत्मकथाओं में इस मानवीय संबंध की तलाश रहती है और उसके लिए स्त्रियों को संघर्षरत देखा गया है। स्थिति इतनी भयानक भी रही है कि स्त्रियों को कानूनी सहारा भी लेना पड़ा है। कृष्णा अग्निहोत्री से लेकर आशा आपराद तक सभी आत्मकथाकारों ने इस मानवीय संबंधों की खोज सतत करती रही हैं।

आशा आपराद स्त्री–पुरूष के संबंधों पर भी विचार करती हुई लिखती हैं कि ''क्या ऐसा ही होता है पति–पत्नी का रिश्ता? सिर्फ शरीर सुख के लिए पास आना इस रिश्ते की परिपूर्ति है क्या? इसके अलावा बहुत कुछ है। एक दूजे की भावनाएं, धड़कन, सुख–दुख के साझीदार, हमदम, हमसफर। और इन सब आरजुओं का क्या? यह अधूरापन लिए घर–परिवार की व्याख्या पूरी होती है क्या? मुझे क्या चाहिए? मेरी क्या चाहते हैं यह कहे बिना अगर पति–पत्नी को समझ नहीं लेता तो फिर इस रिश्ते का मतलब ही क्या? जीवन साथी का नाम तो है पर फर्ज निभाना मालूम नहीं। यह सब मेरे कहने से क्या होता है? बात तो तब बनती है जब लफ्जों के सहारे बिना आंखों, आंसू, तड़पना, इंतजार, स्पर्श की उत्कटता और भी... और भी... बातों से जान जाए। बस्स मेरा दुर्भाग्य था कि मेरा मांगना और उनका समझना इनमें दो ध्रुवों का अंतर था, जिसे मिटाना मेरे बस के बाहर था।''[48] यानी पति–पत्नी के रिश्ते में आई कडुवाहट को समझने की जरूरत हैं। कहां से यह आती है और कौन इसके सूत्रधार हैं। निश्चित की यह सवाल महत्वपूर्ण है, क्योंकि जब आशा के पति उसके साथ कोल्हापुर में

होता है तो वह बहुत खुश होती है और जब उसकी मां उसके साथ नहीं होती है लेकिन जैसे ही मां साथ में रहने लगती है तभी सब कुछ बिखर जाता। उन्हीं के शब्दों में '' जब हम पति पत्नी कोल्हापुर में रहते तो बड़ा सुकून सा लगता। उन दिनों में मेरे पति मुझे बहुत दिल के पास पास महसूस होते।... मुझे लगता ये दिन रातें सब हमेशा रहें तो कितना अच्छा होगा!' लेकिन इसी के साथ वे लिखती है कि ' मां के घर में आते ही तूफान की तरह सब कुछ बिखर जाता। अब मेरे शौहर भी किसी अनजाने की तरह नजर आते, उनका बर्ताव भी बदला बदला सा लगता। एक अजीबो गरीब खिंचवा, घुटन, अकड़न महसूस होती। मैं तो बुझी बुझी सी डरी डरी सी रहने लगती...।''[49] इसी तरह पति के प्यार और उसके व्यवहार पर भी सवाल करती है। उन्हीं के शब्दों में '' पैर भारी के दिनों में बिजली का झटका सहनेवाली अपनी पत्नी, जिसके शरीर और मन पर भारी चोट पहुंची होगी, उसकी पूछताछ प्यार से करना जरूरी है इतनी भी समझ नहीं? यह कैसी इंसानियत ? यह कौन सा रिश्ता ''[50] सभी रिश्तों की नींव संवाद में टिका हुआ है। जब तक संवाद होता रहता है तब तक रिश्तों में मधुरता में बनी रहती है। संवाद गायब अविश्वास की भावना पनपने लगती है। यहीं से शुरू होता है शक। जो न केवल संबंधों की नींव को खोखला कर देता है बल्कि मानवीयता को भी खत्म कर देता है।

स्त्रियों का संघर्ष सबसे ज्यादा जड़वादी सामाजिक मानसिकता को तोड़ना है। ''वैसे दसवीं कक्षा के लिए अंग्रेजी विषय तो आवश्यक था, पर दूसरी भाषा हिन्दी तथा उर्दू थी। लड़कियां हिन्दी लेती थीं, पर लड़के उर्दू ही लेते थे। अग्रेंजी के जाने के बाद भी कोर्ट की भाषा उर्दू ही रही थी। लड़कियों की पढ़ाई छठी के बाद बंद कर दी जाती। वैसें भी अंग्रेजी सरकार के शिक्षा विभाग ने लड़कियों के लिए छठी की बोर्ड की परीक्षा रख दी थी। अंग्रेजी विषय लेने वालों के लिए 'एग्लोवर्नाक्यूलर' और बिना अंग्रेजी के 'वर्नाक्यूलर लोअर मिडिल क्लास एक्जामिनेशन' जिसका बोर्ड से बकायदा 'सर्टिफिकेट' मिलता था, उसके बाद बेटियां घर बैठ जाती, महरी महराजिन की तनख्वाह बचती और बेटी गृहकार्य में निपुण भी हो जाती। ज्यादा पढ़ाकर क्या नौकरी करवानी है।''[51] अर्थात् ज्यादा पढ़ाकर क्या नौकरी करवानी है। यह एक जड़वादी मानसिकता है। जब तक यह मानसिकता नहीं टूटती है तब तक स्त्रियों को आंदोलन और संघर्ष लगातार जारी रखना होगा अन्यथा फिर से वही स्थिति है। समय परिवर्तनशील है। सब कुछ बदल रहा है। यदि कुछ नहीं बदल रहा है तो स्त्रियों के प्रति पुरुषों की सोच, उसकी मानसिकता। उत्पादन और तकनीकी परिवर्तन के युग में स्त्रियों का संघर्ष भी बदलता जा रहा है। उत्पादन और तकनीकी परिवर्तन मानव के संघर्ष को पूरी तरह प्रभावित करता है। ''जो आविष्कार उत्पादन तकनीकों को प्रभावित करते हैं वही व्यवसायीकरण की प्रक्रिया को तथा बाजारी शक्तियों के उदय एवं ग्रामीण समाज की सरंचनाओं को भी प्रभावित करते हैं।''[52] अन्यथा ''पता नहीं आगे का जीवन कैसा होगा?''[53]एक अंतहीन पीड़ा। अंतहीन संघर्ष और आंदोलन। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था और इस व्यवस्था में व्याप्त परंपरा और उसकी रूढ़िवादिता ने स्त्री की जड़ को खोखली कर दी है, उसे पनपने और फूलने–फलने नहीं दिया है। ये भी स्त्री के जीवन का अपना संघर्ष है।

लड़का बनाम लड़की का सवाल स्त्री आत्मकथाओं में उभरा है। यह सवाल सिर्फ सवाल नहीं है बल्कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था और उसकी प्रवृति है जिसके कारण समाज में लड़का और लड़कियों में भेदभाव किया जाता रहा है। सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में इस सवाल को उठाती हुई लिखती हैं कि ''जिन लड़कियों के भाई नहीं रहते थे, परिवार के लोग और रिश्तेदार उन्हें बुरा कहते थे।''[54] इतना ही नहीं बेटा न होने का मतलब मातृत्व न होने से भी रहा है। उस मातृत्व को अधूरा या नहीं के बराबरा माना जाता रहा है। उसे धार्मिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसलिए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि ''बेटा होने पर ही उनके मातृत्व को महत्व मिलता था। सामाजिक धार्मिक धारणा थी–बेटा नहीं होगा तो मरने पर मुंह में पानी कौन डालेगा?मरने पर अग्नि कौन देगा? पितरों को पानी कौन देगा? बेटा नहीं होगा तो मुक्ति कैसे मिलेगी?''[55] इस प्रकार से स्त्री मुक्ति के संघर्ष और आंदोलन में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व देखा जा सकता है। जब तक इस प्रकार के द्वंद्व खत्म नहीं होते हैं तब तक स्त्री मुक्ति का आंदोलन सफल नहीं कहा जा सकता है। इसी सामाजिक असामनता और जातीय भेदभाव के कारण कभी भी मैत्री भाव नहीं पनपता है। जबकि कहा जाता है कि दुःख सबको एक जगह खड़ा कर देता है। सुशीला टाकभौरे ने इसी अभाव और भूख के बीच न पनपने वाली मैत्री भाव का जिक्र करती हुई कहती हैं कि ''अभावों की पीड़ा और भूख की आग के संताप की मजबूरी थी।... मगर मेरी जाति उनसे भी भिन्न थी। ऊंच–नीच के भेदभाव के कारण मैत्रीभाव का पनपना मुश्किल था।''[56] अर्थात् सचमुच कितनी उलझी हुई मकड़जाल की तरह है यह जातिव्यवस्था, जो दो व्यक्ति के बीच मैत्री भाव या एकता पैदा ही नहीं होने देता है। ऐसी स्थिति में एक मैत्रीपूर्ण समाज की परिकल्पना असंभव है।

स्त्री मुक्ति आंदोलन के लिए यह बहुत जरूरी है कि गुलामी की पहचान हो। बिना गुलामी की पहचान के उससे मुक्ति तो संभव ही नहीं है। इस दृष्टि से देखें तो स्त्री के शोषण के विविध रूपों को समझना जरूरी है। इसलिए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि '' शिकंजे में जकड़ा जीवन कभी मुक्त भाव का अनुभव ही नहीं कर पाया। जिंदगी एक निश्चित की गई लीक पर चलती रही।''[57] यानी मुक्त भाव का अनुभव नहीं होना ही गुलामी का दूसरा रूप है। जिसमें एक स्त्री को पितृसत्तात्मक प्रवृत्ति इस बात का अनुभव ही नहीं होने देती है कि वह जो कुछ भी कर रही है वह गलत कर रही है। ऐसी स्थिति में ही स्त्रियों को गुलामी या शोषण का अनुभव नहीं होता है। यदि उसे इसका अहसास हो गया तो वह न केवल उसका प्रतिकार करेगी बल्कि उससे मुक्ति का मार्ग भी निकालेगी। इसी संदर्भ में सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि '' पीड़ा से छटपटाता मन मुक्ति का ध्येय लेकर आगे बढ़ता रहा, तब मुक्ति का मार्ग मैंने शिक्षा प्राप्ति को ही माना था। उसी में तनमन के साथ डूबी रही।''[58] इस तरह से यह देखा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं में शिक्षा पर बहुत बल दिया गया है। चाहे वह आशा आपराद की आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' या सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' हो या मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' हो आदि सभी में स्त्री मुक्ति और आंदोलन के लिए शिक्षा को अनिवार्य कहा गया है। इसके बावजूद यह बात आत्मकथाओं में देखने को मिलती है कि लड़कियों को विद्यालय नहीं भेजनी की घटनाएं आज भी हो रही हैं। इसके पीछे कुछ पारंपरिक सोच हैं तो कुछ रूढ़िवादिता है। इसका

दूसरा पक्ष यह है कि स्त्रियों को विद्यालय भेजने से और उसे शिक्षा ग्रहण करने से सिर्फ और सिर्फ पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही टूटती है या उसकी प्रवृत्ति या मानसिकता ही खत्म होती है। यह चीज समाज में कई बार जाने अनजाने ही घटित होती रहती है। सुशीला टाकभौरे जब यह लिखती हैं कि '' मैं समझ नहीं पाती थी मेरे कालेज जाने से ऐसा क्या हो जाएगा कि मेरे बप्पा और भाइयों की इज्जत धूल में मिल जाएगी?''[59] इस संदर्भ में यह भी देखने को मिलता है कि मां–बाप जब ऐसा कहते हैं तो उन्हें उनकी शिक्षा से ज्यादा उनकी इज्जत या अपनी इज्जत का सवाल सामने होता है। वे लिखती हैं कि ''गरीब की सम्पत्ति उसकी इज्जत है खासकर बेटियों की इज्जत।''[60] अर्थात् माता–पिता अपनी बेटी की इज्जत की असुरक्षा की भय से ही उसे बाहर अकेले नहीं भेजना चाहते हैं। इस दृष्टि से देखे तो पितृसत्तात्मक व्यवस्था की खौफ को सहज ही समझा जा सकता है कि वह लड़कियों को या स्त्रियों को किस दृष्टि से देखती है।

जब सिमोन द बाउवर यह लिखती है कि मां और परिवार का संस्कार ही स्त्रियों या लड़कियों को गुलामी का जीवन हस्तांतरित करती है तब उनका आशय मां या परिवार द्वारा बचपन में दिए जा रहे संस्कार ही है। बचपन का संस्कार ही लड़का हो या लड़की दोनों में सभी गुणों के विकास को निर्धारित करता है। सुशीला टाकभौरे लिखती है कि ''जब मेरी चिंता करने वाले हैं तब मैं क्यों अपनी चिंता करूं'' इसी के साथ वे लिखती हैं कि ''बचपन से सिखाये आदर्श और संस्कारों से बनी अपाहिज मानसिकता के कारण मैं अपने जीवन के विषय में कुछ सोच ही नहीं पाती थी।''[61] यही पितृसत्ता का हथियार है जो स्त्रियों को गुलाम बनाने में मदद करता है। पितृसत्ता की रणनीति कैसी होती है। इसकी बारीक पहचान स्त्री आत्मकथाओं में देखने को मिलती है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि ''हमेशा भयभीत रखकर डरा–धमकाकर अपने शासन सत्ता को कायम रखना, यह पुरुष सत्ता की कूटनीति है। पुरुष सत्ता बनी रहे इसीलिए स्त्रियों को शुरू से कमजोर बनाकर रखा जाताा है। समाज की परंपराएं स्त्री विरोधी हैं। इन्हें तोड़कर ही स्त्री स्वतंत्रता, समता और सम्मान पायेगी, तब वह अबला नहीं रहेगी, सबला बन जायेगी। इस भय से जीवन व्यवहार की बातों में पत्नी को नगण्य बताया जाता है, उनकी भावनाओं का ख्याल नहीं रखा जाता। यह उनका शोषण उत्पीड़न है।''[62] अर्थात् पितृसत्ता हमेशा से स्त्रियों के मन में डर, भय, आदि का भाव पैदा कर स्त्रियों का शोषण–उत्पीड़न करता है। इस स्त्री विरोधी परंपराओं के अंत के साथ ही वास्तव में स्त्रियों की मुक्ति संभव है और वह स्वतंत्रता, समानता, और सम्मान को भी महसूस कर सकती हैं। यह तभी संभव है जब स्त्रियां आत्मनिर्भर और आत्मनिर्णय हो। इसलिए महादेवी वर्मा लिखती हैं कि, ''यदि पुरुष धनोपार्जन कर अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ समाज तथा देश का आवश्यक और उपयोगी अंग समझा जाता है, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों का यथेष्ट उपभोग कर सकता है तो स्त्री गृह में भविष्य के लिए अनिवार्य संतान का पालन पोषण कर अपने गुरूकर्तव्य का भार वहन करती हुई इन सब अधिकारों से अपरिचित तथा वंचित क्यों रखी जाती है? संसार के और उसके बीच में ऐसी काली अभेद्य यवनिका क्यों डाल दी जाती है जिसके कारण अपने गृह की संकुचित सीमा के अतिरिक्त और किसी वस्तु से उसका परिचय हो सकना असंभव है?''[63] अर्थात् यह जो संकुचित सीमा है उसका खातमा होना अनिवार्य है क्योंकि यही स्त्री–पुरुष के भेदभाव का आधार है। पुरुषों के लिए कोई सीमा पितृसत्ता में नहीं रही है वही स्त्रियों के लिए

सीमा ही सीमा निर्धारित है। इसे स्त्रियों के आंदोलन और उसका संघर्ष ही खत्म कर सकता है। तभी वह पितृसत्ता और उसके तंत्र से मुक्त भी हो सकती है।

स्त्रियां आजीवन अपने घर के लिए संघर्ष करती हैं। यह सभी स्त्रियों का सपना भी होता है कि उनका अपना एक घर हो, जहां वे सुकुन से जीवन जी सकती है। अपना सर झुपा सकती है। स्त्री के संघर्ष के संदर्भ में महादेवी वर्मा लिखती हैं, ''पुरुष का जीवन संघर्ष से आरंभ होता हैऔर स्त्री का आत्मसमर्पण से। जीवन के कठोर संघर्ष में पुरुष विजयी प्रमाणित हुआ उसे स्त्री ने कोमल हाथों से जयमाल देकर स्निग्ध चितवन से अभिनंदित करके और स्नेह प्रवण आत्मनिवेदन से अपने निकट पराजित बना डाला।''[64] अर्थात् घर से बेघर हो जाना पुरुष के लिए एक नया संघर्ष हो जाता है वहीं स्त्री के लिए वह प्राय मृत समान होता है क्योंकि पुरुष के लिए घर एक सुख का साधन है वहीं स्त्री के लिए घर एक जीवन है। महादेवी वर्मा इस बात को स्त्री जीवन के मूल्यों से जोड़कर लिखती हैं कि इसका कारण स्वभाव और बाहर का संघर्ष है जिसके कारण पुरुष गृह में उतना अनुरक्त नहीं हो सका जितनी स्त्री हो गई है। उन्हीं के शब्दों में ''उसके लिए (पुरुष) गृह का उजड़ जाना एक सुख के साधन का बिगड़ जाना हो सकता है, परंतु स्त्री के लिए वही जीवन का उजड़ जाना है। उसने अपने आप को उसमें इतना तन्मय कर दिया था कि उसका घर उसके लिए जीवन से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं रह गया।''[65] अर्थात् स्त्री के लिए 'घर' सिर्फ घर नहीं, उनका जीवन है वहीं पुरुषों के लिए वह सिर्फ एक आशियाना भर है। स्त्रियां जीवनपर्यंत घर के लिए संघर्ष करती हैं जबकि पुरुष एक आशियाना समझ कर उसे खड़ा करता है। यह स्त्री–पुरुष दोनों की सोच है घर के लिए।

आंदोलन हमेशा ही सामाजिक असंतोष और सामाजिक व्यवस्था के बिगड़ने के बाद ही शुरू होता है। इस असंतोष की ओर संकेत करती हुई महादेवी वर्मा लिखती है कि '' भारतीय समाज में जिस अनुपात से स्त्री जाग्रत हो सकी, उसी के अनुसार अपनी सनातन सामाजिक स्थिति के प्रति उसमें असंतोष भी उत्पन्न होता जा रहा है।''[66] क्योंकि जैसे–जैसे स्त्रियों में चेतना आएगी उसमें अपने प्रति हो रहे भेदभाव के प्रति असंतोष का भाव उत्पन्न होगा। इस संदर्भ में महोदवी का यह कथन बहुत ही मार्मिक है, –''असंतोष सीमातीत होकर हमारे संस्कार जनित विश्वासों को आमूल नष्ट नहीं कर देता तब तक हम उसके अस्तित्व की उपेक्षा ही करते रहते हैं। स्त्री की स्थिति भी युगों से ऐसी ही चली आ रही है। उसके चारों ओर संस्कारों का ऐसा क्रूर पहरा रहा है कि उसके अंतरतम जीवन की भावनाओं का परिचय पाना ही कठिन है। वह किस सीमा तक मानवी है और उस स्थिति में उसके क्या अधिकार रह सकते हैं, यह भी वह तब सोचती है जब उसका हृदय बहुत अधिक आहत हो चुकता है। फिर उसके व्यक्तिगत अधिकारों और उनकी रक्षा के साधनों के विषय में कुछ कहना तो व्यर्थ ही है।''[67] सामाजिक जड़ता और बंधन किसी भी प्रकार के हो, वह समाज के लिए घातक है। अर्थ समाज के सभी प्राणियों के जीवन के लिए महत्वपूर्ण है। इसमें स्त्री या पुरुष का भेदभाव नहीं है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों का संघर्ष 'भीतर' और 'बाहर' दोनों रूपों में दिखाई देता है। बाहरी दुनिया ने जब भी हस्तक्षेप किया है मन की दुनिया या तो टूटा है या उनमें उतनी शक्ति आई है कि वह परिस्थितियों से लड़ने के लिए तैयार हो गया। जब

कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' में यह लिखती है कि ''मनुष्यता के प्रति सजग रहनेवाली मुझे अंदर तक इस समाज व शहर ने कुचला है। मैं तब भी इस शहर की माटी के प्रति, समाज के प्रति विनम्र कृतज्ञ हूं कि उन्होंने ही तो मेरे साहित्यिक पौधे को पनपाया है। रोज की टकराहट से मैं आंतरिक शक्ति एकत्रित करके लिखती आई हूं, लिख रही हूं, लेकिन इस सत्य से भी मैं इंकार नहीं कर सकती कि इस सौदाई दुनिया में जीकर मैंने उपेक्षाएं ही सहीं, अपनों से आघात झेले और अब उनकी बार–बार की पुनरावृत्ति मुझे तोड़ने लगी है। अंदर ही अंदर जैसे कुछ खंडित हो रहा है–प्रतिदिन मन उचाट हो रहा है और कड़वा सत्य तो यही है कि यहां लगता नहीं है दिल मेरा।''[68] इन्हीं सब कारणों से कई बार स्त्रियां संघर्ष करती हुई टूट जाती हैं और वह हारकर अपने संघर्षों से अलग हो जाती हैं। इसके कई कारणों में एक कारण यहां की लोगों की पिछड़ी मानसिकता है। कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं कि ''भारतीय समाज की इस पिछड़ी मानसिकता से टकराना मेरे लिए सदा चुनौती रहा कि मैं अपनी शक्ति से उन्हें, उनके किसी भी गलत इरादे को चूर–चूर कर दूंगा, लेकिन मैं शायद थक गई थी अंदर की तपन से, इसलिए छांह का मोह कुछ समय तक आकर्षित करता रहा। दुर्भाग्यवश छांह तो इतनी विरली थी कि तपन दूर हुई ही नहीं और देखा कि यह व्यक्ति मेरे अपनों के साथ भी यही नाटकीयता बरतकर मेरे सारे विश्वास को कुचल मेरा वहां मजाक बनाता है। मैं न तो सीढ़ी बनना चाहती रही न कंटक न बोझा! सो हतबुद्धि हो गई, घायल हो गई।''[69] अर्थात् कहा जा सकता है कि बिना रणनीतिपूर्वक संघर्ष व आंदोलन का विपरीत परिणाम है।

भारतीय समाज में स्त्री आंदोलन का यह हर्ष है कि इस आंदोलन में एक तरफ समाज का पारंपरिक संस्कार एवं मान्यताएं चली आ रही हैं तो दूसरी ओर आधुनिकता के नाम पर उनमें एक अलग ही प्रवृत्ति का समावेशन हो रहा है जो एक तरफ उन्हें आधुनिक विचार से बौद्धिक बना रही है तो वहीं दूसरी तरफ आधुनिकता का सतही समझ जीवन के दुःख परिणति की ओर ले रहा है। महादेवी वर्मा ने सही ही लिखा हैं कि ''एक ओर परंपरागत संस्कार ने उसके हृदय में यह भाव भर दिया है कि पुरुष विचार, बुद्धि और शक्ति में उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नहीं रहने देती। इन्हीं दोनों भावनाओं के बीच में उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वों की मांग सामने रखती, परंतु परिस्थितियां इसके अनुकूल नहीं थीं। जो अप्राप्त है उसे पा लेना कठिन नहीं है परंतु जो प्राप्त था उसे खोकर फिर पाना अत्यधिक कठिन है। एक में पानेवाले की योग्यता संभावित रहती है दूसरे में अयोग्यता, इसी से एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नहीं होता जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारों के विषय में भी यही सत्य है।''[70] अर्थात् पुरुष श्रेष्ठता और स्त्री कमतर का जो मूल्य पितृसत्ता के द्वारा तय किया है उसके खिलाफ ही स्त्रियों का आंदोलन है ताकि श्रेष्ठता–हीनताबोध का भाव खत्म हो और स्त्री–पुरुष दोनों समानता को अनुभूत करते हुए, एक दूसरे के सहयोगी बनकर जीवन को जीवनोत्सव में जी सकें।

4.7 पितृसत्ता की पहचान और उसके खिलाफ आंदोलन

स्त्री जीवन के संघर्षों और आंदोलन को समझने के लिए पितृसत्ता की पहचान स्त्री आंदोलन में किन–किन रूपों में किया गया है। उसकी समझ भी जरूरी है। बिना पितृसत्ता को समझे बिना स्त्री आंदोलन और उनके संघर्षों को सही दिशा नहीं दिया जा सकता है और न ही स्त्री मुक्ति आंदोलन का नया स्वरूप दिया जा सकता है। इसलिए ''नारीवादी विमर्श का लगभग पहला काम यही था कि स्त्रियों को अधीन करने वाली जटिल संरचना को पहचाना जाए और उसे एक उचित नाम दिया जाए। इस प्रकार बीसवीं सदी के आठवें दशक के मध्य से नारीवादी विशेषज्ञों ने पितृसत्ता शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करना शुरू किया।''[71] पितृसत्ता एक सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है और वे उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं। पितृसत्ता को एक व्यवस्था के रूप में देखना बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पुरुष और स्त्री के बीच शक्ति एवं हैसियत में असमानता के लिए जैविक निर्धारणवाद 'बॉयोलॉजिकल डिकरमिनिज्म' के मत को खारिज करने में सहायता मिलती है और साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि स्त्री या पुरुष का वर्चस्व कोई व्यक्तिगत घटना नहीं है बल्कि एक व्यापक सरंचना का अंग है।

पितृसत्ता का स्वरूप एक समय में एक जैसा नहीं रहा है। विभिन्न काल और क्षेत्रों में उसका स्वरूप भिन्न रहा है। मिसाल के तौर पर, पितृसत्ता के अनुभव आदिवासी स्त्रियों के मामले में वैसे ही नहीं होते हैं जैसे कि जातिव्यवस्था वाली समाज में होते हैं। इस व्यवस्था का स्वरूप आज वैसा ही नहीं है जैसा कि उन्नीसवीं सदी में था और यह असम और मिजोरम में केरल से भिन्न रूप है। पितृसत्ता को परिभाषित करते हुए उसके विभिन्न पहलुओं पर गौर किया जाना चाहिए ताकि जिससे पितृसत्ता की विचारधारा और उसके विभिन्न संबंधों को समझा जा सकता है। जैसे ''पितृसत्ता तथा वर्ग, जाति, राज्य तथा विचारधारा चाहे धार्मिक हों या धर्मनिरपेक्ष जैसी अन्य संस्थाओं के बीच संबंध को देख सकते हैं। साथ ही इस तथ्य को भी समझ सकते हैं कि पितृसत्ता के निर्माण का इतिहास के साथ गहरा संबंध है और क्योंकि वह स्थिर नहीं रही है बल्कि बदलती रही है इसलिए समानता पर आधारित एक समतामूलक समाज के निर्माण के प्रति प्रतिबद्ध स्त्रियों–पुरुषों के आंदोलनों के द्वारा इसका अंत भी किया जा सकता है।''[72] दूसरी बात यह गौरतलब है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों के जीवन के जिन पहलुओं पर पुरुषों का नियंत्रण रहता है उनमें सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उनकी प्रजनन क्षमता होती है। वह एक संसाधन के रूप में समझी जाती रही है। ''स्त्री की प्रजनन क्षमता को शुरू–शुरू में उस कबीले का संसाधन माना जाता था जिससे वह स्त्री संबद्ध होती थी। बाद में जब अभिजात शासक वर्गों का उदय हुआ तो यह शासक समूह के वंश की संपत्ति बन गई। सघन कृषि के विकास के साथ मानव श्रम का शोषण और स्त्रियों का यौन नियंत्रण एक दूसरे से नजदीकी से जुड़ गए। इस तरह स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण की आवश्यकता पैदा हुई और यह नियंत्रण निजी संपत्ति के उदय और वर्ग आधारित शोषण के विकास के साथ तीव्रतर होता गया।''[73] अर्थात् स्त्री की प्रजनन क्षमता का संसाधन और वंश समूह की संपत्ति बनने की

प्रक्रिया से ही स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण की धारणा बनी और वह स्त्रियों के लिए अभिशाप बनता चला गया। निजी संपत्ति की अवधारणा जैसे–जैसे प्रबल होती गई स्त्रियों की समस्याएं बढ़ती चली गईं। वर्ग समाज की इस जरूरत की पूर्ति के लिए स्त्रियों की यौनिकता को विवाह संबंध के भीतर तक ही सीमित रहने के लिए 'कानूनी एवं नैतिक प्रावधानों' की आवश्यकता होती है। पितृसत्ता मूलरूप से वर्ग और राज्य दोनों से संबंधित है। इतिहास के सबसे प्रारंभिक राज्य भी पितृसत्ता के रूप में ही संगठित थे और पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के प्रति वह काफी सजग थे। गर्डा लर्नर के अनुसार, स्त्री की यौन अधीनता, ''सबसे प्रारंभिक कानूनी व्यवस्थाओं में भी मौजूद थी और उसे राज्य की संपूर्ण शक्ति के साथ कार्यान्वित किया जाता था।''[74] अर्थात् पितृसत्ता के तहत स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के अलावा उसकी पुरुषों के तहत अधीनता से पुरुषों को उसकी उत्पादक या श्रम शक्ति पर नियंत्रण की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की उत्पादकता पर पुरुषों का नियंत्रण रहता है और यह फैसला भी उन्हीं के हाथ में रहता है कि वह घर के बाहर जाकर काम करेंगी या नहीं। स्त्रियों के श्रम पर नियंत्रण का अर्थ है कि पुरुष स्त्रियों के अधीनीकरण से आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं। दोहरे नियंत्रण, यानि स्त्री की यौनिकता और श्रम पर नियंत्रण, के चलते उनकी आने जाने की आजादी बुरी तरह सीमित हो जाती है। इसके लिए ऐसी परंपराओं और रीति रिवाजों का सहारा लिया जाता है जो उसे घर की चाहरदीवारी या अन्य परिभाषित दायरों में बांध देते हैं। नियंत्रणों की पूरी संरचना, स्त्रियों को उत्पादक संसाधनों तक सीधी पहुंच से वंचित रखने और उन्हें पुरुषों पर निर्भर बना देने के जरिए सुगम हो जाती है। इतना ही नहीं, पितृसत्ता को जीवित रखने में पैतृकवाद और पैतृकवादी आधिपत्य की अवधारणा सबसे महत्वपूर्ण रूप से काम करती है। इस संदर्भ में सबसे पहले पैतृकवाद को समझने की जरूरत है। पैतृकवाद का सीधा संबंध प्रभुत्वशाली समूह और अधीनस्थ समूह के बीच का संबंध ही कहा जा सकता है। जब वर्चस्व को परस्पर दायित्वों और एक दूसरे के अधिकारों के माध्यम से मंद 'मिटिगेट' कर दिया जाता है तब जाकर अधीन समूह अपनी अधीनता के बदलने में पितृवत संरक्षण और अवैतनिक श्रम के बदले में भरण पोषण प्राप्त करता है।

इसके लिए यह जानना जरूरी है कि पैतृकवाद कैसे बना रहता है।, तभी जा कर इसके अंत की भी प्रक्रिया शुरू की जा सकती है। इसके लिए पितृसत्ता अपने अधीनस्थ सदस्यों या कहें कि स्त्रियों को बोध व व्यवस्था करती और कराती है कि वही एक मात्र उनका संरक्षक है और जो उनकी जरूरतों की पूर्ति कर सकता है। इसी के साथ पैतृकवाद यह भी करता है कि पुरुष आधिपत्य की व्यवस्था के सबसे कठोर बिंदुओं को नर्म बना देता है वहीं अधीनों की इस क्षमता को भी कमजोर कर देता है कि वह अपनी अधीनता को राजनीतिक रूप में देख सकें। इसके साथ ही यह विचारधारा वर्चस्वशाली व्यक्ति को यह संतुष्टि देने लगती है कि वह अपने से निम्न और कमजोर लोगों के हितों को पितृवत सरंक्षण (न कि वर्चस्व) दे रहा है। इस संदर्भ में यह दिलस्चप बात है कि ''जिन स्त्रियों पर धर्म, माइथोलॉजी और कानून के सांस्कृतिक मॉडलों का पूरा प्रभाव रहता है उन स्त्रियो में पैतृकवाद की विचारधारा बड़ी जल्दी स्थान बना लेती है। अन्य स्थानों की तरह भारत में पैतृकवाद अत्यंत सफल रहा है और स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के विचारकों तथा नीति निर्माताओं ने इसे

पुनर्स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में मामूली सुधार तो हुए लेकिन परिवार और व्यापक समाज में स्त्री–पुरुष के बीच सत्ता संबंधों में कोई बदलाव नहीं आया। पैतृकवाद लिंग आधारित श्रम विभाजन के साथ साथ लिंग पर आधारित सत्ता संबंधों को भी मजबूत करता है क्योंकि यह मूल रूप से इस विचार पर आधारित है कि शारीरिक असमानताओं के कारण स्त्रियों को पुरुषों से भिन्न क्षेत्रों में काम करना चाहिए।''[75] अर्थात् जब स्त्री और पुरुष स्त्रियों की अधीनता की अवस्था को प्राकृतिक मानने लगते हैं और परिणामस्वरूप अधीनता की स्थिति दिखना बंद कर देती है तभी पितृसत्ता की जड़े गहरे पैठ जाती हैं और वह एक वास्तविकता और एक विचारधारा के रूप में स्थापित हो जाती है। पितृसत्ता की व्यवस्था को सदियों से अक्षुण्ण बनाए रखने में स्त्रियों का सहयोग या सहमति लिया गया है। इस सहयोग और सहमति को लेकर बहस हो सकता है लेकिन यह एक सच्चाई है, जिससे इंकार नहीं किया जा सकता है। विचारधारा के तौर पर पितृसत्ता के दो पहलुओं को देखा जा सकता है –एक यह सहमति उत्पन्न करती है कि स्त्रियां पितृसत्ता में बने रहने में सहायता देती हैं क्योंकि वह पुरुष वर्चस्व की विचारधाराओं को आत्मसात करने के माध्यम से उसके प्रति अपनी सहमति प्रदान करती है। इसके कई तरीके हो सकते हैं एक उत्पादक संसाधनों तक पहुंच का न होना और परिवार के पुरुष मुखिया पर आर्थिक निर्भरता। उच्च वर्गों की अनुकरणशील और निर्भर स्त्रियों को मिलने वाले विशेषाधिकार और सम्मान, पुरुष श्रेष्ठता और/या भिन्न कार्यक्षेत्रों की विचारधाराएं, और पितृसत्ताओं की विचारधाराओं और रीति–रिवाजों के विरोध की स्थिति में बल प्रयोग या बल प्रयोग का भय वगैरह। इस प्रकार सहयोग या सहमति एक तरह से उगलवा ली जाती थी, न कि स्वेच्छा से दी जाती थी क्योंकि भौतिक संरचनाओं में स्त्रियों को पराश्रित पात्र के रूप में बाहर निकाल दिया जाता था। इसलिए यह अवश्य समझा जाना चाहिए कि पितृसत्ता महज एक वैचारिक व्यवस्था नहीं है बल्कि उसका एक भौतिक आधार भी है। और दूसरा जो स्त्रियां पितृसत्ता के कायदे कानूनों और तौर तरीकों को अपना सहयोग या सहमति नहीं देती हैं उन्हें पथभ्रष्ट करार दे दिया जाता है और उन्हें उनके पुरुषों के भौतिक संसाधनों के उपभोग से बेदखल किया जा सकता है। इस प्रकार यह दो वर्गों की स्त्रियों में विभाजन का भी काम करता है। इसके साथ यह भी देखा गया है कि पितृसत्ता संभ्रात परिवार की स्त्रियों को पुरुष वर्चस्व के तहत स्त्री और पुरुषों के परस्पर दायित्व इस प्रकार समायोजित करने का काम करती हैं कि स्त्री की यौन, आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक अधीनता के बदले में उन्हें निचले वर्गों के स्त्रियों और पुरुषों का शोषण करने की शक्ति में पुरुषों के साथ हिस्सेदारी मिल जाती है। भारतीय समाज में इस वर्चस्व की शक्ति और उसके संचालन में परस्पर सहमति के समायोजन द्वारा संपूर्ण स्त्री आंदोलन को कभी उभरने नहीं दिया है। जिसके कारण निम्न वर्ग के स्त्रियों की आवाज या उनकी समस्याओं के प्रति संभ्रात वर्ग की स्त्रियां या तो चुप रहती है या उसे आंतरिक समस्या कहकर टाल जाती है जो कि भारतीय पितृसत्ता का सबसे बड़ा हथियार है स्त्रियों के शोषण।

भारतीय समाज में स्त्रियों के शोषण का स्वरूप भी एक सा नहीं है इसका कारण यह है कि स्त्रियां यहां की सामाजिक संरचना के अनुरूप ही पुरुष अधीनस्थता को स्वीकार करती हैं जबकि स्त्रियों की अधीनीकरण की प्रक्रिया सभी जगह लगभग एक समान रही है लेकिन उस अधीनीकरण का स्तर और स्वरूप

उस सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश से निर्धारित हुआ है जिसमें स्त्रियों को रखा जाता रहा है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता नियमों और संस्थाओं का एक ऐसा समूह है जिसमें जाति और जेंडर एक दूसरे से संबंधित हैं और परस्पर एक दूसरे को आकार प्रदान करते हैं और जहां जातियों के बीच की सीमाएं बनाए रखने के लिए स्त्रियों की भूमिका महत्वपूर्ण हैं। इस ढांचे के पितृसत्तात्मक नियम सुनिश्चित करते हैं कि जाति व्यवस्था को बंद सजातीय यौन विवाह संबंधों के जातिक्रम का उल्लंघन किए बिना बनाए रखा जा सकता है। स्त्रियों के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक कानून उनके जातीय समूहों के अनुरूप एक–दूसरे से भिन्न होते हैं, जिसमें स्त्रियों की यौनिकता पर सबसे कठोर नियंत्रण ऊंची जातियों में पाया जाता है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के कायदे कानून अकसर शास्त्रों से लिए जाते हैं, विशेषकर उच्च जातियों को विचारधारात्मक आधार प्रदान करते हैं लेकिन कई बार उन्हें निचली जातियों द्वारा भी आत्मसात कर लिया जाता है, विशेषकर जब वह जाति सामाजिक क्रम में ऊपर उठने की आकांक्षा रखने लगती है। श्रेणीबद्ध असमानता जाति व्यवस्था की विशेषता है ठीक वैसे ही विशिष्टता स्त्रियों को अधीनीकरण करने की श्रेणीबद्ध पितृसत्ता की होती है। पितृसत्ता जाति और जेंडर श्रेणीक्रम को स्थापित करने वाली एक व्यवस्था ही नहीं है बल्कि एक भी विचारधारा है। जिसमें स्त्रियो ने पतिव्रता, पत्नी सुलभ कर्तव्यपरायणता के रूप में आत्मसात कर लिया, जिससे स्त्रियो में पतिव्रतता और कर्तव्यपरायणता की आकांक्षा उत्पन्न होती है। दूसरा शास्त्रों या क्षेत्रीय व्यवहार में उल्लिखित कानून और रीति रिवाज था। और तीसरा स्वयं राज्य था। प्रारंभिक काल में भी और निकट अतीत में भी। इसी के साथ यह भी है कि ''दक्षिण एशिया में पितृसत्तात्मक शक्ति और जातिक्रम को बनाए रखने में स्त्रियों को सहयोगी बनाने के लिए सबसे प्रभावी तरीका परोपकारी पैतृकवाद का रहा है जिसमें 'आज्ञाकारी' स्त्रियों को कुछ विशेष अधिकार और सुविधाएं प्रदान की गईं, उन्हें सुरक्षा और सम्मान का वह स्तर दिया गया जो कई बार पूजा के स्तर तक चला जाता था। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के सांस्कृतिक मॉडलों में, माइथोलॉजी के जरिए स्त्रियों का इस प्रकार समाजीकरण किया गया कि वह अपने सबलीकरण के लिए अपनी शुचिता और कर्तव्यपरायणता में विश्वास करने लगीं। ... पैतृकवाद और स्त्रीत्व के सांस्कृतिक मॉडलों ने अधीनीकरण के विचार को पूरी तरह धुंधला दिया; इस तरह यह काफी आसान हो गया कि स्त्रियों के जीवन को निर्धारित करने वाली पितृसत्तात्मक संरचनाओं में ही स्त्रियों का सहयोग लिया जाने लगा।''[76] अर्थात् पितृसत्ता ने स्त्रियों को अधीनस्थ बनाने के लिए ही आज्ञाकारी, आदर्श, कर्तव्यपरायण, शुचिता, सुरक्षा और सम्मान का दायरा स्थापित किया। और इसमें वे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों से भी सहमति ले लिया। जब तक स्त्रियां इन सबसे मुक्त नहीं होती हैं, वास्तव में स्त्री जीवनोत्सव को वह महसूस नहीं कर सकती हैं। वे ऐसा न करे इसके लिए पितृसत्ता धर्म और ईश्वर के नाम से स्त्री–पुरुष की जैविक भिन्नता को वैधता प्रदान किया। जब नारीवादी राजनीति ने इसे चुनौतियां दी है तो उसका प्रमुख लक्ष्य जैविक निर्धारण के आधार पर होने वाले स्त्री–उत्पीड़न को रोकना। इस संदर्भ में नारीवाद यह मानता है कि ''स्त्री पुरुष की जैविक संरचना और पुरुषत्व व नारीत्व के साथ जोड़कर दिखाए जाने वाले लक्षणों के बीच कोई अनिवार्य सहसंबंध नहीं है।...'लिंग के आधार पर श्रम विभाजन में प्राकृतिक कुछ भी नहीं है। परिवार के भीतर और बाहर स्त्री और पुरुष अलग–अलग तरह के काम करते हैं, इस तथ्य का उनकी जैविक संरचना से कोई

लेना देना नहीं है। केवल गर्भधारण की प्रक्रिया ही प्राकृतिक है जो वास्तविक है।... लिंग के आधार पर श्रम विभाजन वेतनभोगी कामों के 'सार्वजनिक' दायरे तक भी फैला हुआ है, और यहां भी, इसका 'सेक्स' जैविक संरचना से कोई संबंध नहीं है बल्कि यह महज 'जेंडर' संस्कृति' पर आधारित है।''[77] यानी लिंग के आधार पर श्रम विभाजन के पीछे कोई प्राकृतिक या जैविक असमानताएं नहीं है बल्कि इसकी जड़ में कुछ विचारधारात्मक मान्यताएं हैं। यहीं तक नहीं जिसे सामान्यतः स्त्रियों का काम समझा जाता है उसी का जब मशीनीकरण होता है तब उसका प्रशिक्षण पुरुषों को दिया जाता है। और उससे भारी काम औरतों के जिम्मे मढ़ दिया जाता है। इसका मतलब है कि यह श्रम विभाजन प्राकृतिक या जैविक नहीं बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक है। इसी आधार पर स्त्रियों को अधीनस्थ भी किया जाता है। इसलिए नारीवादी आंदोलन कहता है कि ''औरतों की मौजूदा अधीनता, अपरिवर्तनीय जैविक असमानताओं से नहीं पैदा होती हैं बल्कि यह ऐसे सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों, विचारधाराओं और संस्थाओं की देन है जो स्त्रियों की वैचारिक तथा भौतिक अधीनता को सुनिश्चित करती हैं। इसलिए नारीवादी विचारक लिंग भेद आधारित काम, यानी लिंग के आधार पर श्रम विभाजन और उससे भी ज्यादा आधारभूत स्तर पर यौनिकता और प्रजनन के प्रश्न को एक ऐसे विषय के रूप में देखती है जिसे 'जैविक संरचना' जो प्राकृतिक और इसलिए अपरिवर्तनीय मानी जाती है के दायरे से बाहर रखकर देखा जाना चाहिए। नारीवादी एजेंडा इन मुददों को 'राजनीतिक' दायरे में स्थापित करने का है, जो संकेत करता है कि उन्हें बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए।''[78] अर्थात् स्त्रियों की मौजूदा दासता प्राकृतिक नहीं सामाजिक–सांस्कृतिक है, कुछ भी अपरिवर्तनशील नहीं है सब कुछ परिवर्तनशील है और इसे आंदोलन और विचारधारात्मक सभी स्तर पर चिंतन के तहत बदला सकता है। स्त्री जीवन के संघर्षों और आंदोलन को समझने के लिए न केवल पितृसत्ता और उसके तंत्रों को समझना जरूरी है बल्कि 'सेक्स और जेंडर' के संबंधों को भी जानना आवश्यक है। सेक्स शब्द पुरुष और स्त्री के बीच एक जैविक अर्थ की तरफ इशारा करता है जबकि जेंडर का ताल्लुक उसके साथ गुथे सांस्कृतिक अर्थों से है। जैविक बनावट और संस्कृति के अंतर्संबंधों के संदर्भ में यह भी देखने को मिलता है, जैसा कि नारीवादी चिंतकों का मानना है कि ''स्त्रियों के शरीर की बनावट भी सामाजिक बंधनों और सौन्दर्य के मानकों द्वारा निर्धारित की गई है। यानी 'शरीर' का स्वरूप जिस हद तक प्रकृति से निर्धारित हुआ है उतना ही संस्कृति से भी।'...'सेक्स कोई स्थायी, अपरिवर्तनशील आकार नहीं है जिस पर समाज जेंडर का निर्माण करता है, बल्कि सेक्स स्वयं ही कई बाहरी कारकों से प्रभावित होता है– प्रकृति और संस्कृति के बीच कोई साफ और अपरिवर्तनशील रेखा मौजूद नहीं है।''[79] अर्थात् स्त्री–पुरुष दोनों का निर्धारण जैविक उतना नहीं है जितना सामाजिक–सांस्कृतिक। जब इसे नारीवादी चिंतकों ने चुनौतियां दी है तो वस्तुतः वह पितृसत्ता द्वारा निर्धारित असमान स्त्री–पुरुष मूल्यों को चुनौतियां दिया है। साथ ही वह नए मूल्यों का सृजन भी किया है। वह संस्कृति के उन सभी पहलुओं का वह निषेध करता है जो स्त्रियों को पराधीन रखते हों जैसे कि अकर्मव्यता, आत्मत्याग आदि। स्त्री आत्मकथाओं में जब स्त्रियों ने उन संस्कृतियों के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया जिसके कारण स्त्रियों का शोषण होता रहा है या उनके मूल्यों को कमजोर आंका जा रहा था तो वह वस्तुतः पितृसत्ता को ही चुनौती दे रही होती हैं।

पितृसत्ता गर्भपात को भी नियंत्रित करती है और यौन संबंध बनाने के लिए स्त्रियों पर लगातार दबाव बनाए रखती है जिसकी परिणति अंततः गर्भधारण में होती है। पितृसत्तात्मक विचारधारा के तहत मातृत्व ही एकमात्र चीज है जिसमें कोई स्त्री वास्तविक पूर्ति और सम्मान पा सकती है। वे स्त्रियां जो किसी कारणवश संतान पैदा करने में अक्षम होती हैं वे दया की पात्र बन जाती हैं और वे स्त्रियां जो संतान पैदा नहीं करना चाहतीं उन्हें अपरिपक्व, स्वार्थी, अस्वाभाविक और अस्त्रियोचित समझा जाता है। यह पितृसत्ता नहीं तो और क्या? जिसके आधार पर भारतीय समाज में स्त्रियों का लगातार उत्पीड़न, शोषण आदि होता रहता है। इस संदर्भ में एक और दिलचस्प बात गौरतलब है कि पितृसत्ता में किसी युवा स्त्री या लड़की के जीवन का ही मूल्य होता है। जैसे ही उसकी युवापन खत्म, उसका जीवन खत्म। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अनुसार वह उतनी वांछनीय न रह जाती है और फिर वह अदृश्यता की खोह में डूबती जाती है। समाज में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से घटी घटनाएं– बलात्कार या शारीरिक संबंधों द्वारा स्त्रियों पर नियंत्रण भी पितृसत्ता है और वह समूचे स्त्री समाज के लिए एक सबक होता है, जो कि 'मर्दवादी' सोच द्वारा घटित होता है, जबकि वह कानूनन एक अपराध है। इसी का दूसरा पक्ष यह है कि एक स्त्री क्या 'वेश्या' हो सकती है? नहीं, लेकिन पितृसत्ता द्वारा निर्मित सोच, मानसिकता व प्रवृत्ति के कारण एक सामान्य स्त्री 'वेश्या' में परिवर्तित हो जाती है और उस स्त्री के साथ शारीरिक संबंध बनाने वाला पुरुष, उससे मुक्त एक सामान्य पुरुष ही रहता है, क्यों? यही पितृसत्ता है। क्या इसे 'मर्द की यौन इच्छा की स्वाभाविक प्रतिक्रिया' के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। पितृसत्ता इस बात को कभी नहीं स्वीकारती कि वेश्याएं पुरुष द्वारा निर्मित एवं पुरुषों द्वारा प्रताड़ित एक स्त्री है बल्कि उलटा यह समझा जाता है कि 'वह एक कलंकित, कामोन्दादिनी एवं पुरुषों को पथभ्रष्ट करने वाली स्त्री है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री शोषण या उत्पीड़न के इन रूपों को भी उजागर किया है। निश्चय ही यह स्त्री आंदोलन का ही परिणाम है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि स्त्रियों की गुलामी की संस्कृति की शुरूआत वहां से होती है जहां से पितृसत्ता या उसकी संस्कृति का वर्चस्व स्थापित होती है तभी से स्त्रियों का संघर्ष शुरू होता है और सतत चलता हुआ मानवीय संबंधों की भी खोज करता है। स्त्रियों का आंदोलन पितृसत्तात्मक समाज और उसके विविध तंत्रों–सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक आदि के खिलाफ है जो किसी न किसी भी स्त्रियों को उत्पीड़ित करता है, उसे अपने अधीनस्थ बनाकर जीवन जीने के लिए मजबूर करता है। उनके मानवीय मूल्यों–स्त्री जीवन मूल्यों से उन्हें प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से वंचित करता है, उसका शोषण, उत्पीड़न करता है, उसके साथ अन्याय–अत्याचार करता है। यहीं से स्त्री जीवन का संघर्ष शुरू होता है और जब स्त्रियां चेतनशीलता के साथ इसके खिलाफ आवाज उठाता है, चिंतन करता है तब वहीं से उसकी आवाज एक दर्शन और वैचारिकी के साथ आंदोलन में तब्दील हो जाता है, जो स्त्री–पुरुष असानता और अधीनस्थता–गुलामी के विविध रूपों को समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व में परिवर्तित कर एक समतामूलक समाज और राष्ट्र का निर्माण एवं विकास करता है। मानवीय गरिमा, अस्मिता–अस्तित्व और स्त्री–पुरुष संबंधों से जुड़े तमाम संकटों को रेखांकित करता हुआ यह आंदोलन समाज और देश के राष्ट्रीय संकट की ओर संकेत करता है। यदि

समय रहते हुए इन संकटों को दूर नहीं किया जाता है तो निश्चय ही यह समाज के लिए घातक होगा। अगले अध्याय में स्त्री–पुरुष जीवन में आए बदलाव को रेखांकित किया जाएगा। इसे यह भी कह सकते हैं कि समय के साथ स्त्री जीवन का कौन–कौन सा परिदृश्य बदला या बदल रहा है, उसका विश्वलेषण–विवेचन स्त्री आत्मकथाओं के आधार पर किया जाएगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. एलीन मारगन, नारी का अवतरण, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृ. 193
2. वही, पृ.194
3. कमला प्रसाद (सं.) स्त्रीः मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 11
4. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 47
5. सुधा अरोड़ा, चौखट पर स्त्री, पृ. 14
6. सीमोन द बावउर, स्त्री उपेक्षिता पृ. 21
7. वही, पृ. 22
8. वही, पृ. 23
9. वही, पृ. 22
10. वही, पृ. 24
11. वही, पृ. 24
12. वही, पृ. 24–25
13. वही, पृ. 25
14. वही, पृ. 26
15. एलीन मारगन, नारी का अवतरण, पृ. 225
16. गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता, पृ.3
17. स्त्री उपेक्षिता, पृ. 27
18. वही, पृ. 28
19. वही, पृ. 376
20. वही, पृ. 376
21. वही, पृ. 377
22. वही
23. कृष्णा अग्निहोत्री, और...और...औरत, पृ. 27
24. दिनेशनंदिनी डालमिया, मुझे माफ करना, पृ. 75
25. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या , पृ. 267
26. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 100

27. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 176

28. वही

29. मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 114

30. रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ. 24

31. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 43

32. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना,, पृ. 117

33. देहरी भई विदेश, पृ. 203

34. पिंजरे की मैना, पृ. 221

35. कृष्णा अग्निहोत्री, और.. और...औरत, उद्धृत– देहरी भई विदेश, पृ. 82

36. निवेदिता, कहां है स्त्री का सौ साल, चौखट पर स्त्री, (सं.) संजीव चंदन, समय से संवाद–4, अनन्य प्रकाशन, 2015, पृ. 87

37. संजीव चंदन (सं.) चौखट पर स्त्री, समय से संवाद–4, अनन्य प्रकाशन, 2015, पृ. 8

38. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ. 117

39. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 38

40. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 97

41. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या ना कहूं, पृ. 68

42. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ 99

43. सुधा अरोड़ा, चौखट पर स्त्री , पृ. 20

44. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 88

45. डॉ. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेज, पृ. 129

46. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या पृ . 09

47. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या कहूं, पृ. 79

48. आशा आपराद,दर्द जो सहा मैंने, पृ. 73

49. वही, पृ. 75

50. वही, पृ. 86

51. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या ना कहूं, पृ. 84

52. नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, हिदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2013,पृ. 252

53. सुशीला टाकभौर, शिकंजे का दर्द पृ. 38

54. वही, पृ. 38

55. वही, पृ. 38

56. वही, पृ.104

57. वही, पृ. 117

58. वही

59. वही, पृ. 121

60. वही, पृ. 119

61. वही, पृ. 130

62. वही, पृ. 144

63. महादेवी वर्मा, शृखंला की कड़िया, पृ. 24

64. वही, पृ. 31

65. वही, पृ. 32

66. वही, पृ. 105

67. वही, पृ.107

68. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.350

69. वही, पृ. 351

70. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, पृ. 48

71. नारीवादी राजनीतिः संघर्ष और मुद्दे, पृ.1

72. वही, पृ. 2

73. वही

74. वही, पृ. 3

75. वही, पृ. 4

76. वही, पृ. 7

77. वही, पृ. 9

78. वही, पृ. 10

79. वही, पृ. 11–12

पांचवां अध्याय

हिंदी स्त्री आत्मकथा : जीवन का बदलता परिदृश्य

पूर्व अध्याय स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन के संघर्ष और आंदोलन पर आधारित था। इस अध्याय में यह देखा गया कि स्त्री जीवन का संघर्ष और आंदोलन स्त्री जीवन के विविध पहलुओं के विकास के लिए तथा एक समृद्ध समतामूलक सामाजिक व्यवस्था के लिए था। प्रस्तुत अध्याय में स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन के बावजूद स्त्री जीवन में होने वाले बदलाव पर चर्चा की जाएगी। यह बदलाव किन–किन और किस–किस क्षेत्र में हुआ है।

5.1 मुक्ति का सवालः आत्मविश्वास, आत्मनिर्भर एवं आत्मनिर्णय

स्त्रियों की समस्याएं मूलतः जैसा कि पूर्व अध्याय में देखा गया है कि भारतीय समाज की सरंचना में निहित है जिसकी वैधता धर्म, ईश्वर व संस्कृति के माध्यम से है और इन्हीं संदर्भों में स्त्रियों के द्वारा किया गया संघर्ष और आंदोलन का तथ्य उभर कर आया है। स्त्रियों की समस्याओं की जड़ सामाजिक सरंचना में निहित है जिसके निर्माता पुरुष हैं। यही बात सीमोन दी बाउवर कहती है। वे लिखती हैं कि ''वास्तव में गलती पुरुषों की ही बनाई हुई व्यवस्था की है। स्त्री से तो यह समाज यह धर्म, यह न्यायसंहिता बनाते वक्त किसी प्रकार के सलाह नहीं ली।''[1] अर्थात् यदि स्त्रियों के जीवन को नया रूप देना है, उन्हें मावनीय दर्जा प्राप्त करना है। सभी प्रकार के शोषण की समस्याओं से मुक्त होकर समतामूलक समाज का निर्माण करना है तो स्त्रियों को पितृसत्तात्मक व्यवस्था को खत्म कर नई व्यवस्था बनाने की कवायद करना चाहिए। इसी का दूसरा स्वरूप यह भी हो सकता है कि जिस व्यवस्था में स्त्रियों का शोषण हो रहा है या जिसमें स्त्री प्रतिनिधित्व नहीं। उसमें बदलाव की जरूरत है, क्योंकि प्रतिनिधित्व का सवाल बदलाव को नया स्वरूप देता है। स्त्री आंदोलन का नया पड़ाव इस बात में निहित है या यह कहें कि जीवन का बदलता स्वरूप यह है कि स्त्री–पुरुष के बीच समानता, स्वाधीनता और गरिमा के साथ मैत्रीय का चिंतन विकसित हो रहा है। उसे स्त्री–पुरुष के बीच लैंगिक वर्चस्व की सत्ता को खत्म किया जाना चाहिए। स्त्री–पुरुष के बीच के विभाजन को खत्म किया जाना चाहिए। अन्यथा शोषण चक्र किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेगा। इसीलिए नारीवादी चिंतक सीमोन द बाउवर कहती हैं कि ''जैविक भिन्नता के आधार पर स्त्री और पुरुष का दो वर्गों में विभाजन तर्कसंगत नहीं लगता''[2] है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री–पुरुष का यह विभाजन मानवीय नहीं है। यह सत्ता वर्चस्व के लिए किया गया है। इस विभाजन की रेखा को समाप्त किए बिना समाज में स्त्रियों के जीवन में बदलाव तो आएगा लेकिन वह शोषण मुक्त हो जाए, यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिए इस विभाजन की रेखा का समाप्त होना जरूरी है। सृष्टि के निर्माण में स्त्री–पुरुष दोनों की समान भूमिका रही है। जब भी दोनों में असमानता देखी जाती है वह समाज व परिवार विघटन की ओर अग्रसर हो जाता है। स्त्री आत्मकथाओं में

स्त्रियों का अपने जीवन में लिया गया फैसला एक आंदोलन की तरह है जिसमें वह अपनी पुरानी जिंदगी से मुक्ति की आकांक्षा रखती है और वह मुक्त होने में भी सफल होती है। स्त्री आत्मकथात्मक लेखन में स्त्री आंदोलन का स्वर प्रतिरोधी रहा है कि वहां स्त्रियां स्वयं आत्मविश्वास के साथ आत्मनिर्णय लेती है और आत्मनिर्भर होने के बारे में सोचती है, क्योंकि वह जानती है जब तक वह आत्मनिर्भर नहीं होती है तब तक उसका आत्मनिर्णय और आत्मविश्वास दोनों डगमगा सकता है। आशा आपराद, रमणिका गुप्ता, प्रभा खेतान आदि के द्वारा लिया गया निर्णय इसी का उदाहरण है।

आत्मनिर्भर हुए बिना स्त्री जीवन की मुक्ति नहीं है और न ही उसके जीवन में बदलाव ही आ सकता है। आशा आपराद जब तक आत्मनिर्भर नहीं होती है तब तक उनका आत्मनिर्णय कोई ठोस आकार नहीं ले पाता है वही बात प्रभा खेतान के साथ भी है कि जब तक वह आत्मनिर्भर नहीं हो पाती हैं तब तक उसका निर्णय मान्य नहीं होता है। इसके बावजूद पितृसत्ता की क्रूर प्रवृत्ति में यह देखने को मिलती है कि वह प्रभा खेतान के जीवन को सुखद क्षण नहीं दे पाता है। तमाम भौतिक सुख–सुविधाओं के बीच भी वह मातृत्व भाव की सुखद संवेदना के लिए तरस जाती है। इसलिए जब तक स्त्रियां स्वयं आत्मनिर्भर नहीं हो जाती हैं उसे वैवाहिक जीवन का चयन नहीं करना चाहिए। नारीवादी चिंतक सीमोन द बाउवर 'स्त्री उपेक्षिता' में जब यह कहती हैं कि स्त्रियों को परजीवी न होकर अपने पैरों पर खड़ी होनी चाहिए, तो वह स्त्री आत्मनिर्भरता की ही बात करती है। इसलिए वे लिखती हैं कि, ''स्त्री को बाध्य किया जाए कि वह पराजीवी न होकर अपने पैरों पर खड़ी हो, विवाह दो व्यक्तियों के बीच एक स्वतंत्र अनुबंध हो, जिसको स्वेच्छा से तोड़ा जा सके, समाज स्त्री को ऐच्छिक मातृत्व का हक दे ताकि गर्भ निरोध एवं गर्भपात को वैध बनाया जा सके तथा विवाहेतर संतान नाजायज न कहलाए, उनका समानाधिकार हो ताकि बच्चों का भार राज्य संभाले, बिना उन बच्चों को मां की कोख से छीने।''[3] इसका मतलब है कि वैवाहिक जीवन एक सामाजिक अनुबंध है जिसे स्त्री–पुरुष अपनी जिंदगी की सुखद पहलुओं के लिए तैयार किया है। वह तोड़ा भी सकता है और उससे अलग भी हुआ जा सकता है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री संघर्ष और आंदोलन में स्त्रियों ने वैवाहिक जीवन के चयन को चुनौती दी है तो उसका आशय यही रहा है कि वह स्वेच्छा से वैवाहिक जीवन को स्वीकार करें न कि, किसी दवाब में। यहीं से शुरू होता है कि वैवाहिक जीवन में संतान सुख की बात। संतान अर्थात् गर्वधारण करने की इच्छा और सहमति–असहमति का सवाल। रही बात गर्भ निरोध और गर्भपात के साथ समानाधिकार और राज्य द्वारा बच्चों को संभालने की,तो यह बात सभी समाज व राष्ट्र में अलग–अलग रूप में विद्यमान है। सीमाने की बातों से सहमत–असहमत हुआ जा सकता है लेकिन यह सवाल स्त्री जीवन के संदर्भ में विचारणीय है।

किसी भी समाज का विकास एक ऐतिहासिक क्रम में ही हुआ है। यह विकासक्रम प्राकृतिक और मानव निर्मित दोनों हो सकता है। लेकिन सीमोन द बावउर लिखती हैं कि ''मानव समाज में कुछ भी प्राकृतिक नहीं, स्वाभाविक नहीं। हम सब सभ्यता के महान विकास के परिणाम हैं। उन स्थितियों के उत्पाद हैं जो ऐतिहासिक विकास के दौरान आकार ग्रहण करती चली गईं। स्त्री की नियति पुरुषों ने तय की। यह बात भी मौलिक है। यदि स्त्री–नियति के साथ पुरुष का यह हस्तक्षेप न होता तो परिणाम शायद बिल्कुल दूसरा होता।''[4] अर्थात् यह

कहा जा सकता है कि स्त्री की सामाजिक स्थिति का कारक उसकी नियति नहीं बल्कि पुरुष तंत्र या सत्ता द्वारा किया गया नियंत्रण है। आज इस नियंत्रण को हटाने की जरूरत है और लड़का–लड़की सभी को एक समान सम्मान और अधिकार की परवरिश दिया जाए। इसी संदर्भ में सीमोन द बावउर लिखती हैं कि ''लड़की को यदि बिल्कुल बचपन से लड़के के बराबर अधिकार मिलें और समान रूप से बड़ा किया जाए तथा समान भविष्य की आशा दी जाए, तक हम पाएंगे कि बहुत ही मानसिक ग्रंथियों, जैसे 'कैस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स तथा ओडिपास काम्प्लेक्स' के अर्थ ही बदल जाएंगे।''[5] इसका मतलब है कि जब बचपन से लड़का–लड़की की भेदभाव वाली मानसिकता खत्म हो जाए तथा दोनों को समान रूप से एक समान शिक्षा मिले तो निश्चित ही ''वह अपने कार्य जगत में रूचि लेगी और निस्संकोच अपने को अपनी परियोजनाओं में नियोजित करेगी।'' साथी ही दोनों में हीनताबोध की स्थिति पैदा नहीं होगी और लड़का–लड़की दोनों एक–दूसरे के प्रति सम्मान का भाव रखेगा। ''स्त्री और पुरुष के बीच कुछ मौलिक आधारभूत भेद तो रहेंगे ही। उसका कामनात्मक जीवन, उसकी संवेदनशीलता और उसकी सेक्सुअल दुनिया के स्वाद अलग हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि औरत का अपने शरीर और पुरुषों तथा बच्चों से संबंध पुरुषोचित नहीं हो जाएगा, वह फिर भी स्त्रियोचित रहेगा, किंतु उसकी संभावनाएं सीमित नहीं, बल्कि अपरिमित होंगी।''[6] इससे एकता में अनेकता की भावना पैदा होगी जो कि उत्तम समाज और स्वस्थ्य राष्ट्र के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। सभी स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री–पुरुष समानता की बात की गई है, तो इसका यही आशय है कि एक अच्छे राष्ट्र व समाज का निर्माण, न कि किसी प्रकार का विघटन और विनास। स्त्रियों के जीवन के बदलाव का यह पक्ष है कि इससे पितृसात्तात्मक व्यवस्था व समाज का विघटन हो रहा है। यह होना भी समय सापेक्ष है।

स्त्री जीवन में बदलाव से परिवार, समाज और राष्ट्र में परिवर्तन का समीकरण अपने आप तैयार होने लगता है। यदि समाज स्त्री को सत्ता और स्वायत्तता देता है तो एक प्रेमपूर्णक परिवार व समाज को एक नई दिशा देती है जिसमें स्त्री–पुरुष दोनों के विकास का समान भाव रहता है, वहीं पितृसत्तात्मक समाज में ऐसा नहीं के बराबर देखने को मिलता है। स्त्री आत्मकथाओं में ऐसे कई पहलू देखने को मिलता है। मैत्रेय पुष्पा अपनी दोनों बिटियों के साथ एक सफल परिवार का नेतृत्व करती हैं लेकिन समाज ने उसके 'स्त्री अस्तित्व' पर ही सवाल उठा दिया। क्या एक मां, एक पत्नी ऐसा नहीं कर सकती है कि ऐसा करने पर उसे मां, पत्नी से अलग 'रांड़' कहा जाता है। यह तो पितृसत्ता ही है न! यहीं से समाज की दिशा निर्धारित होने लगती है। आधुनिक यांत्रिक संस्कृति और सेक्सुअलिटी से उपजे तनाव, बेचैनी, खुशी और अवसाद आदि में परिवर्तन होगा। मानव अस्तित्व और उसकी गरिमा का स्वरूप उत्कृष्टता की ओर कदम बढ़ाएगा। स्त्री–पुरुष संबंधों में स्वाधीनता की भावना पैदा होगी और उसका पारस्परिक संबंध जिससे वह सदियों से निभाता या कहें कि ढोते आ रहे हैं, वह मुक्त होगा। इस संदर्भ में सीमोन द बाउवर लिखती हैं कि, ''हम स्त्री–पुरुष के बीच घटने वाले संबंध को नहीं नकार रहे। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होगा और वह पुरुष की होकर भी जीएगी। दोनों अपनी–अपनी स्वायत्तता में एक–दूसरे का अनन्य रूप भी देखेंगे। संबंधों की पारस्परिकता और अन्योन्याश्रितता से, चाह, अधिकार, प्रेम और आमोद–प्रमोद के अर्थ समाप्त नहीं हो जाएंगे और नहीं समाप्त होंगे। दो संवेगों के बीच के

शब्द देना, प्राप्त करना, मिलन होना; बल्कि दासत्व जब समाप्त होगा और वह भी आधी मानवता का, तब व्यवस्था का यह सारा ढोंग समाप्त हो जाएगा। स्त्री–पुरुष के बीच का विभेद वास्तव में एक महत्वपूर्ण नई सार्थकता को अभिव्यक्त करेगा।''[7] अर्थात् स्त्रियों का दासत्व खत्म होते ही स्त्री–पुरुष अपने–अपने अस्तित्व के साथ संबंधों में स्वायत्तता में अपने जीवन को देखेंगे। इतना ही नहीं इससे यह भी स्पष्ट होगा कि स्त्री–पुरुष का मानवीय संबंध कितना मानवीय और कितना प्राकृतिक है। ऐसी परिस्थिति और संबंधों में समाज में स्वाधीनता का भाव सहजता से उत्पन्न होगा और स्त्री–पुरुष के बीच प्राकृतिक भिन्नता के साथ समाज का वातावरण सौहार्दपूर्ण होगा।

स्त्री जब सेवा भाव से पुरुष के प्रति जुड़ जाती है तब वह अपनी स्त्री की हैसियत खो देती है। वह स्त्री से एक सेविका बन जाती है। सेविका बनते ही वह अपना सबकुछ अपने मालिक या पति को सौंप देती है। ऐसी स्थिति में स्त्री–पुरुष में स्थापित पारस्परिकता भी खत्म हो जाती है। यही कारण है कि सीमोन द बावउर लिखती हैं कि ''सेवा करना वस्तुतः अपने को किसी स्वामी के हाथ में सौंप देना है। इस तरह के संबंध में पारस्परिकता नहीं रहती।''[8] इससे मुक्त होकर सोचने की जरूरत है। अन्यथा स्त्री मुक्ति का सवाल अधूरा ही रहेगा। स्त्री आत्मकथाओं में यह परिदृश्य अभी पूर्णतः नहीं बदला है लेकिन उसकी शुरूआत अवश्य देखी जा सकती है। जहां स्त्रियां पति की अंध अनुगामिनी बनने से इन्कार करती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री से लेकर आशा आपराद तक सभी स्त्रियां कहीं न कहीं प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सामाजिक व्यवस्था से टकराती हैं। उनका यह टकराना ही प्रतिरोध की संस्कृति है और उनके आत्मनिर्णय का श्रेष्ठ उदाहरण भी। स्त्री लेखन का मुख्य स्वर ही प्रतिरोध की संस्कृति के बीच मानव की श्रेष्ठतम मूल्यों की स्थापना है। इसी बदलाव के लिए वह लगातार संघर्ष भी करती हैं और आंदोलन भी।

स्त्री के जीवन का जो ऊपरी पक्ष सामान्य रूप से दृष्टिगत होता है, वह बहुत ही सरल और सहज लगता है लेकिन जब स्त्री के हृदय की गहराईयों में झांके तो अनेक ऐसी परतें होती हैं जिनका खुलना स्त्री के विविध पक्षों को उजागर करता है। छोटी–छोटी बातें और वस्तुएं स्त्री को मुग्ध कर लेती हैं। फूलों के गुच्छों की गंध उसे मोहित करती है। सजा हुआ होटल और बना हुआ 'केक' उसे प्रसन्न करता है। अपने अवकाश के समय को वह बाहुल्य प्रदान करने में लगाती है। वह हंसी मजाक झलकार, संगीत और नुमाइशी चीजों से स्नेह रखती है। वह आस–पास की सभी वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहती है। सड़क के दृश्य, आकाश की छवि, निमंत्रण पत्र और एक सुनहली शाम उसके सम्मुख सौंदर्य के नए क्षितिज खोलते हैं। पुरुष इन आनंदों में भाग नहीं लेता। इसलिए घर में उसके प्रवेश के साथ किलकिलाते शब्द शांत पड़ जाते हैं। स्त्री मनहूसित ओढ़ लेती है, क्योंकि पुरुष ऐसा ही चाहता है। स्त्री जीवन का यह परिदृश्य बदल रहा है और इसे एक अनिवार्य प्रक्रिया में देखने की जरूरत है। आखिर क्यों ये उपादान, जहां एक ओर स्त्रियों को आकर्षित करता है वहीं दूसरे ओर पुरुष उसे नापसंद करता है।

स्त्री आत्मकथाओं के विविध पक्षों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि भले ही भारतीय समाज 21वीं सदी में आ गया है लेकिन स्त्री शोषण के मामले में वह अभी मध्यकालीन भारत में ही है। स्त्रियों के शारीरिक शोषण का स्वरूप जरूर बदल गया है लेकिन शोषणचक्र थमा नहीं। कृष्णा अग्निहोत्री, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता आदि लेखिकाओं ने स्त्री के शारीरिक शोषण के विविध रंगों को उकेरा है। आदिकाल से लेकर भूमंडलीकरण की दौर में कैसे स्त्रियों का शारीरिक शोषण होता है। इसकी कई झलकियां इन आत्मकथाओं में देखी जा सकती हैं। 'अन्या से अनन्या', हादसे, आपहुदरी' लगता नहीं है दिल मेरा आदि आत्मकथाओं स्त्री के शारीरिक शोषण का स्वरूप बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक की अबोधता में कैसी होती रही है। उसके सभी मनोविकार को उजागर किया गया है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' में स्त्रियों के शारीरिक शोषण चित्रण है जिसमें उसके अपने और पराये दोनों शामिल हैं। सामान्य परिवार की लड़की की शादी माता–पिता की मर्जी से एक अफसर से होती है लेकिन फिर टूट जाती है और दूसरी शादी के परिणाम भी निराशाजनक ही है। यह आत्मकथा एक ऐसी स्त्री के जीवन की दास्तान है जो हर पल खुशी ढूंढने के प्रयास में निराश और हताश होती है। उन्हीं के शब्दों में, ''भावनाओं पर तो प्रतिबंध हो ही नहीं सकता। शरीर पर ही संयम लादा जा सकता है। मैं भी अनिच्छा ही से संयम का भार ढो रही थी, इसलिए इनके उलटे सीधे आरोप मुझे कभी–कभी तो इतना बौखला देते कि मन करता, कैसे भी भागकर किसी भी चाहने वाले की बाहों में ठहर शांति, सुख के कुछ क्षण ही जी लूं, लेकिन परिवार समाज, माता–पिता, संतान के अपने घेरे में भी तो कुछ कम द्वंद्व नहीं होते इसलिए मैं कछुए की भांति अपनी भीतरी तड़प को सिकोड़ती ही गई।''[9] यानी कुछए की भांति तड़प की सिकोड़न ही उसके जीवन की त्रासदी रही है जिसकी सूरत अब बदलने लगी है।

प्रभा खेतान और डॉ. सर्राफ के प्रेम संबंध में निश्चय ही प्रभा का आत्मनिर्णय अडिग है। यही कारण है कि डॉ. सर्राफ भी अंततः आत्मसमर्पण करता है लेकिन यह अन्य बात है कि डॉ. सर्राफ की पितृसत्तात्मक सोच जब हावी होता है तो वह अपने निर्णय पर अडिग नहीं रह पाते हैं। प्रेम पर आजीवन मर मिटने वाली एक ऐसी स्त्री जो आत्मनिर्भर होते हुए भी भावनात्मक स्तर पर अपने प्रेम के प्रति बहुत ही कोमल है। ''मैंने उन्हें अपनी बांहों में खींच लिया था, इससे पहले वे कुछ कहें मैं उन्हें पागलों की तरह चूम रही थी। वे रो पड़े थे, मेरी बांहों में। अपने दुपट्टे से उनके आंसू पोंछते हुए कह रही थी ''छि रोते नहीं।'' सांत्वना के मेरे शब्द उनके आंसुओं के साथ पिघल रहे थे। ''चुप हो जाइए आपको मेरी कसम, कहा न चुप हो जाइए, हम दोनों एक–दूसरे के हो चुके हैं।''[10] अर्थात् स्त्री–पुरुष संबंध संवेदनाओं का मिलन है। संवेदना खत्म होते ही संबंध मोती की तरह बिखर कर अलग हो जाता है। यही स्त्री जीवन की विडम्बना है कि पुरुष जब थोड़ा भावुक होता है कि स्त्रियां दिलोदिमाग से भावुकता की धार में बहने लगती हैं और अपना सब कुछ भूल जाती हैं वहीं एक पुरुष हमेशा भावनाओं की जगह बुद्धि से काम लेता है।

आत्मनिर्भरता के लिए शिक्षा जरूरी है। अज्ञानता के बिना आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय का सवाल ही नहीं उठता है। 'कस्तूरी कुंडल बसै' एक बेटी द्वारा अपनी माँ के संघर्षों की दास्तान है। 'गुड़िया भीतर गुडिया'

में मैत्रेयी जी ने स्त्री जीवन से संबंधित कई सवालों से रूबरू करवाया है। 'कस्तूरी कुंडल बसै' में वे लिखती हैं लिवउओं के हाथ माताजी ने एक चिट्ठी भेजी थी, छोटा देवर चिट्ठी लेकर आया। मैत्रेयी ने पढ़ी तो माँ के लिए मुंह से गाली निकली सारे किए कराए पर पानी फेरने वाली माताजी यहाँ भी कूद पड़ी। लिखा है जेवर मत लाना, उनकी रखवाली कौन करेगा? चांदी–सोने के छल्लाचेन अनपढ़ औरतों के लालच होते हैं, जो उसे ही पूंजी समझती हैं। तू पढ़ी लिखी है, सनदर सर्टीफिकेटों की मालकिन, विद्या का खजाना तेरे हाथ है।[11] अर्थात् आजीवन दुख की थपेड़ों से लड़ती कस्तूरी चंद रूपयों के लिए बिकी, बेची गई कस्तूरी की नजर में शिक्षा ही सब कुछ है इसलिए सोना–चांदी जैसी वस्तुएं उसकी नजर में कुछ भी नहीं हैं और शिक्षा से प्राप्त सर्टिफिकेट ही खजाना है और उसी खजाने को धरोहर के रूप में एक मां (कस्तूरी) अपनी बेटी को संभालने के लिए कहती हैं। जिस दिन से स्त्रियां शिक्षा को ही अपने संपूर्ण जीवन की कीमती धरोहर खजाना के रूप में ग्रहण कर लेंगी, उस दिन से निश्चय ही समाज में सकारात्मक सोच के साथ बदलाव शुरू हो जाएगा। वहीं 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा स्त्री मुक्ति की राह कुछ यूं दिखाती हैं कि, ''भारतीय स्त्री को न आर्थिक आत्मनिर्भरता सुखी कर सकती है न चेतना संपन्नता उसकी सहायक हो सकती है। बस, उसे पारम्परिक कर्मकांड, सुखी और सुरक्षित रहने की गारंटी देते हैं।''[12] अर्थात् मैत्रेयी यहां आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन के बरक्स पारंपरिक सोच की रेखा खींचती नजर आ रही हैं। जिसमें कर्मकांड को स्त्रियों को सुख और सुरक्षित होने की गौरंटी देने की बात करती हैं तो वह 'टिपिकल' भारतीय पितृसत्ता की सरंचना को बता रही होती हैं जिसके विरूद्ध जाकर स्त्रियां न तो सुखी रह सकती हैं और न ही सुरक्षित रह सकती हैं वहीं जब वह स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता और चेतना संपन्नता की बात करती हैं तो वह आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन को स्थापित कर रही होती हैं। ऐसी स्थिति में पितृसत्ता अपने अनुकूल जिसे देखती है उसे ही प्रश्रय देती है। वह कभी नहीं चाहती है कि स्त्रियां उसे चुनौतियां दें और उसकी सत्ता खत्म हो जाएं। यही स्त्री जीवन का बदलता परिदृश्य है जिसमें एक तरफ 21वीं सदी का आधुनिक विज्ञान है तो दूसरी तरफ ठेठ भारतीय कर्मकांडीय जीवन का स्वरूप।

इसी का दूसरा रूप रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' में दिखाई देती है। जब रमणिका गुप्ता की तलाक हो जाती है और एक सज्जन यह सुनकर हितैषी अंदाज में सवाल करता है कि ''सुना है आपके पति ने आपको तलाक दे दिया है।'' और वह मुस्कुराती हुई उसी लहजे में बोली ''जी हाँ! उन्होंने तलाक देते वक्त आप ही से शादी करने की राय दी थी, क्या आप तैयार हैं?''[13] निश्चय ही रमणिका गुप्ता का यह स्वर व तेवर एक आत्मनिर्भर और आत्मनिर्णयी स्त्री की चेतना है जो अपनी जिंदगी की रूपरेखा स्वयं रचती है। दूसरा यह कि यह व्यंग्यात्मक शैली में पितृसत्तात्मक मानसिकता का विरोध भी है। विरोध की यह शैली मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' में भी देखी जा सकती है जब मन्नू राजेन्द्र यादव बच्चों को छोड़कर उषा से मिलने जाता है और मन्नू भंडारी यह कहती हैं कि 'ये इंसान भी है?'[14] निश्चय ही यह स्त्री जीवन का वह बदलता हुआ परिदृश्य है जिसमें स्त्रियां आत्मनिर्णय लेती हैं, आत्मविश्वास के साथ आत्मनिर्भर होकर जीवन जीने की बात करती हैं।

स्त्री आत्मकथाओं में जीवन का जो बदलता हुआ स्वरूप देखने को मिलती है। इसकी पृष्ठभूमि को भी समझने की जरूरत है। पढ़ी–लिखी, आत्मनिर्भर या फिर आर्थिक रूप से संपन्न है। आर्थिक रूप से समृद्ध परिवार की इन बेटियों का पालन–पोषण कैसे हुआ, परिवार में इन्हें कितना, सम्मान मिला, ये संयुक्त परिवार में पैदा हुई या एकल परिवार में, यहां तक कि कितने बहन–भाई थे और इनके माता–पिता का क्या व्यवसाय था वैयक्तिक स्थिति का सही अध्ययन हम तभी कर पाएंगे जब पहले इन महिला आत्मकथाकारों की पृष्ठभूमि को समझगें इनका बचपन कैसे बिता, पढ़ाई कहां से की कितनी की, क्यों की और शादी कैसे परिवार में हुई, किस प्रकार से हुई, शादी के बाद पति और परिवार के साथ कैसा व्यवहार रहा, किस रिश्ते को कैसे निभाया, कितनी समस्याएं आईं; उन समस्याओं से कैसे निपटी, इनकी व्यक्तिगत कमियां क्या थीं, रूढ़ियां क्या थीं, इन्होंने कितना संघर्ष किया, इस सबके दौरान इनका व्यवहार कैसा रहा ये सब हम वैयक्तिक स्थिति में ही जान सकते हैं। इनके व्यक्तिगत मूल्य क्या है, अपने कर्तव्यों को कैसे निभाया है, कौन–कौन से विशिष्ट अनुभव रहे हैं और अपनी आत्मकथा लिखकर समाज की क्या प्रदान कर रही है।

दिनेशनंदिनी डालमिया जब गर्भ से मुक्ति का अनुभव करती हैं तो निश्चय ही वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था की दवाब से मुक्ति को अहसास करती है। वे लिखती हैं कि "गर्भ के नष्ट हो जाने पर मुझे सचमुच मुक्ति मिल जाने का अनुभव हुआ थ। मैं अंदर से प्रसन्न थी, किंतु ऊपर से लोगों को अफसोस करते देख मेरा मन भी भारी हो चला था। मेरी माँ तो सूचना मिलते ही आ गयी थीं और उनका जो रोना देखा, मुझमें एक अजीब सी हलचल हुई। जो माँ बड़ी से बड़ी घटना पी और पचा सकती थीं, उनके समस्त शरीर का तरल बन जाना मेरे लिए आश्चर्य था।"[15] निश्चय ही यहां यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार एक स्त्री जो अपने गर्भ के नष्ट हो जाने से अपने आप को मुक्त महसूस करती है वहीं पितृसत्तात्मकता की दीवार में 'फिट' स्त्रियां इसके विपरीत अपने आप को पाती हैं और वह इसके लिए दिनेशनंदिनी डालमिया को ही दोषी ठहराती है। दरअसल यह उसकी कमी नहीं है। यह उसकी अज्ञानता है। जिसे वह आज तक ढोती आ रही है और पितृसत्तात्मक समाज यही पसंद करती है।

पितृसत्ता ने स्त्रियों के मानस को अपनी दरोदिवार में इस कदर कैद कर रखी है कि उसके अभाव में स्वयं स्त्रियां कई बार अपने आप को शून्य में पाती हैं। ऐसी कथा कुसुम अंसल अपनी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' में लिखती हैं। वे लिखती हैं कि, "मैं भी भूमिकाएँ निभाने में व्यस्त रहने लगी परन्तु कुछ या आत्मा या शरीर का पता नहीं कौन–सा क्षेत्र या क्षेत्र – जिसने मुझे मात्र भूमिकाएँ निभाते हुए चैन से जीने नहीं दिया। कुछ था जो कचोटता रहा। जब एक बार ऐसा अनुभव हो जाता है कि हम अपने आपमें पर्याप्त नहीं है तो फिर कुछ भी आकर्षित नहीं करता, सारा का सारा संसार जैसे अर्थहीन हो जाता है, सारे दुख कांटों में बदल जाते हैं, एक बड़ा सा शून्य जीवन के आस–पास फैल जाता है पता नहीं क्या है जो हर कदम पर 'हन्ट' करता रहता है ?...तलाशना है तो अपने 'स्व' में ही सुख को तलाशने क प्रयास करो।' मैं आश्वस्त होकर पुनः उस सत्य की तलाश में जुट जाती, उस सत्य को जो मेरी अपनी अस्मिता का है, मेरे होने का है, पूर्ण हो पाने का है... अपने अंतस् को पहचान लेने का है।''[16] अर्थात् कुसुम अंसल का यह वाक्य निश्चय ही स्त्रियों के जीवन के परिदृश्य

को बदलने के लिए प्रेरणादायक है क्योंकि स्त्रियों को कभी भी अपने अंदर हीनताबोध की ग्रंथी नहीं पनपने देना चाहिए, कि वह पूर्ण नहीं हैं। ऐसी नकरात्मक सोच ही जीवन के प्रति स्त्रियों को शून्य में ला देती है। इसके बदले उसे स्वयं की 'स्व' की खोज करनी चाहिए। अपनी अस्मिता का ज्ञान, स्त्री होने का ज्ञान, अपने वजूद के होने का ज्ञान, अपनी पहचान का बोध आदि ही सही मायने में स्त्री को सुख–आनंद की प्राप्ति का साधन हो सकता है।

पितृसत्तात्मक समाज की एक खास स्त्री विरोधी मानसिकता है कि वह जब किसी स्त्री से अपनी आज्ञा का पालन नहीं करवा सकता है तो वह उसकी जिंदगी को बर्बाद करने का कोई भी मौका नहीं छोड़ता है। वर्तमान में स्त्रियों के ऊपर हो रहे एसिड अटैक या अन्य किसी भी प्रकार से उसे प्रताड़ित करने की सोच से होने वाली घटनाओं की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है तो इसका कारण है कि 21वीं सदी के इस दौर में पितृसत्ता को धर्म और सत्ता–प्रशासन से खुली छूट मिल रही है। जिसके कारण ऐसी स्त्री विरोधी घटनाओं में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। अखबार का पन्ना स्त्रियों के उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार से रंग गया है। स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से हो रही इस स्त्री विरोधी बारदातों की भी शिनाख्त की गई है। कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा ' और...और... औरत' में लिखती है कि "जोग साहब ने मुझे त्यागकर एक अश्लील जीवन जीना प्रारंभ कर मुझे पूरी तरह शून्य में ला पटका था। मैं इस खालीपन को भी सहजता से सह लेती। बात उन्होंने इतनी बढ़ा ली कि कभी चेहरे पर एसिड फेंकने की बात करते तो कभी चौराहे पर बेइज्जत करने की धौंस देते। अब तो हद हो गई कि मेहमान जैसे भी मैं उनके घर नहीं जा सकती थी, मेरी जान को खतरा था।''[17] निश्चय ही यह घटना जिस तरह से आज बढ़ रही है उससे स्त्री के जीवन में कोई बदलाव या उसका कोई बदलता हुआ स्वरूप नहीं नजर आ रहा है बल्कि यह ही कहा जा सकता है कि पितृसत्ता ने अपना पांव और ही जमा लिया है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्त्री मुक्ति की धार को एक संकेत में पदमा सचदेव अपनी आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' में लिखती हैं कि "बंधन से मुक्त होना, कभी भी आसान नहीं होता। असल में थोड़ी देर बाद बंधन के कांटे जिस्म में धंस जाते हैं। फिर मुक्त होने पर भी कांटे निकलते नहीं।"[18] अर्थात् स्त्री संघर्ष के पथ पर यदि अग्रसर होती है तो उसका मंजिल तो उसे मिल सकता है लेकिन मुक्ति की प्रक्रिया निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बहुविध है। इसमें कर्मकांड, धर्म–संस्कृति की रूढ़ियां, अंधविश्वास आदि से लेकर आधुनिक भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री को आकर्षित करने वाली 'मृगमरीचिका' तक से मुक्ति की सतत चलने वाली क्रिया है। मन्नू भंडारी स्त्रियों के जीवन में आने वाली कर्मकांडीय जीवन जो पितृसत्ता का दूसरा रूप है उसकी संस्कृति का अंत इस प्रकार से करती हुई लिखती है कि "आज से क़रीब अड़सठ साल पहले बिना घूँघट–पर्दे के गई बहिन की शादी काफी क्रांतिकारी कदम था। लड़कियों को लड़कों की तरह पढ़ाना...बाल विवाह और अन्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध...आडम्बरों और ढकोसलों छुट्टी; बचपन से यहीं सब देखा हमने।"[19] निश्चय ही मन्नू भंडारी का सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना उनके सामाजिक–पारिवारिक परिवेश की देन है। वे न केवल पारंपरिक सामाजिक रूढ़ियों, जड़वादी परंपराओं आदि का विरोध करती है बल्कि घर, परिवार, के साथ–साथ

अपनी आर्थिक स्थिति को संभालती है। जीवन की भावनात्मक घटनाओं को भी जीति जागती हुई आगे बढ़ती हैं, तो इसका कारण उनका आत्मनिर्णय, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास ही है। इसी के साथ यह भी विचारणीय है जैसा कि वह कहती है कि "मैं जानती हूं कि आज क्रांति का परचम लहराती स्त्री–विमर्श में स्त्रियां जरूर मुझे धिक्कारेगी–भर्त्सना करेगी मेरी, कि इतना सब होने के बाद, अलग रहते हुए भी फिर जाकर जुड़ने की जरूरत क्या थी? उस जुड़ाव का रूप चाहे जो हो, जैसा भी हो, है तो जुड़ाव ही।[20] मन्नू भंडारी का यह कथन निश्चय ही जिस भी परिस्थिति में है, वह सामाजिक निर्माण का निर्णय है। जीवन के निर्णय में खट्टे–मिट्ठे अनुभव, उतार–चढ़ाव आता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि परिवार को त्याग कर, और उससे अलग जीवन का फैसला कर लिया जाए। एक स्वस्थ्य परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है।

स्त्री आत्मकथओं का एक विशिष्ट पहलू यह है कि सभी आत्मकथाओं में शिक्षा पर बहुत बल दिया गया है। जीवन और समाज में बलाव के लिए शिक्षा को अहम और अनिवार्य सामाजिक तत्व के रूप में रेखांकन है। गांव हो या शहर, लड़का हो या लड़की आदर्श व्यक्ति के साथ–साथ आदर्श समाज के निर्माण के लिए अच्छी शिक्षा का होना जरूरी है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि बिनु ज्ञान विकास न होत। आशा आपराद और सुशीला टाकभौर के परिवार उनके उच्च शिक्षा के खिलाफ जरूर दिखाई देता है लेकिन अन्य परिवार में इसके लिए एक उत्प्रेरणा का माहौल है। लेकिन एक सच्चाई जो सभी भारतीय परिवार में दिखाई पड़ता है कि लड़कियों की शादी का सवाल सबसे पहले और महत्वपूर्ण रहा है। आशा अपराद और प्रभा खेतान की तरह सभी स्त्री आत्मकथाकार बालपन में उपेक्षित नहीं है, बल्कि अन्य सभी आत्मकथाकारों को एक भिन्न पारिवारिक माहौल मिला हुआ है। मैत्रेयी की मां अपनी बेटी की शिक्षा के प्रति सजग हैं ताकि वे अपनी जिंदगी को संवार सकती है। सामान्य तौर भारतीय स्त्रियां अपनी छोटी सी छोटी ख्वाइश के लिए अपनी तकदीर को कोसती रहती हैं। स्त्री आत्मकथाकारों की पूर्व की पीढ़ी में यह बात होती रही है लेकिन स्त्री आत्मकथाकारों ने अपनी तकदीर को स्वयं ही बदलने की कोशिश की है। इसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था की नियतिवाद का सबसे बड़ा विरोध कहा जा सकता है। मैत्रेयी पुष्पा की मां उन्हें पढ़ा–लिखाकर नौकरी करवाना चाहती थी लेकिन मैत्रेयी पुष्पा स्वयं एक आदर्श भारतीय स्त्री के रूप में जीवन जीना चाहती थी। यह भारतीय समाज का यथार्थ है। इस समाज में लड़कियां आदर्श पति–पत्नी के रूप में जीना ज्यादा पसंद करती हैं। पढ़ाई–नौकरी की जगह वह पढ़ाई–विवाह को ज्यादा महत्व देती है बनस्पत आर्थिक तौर पर संबल होने के। मैत्रेयी की मां जब कहती है कि ''देखो, हम अपनी तकदीर बदल तो नहीं पाते, संवार तो सकते हैं। ताजिन्दगी पिछली यादों और दुर्भाग्यों को रोते–पीटते रहें तो आगे क्या बनेगा ?''[21] निश्चय ही यह एक मां की चेतनशीलता है जो अपनी बेटी को इस रूप में पैगाम देती है। आर्थिक सबलता की ओर ध्यान दिलाती है। वर्तमान परिदृश्य में स्त्रियों को अपनी जिंदगी में बदलाव के लिए शिक्षा और आर्थिक सबलता की ओर ध्यान देना अनिवार्य पहलू के तौर पर देखा जाना चाहिए। अन्यथा पितृसत्ता की नियतिवाद, भाग्यवाद आदि का रोना तो उसे जीवन भर रोना पड़ सकता है। पश्चाताप से अच्छा है कि अपनी शिक्षा और कौशल के बदौलत अपनी जिंदगी को सवारा जाए। जीवन के विविध परिस्थितियों के बीच जीवन के दुःख–सुख के पहलुओं को देखती हुई मैत्रेयी भी अपनी जिंदगी के बारे में पश्चाताप करती है। यही

बात आशा आपराद करती है और अंत में अपनी जिंदगी को सवारती है। मैत्रेयी लिखती है कि ''मैंने विवाह क्यों किया था ? क्या हो गया था मुझे ? मेरी माताजी ने विवाह के लिए नहीं पढ़ाई थी ? कि पढ़ी –लिखी लड़की को योग्य वर मिलने की संभावनाएं समाज के फलक पर छाई हुई थी ? मैंने क्यों पी.सी.एस. नहीं बनना चाहा ? आत्मनिर्भर होने के आर्थिक आधार की ओर से क्यों निगाहें फेर ली ? जब कैरियर बनाने का समय था, विवाह को आगे क्यों रख लिया?''[22] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि मैत्रेयी पुष्पा का वैयक्तिक जीवन एक सामान्य लड़की के लिए मिशाल हो सकता है, जो अपने ही फैसले पर पुनःविचार करती है। विवाह की बजाय आत्मनिर्भरता को प्राथमिक देती है। वर्तमान में स्त्री जीवन का यह परिदृश्य इसी रूप में बदल रहा है जहां 'ठेठ' भारतीय लड़की भी आत्मनिर्भरता की बात सोचती है। आत्मनिर्णय लेने की बात करती हैं। आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय की कड़ी है आत्मविश्वास। यही आत्मविश्वास जीवन को खुबसूरत बनाता है। आत्मविश्वास की वजह से ही प्रभा खेतान, आशा आपराद, रमणिका गुप्ता, सुशीला टाकभौर आदि ने अपनी आत्मनिर्भरता की बुलंदी पर पहुंच कर भारतीय समाज की स्त्रियों की जिंदगी को बदलने के लिए बेहतर पैगाम देती है। तमाम सामाजिक रूढ़ियों, जड़ताओं, मान्यताओं और परंपराओं को तोड़ती हुई ये स्त्रियां अपने जीवन को अपनी शर्तों पर जीती हैं और पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं व उसके तंत्रों को चुनौतियां देती हैं।

सामाजिक वंचना, वर्जना, उपेक्षा आदि विद्रोह और विरोध की संस्कृति को जन्म देती है। जब विरोध की भावना जन्म लेती है तो वह सामाजिक जड़ता, रूढ़िवादिता, कर्मकांडों आदि की परंपराओं को तोड़ती ही है साथ ही वैज्ञानिकता, और प्रतिद्वंद्वदिता आदि को भी जन्म देती है। प्रभा खेतान सामाजिक वंचना और पारिवारिक उपेक्षाओं के कारण एक नई व्यवस्था को स्वीकार करती है, व्यवसाय के क्षेत्र में स्त्री का प्रतिनिधित्व करती हुई उस परंपरा को शुरू करती है जो कभी स्त्रियों के लिए वर्जित थी तो वहीं आशा आपराद पारिवारिक उपेक्षाओं के कारण एक आदर्श शिक्षिका को स्थापित करती है वहीं रमणिका गुप्ता राजनीतिक में स्त्री प्रतिनिधित्व का स्थापित करती हैं। सुशीला टाकभौर अपने समुदाय को नई परंपरा देती हैं। निश्चय ही यह स्त्री जीवन का बदलाव है। जिसे समझने की जरूरत है और उसे स्वीकार करने की भी। लेकिन इस सबके बीच एक बात जो नहीं बदल रही है वह है– लड़किया 'बोझ' होती है और उसके प्रति पितृसत्तात्मक मानसिकता की हिंसा। प्रभा खेतान की मां, आशा आपराद की मां और रमणिक गुप्ता की भाभी की यह मानसिकता कि लड़कियों का विवाह हो जाए, 'हमारे सिर का बोझ भी उतर जाएगा', तथा चंद्रकिरण सौनरेक्सा, ' मैं 'बोझ' तो थी ही – बीस–इक्कीस साल की; ऊपर से माँ–बाप नहीं थे, सो हर वक्त नाक कटने का डर;[23]' आज भी बनी हुई है। वहीं स्त्रियों के प्रति बढ़ रही हिंसा के विषय में कहा जाता है कि यह पितृसत्ता की बढ़ती चुनौतियां और धर्म–ईश्वर के द्वारा बनाई गई पितृसत्ता के संकट की प्रतिक्रिया है जो आधुनिकता, वैज्ञानिकता और संविधान के बरक्स पैदा हुई है।[24] इसी बात को रमणिका गुप्ता अपनी आत्मकथा 'हादसे' में लिखती हैं कि '' मैं जिस पुरुष वर्ग की बात कर रही हूं वह नेतृत्व में होड़ लगाने वाला या साथी सहयोगी – वर्ग होता है, जिन्हें कभी–कभी तो स्वयं औरत ही सहारा देकर ऊपर उठाने या उसके व्यक्तित्व के विकास में मददगार होती है। अगर इस वर्ग के मन की बात नहीं चलती तो वह मौका पाकर डंसता है, भस्मासुर की भूमिका अदा करता है और औरत के

खिलाफ चरित्र हनन का हथियार अपनाता है।''[25] अर्थात् स्त्री के खिलाफ चरित्र हनन का मामला, एसिट अटैक, बलात्कार आदि की घटनाओं के पीछे पितृसत्तात्मकता–धार्मिकता की मानसिकता ही काम करती है। आधुनिकता और वैज्ञानिकता के इस युग में इस सबका अंत जरूरी था लेकिन एनसीआरबी की क्राइम इन इंडिया के मुताबिक जिस तरह से 2010 से लेकर 2016 तक आते–आते स्त्रियों के प्रति बलात्कार की घटनाओं में 33 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। 'क्या ऐसा भारत के सामंती अतीत के वैचारिक महिमामंडन की वजह से हो रहा है, जिसमें औरतों को मर्दों के लिए महज एक यौन वस्तु समझा जाता है?..गर्भ में ही बच्चियों को मार देने की घटनाएं हिंदुओं में सबसे ज्यादा है।'[26] अर्थात् स्त्रियों के प्रति हो रही विविध प्रकार की हिंसा की बढ़ोतरी की समस्याओं पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है। क्या बढ़ती हिंसा संवादहीनता, अविश्वसनीयता, प्रतिद्वंद्वदिता, समानता, भागीदारी आदि का सवाल नहीं है?

आज आर्थिक निर्भरता और आत्मनिर्णय की स्थिति से स्त्री–पुरुष संबंधों में तेजी से बदलाव आया है। चंद्रकिरण सौनरेक्सा अपने पति–पत्नी के संबंधों में उत्पन्न अविश्वास को इस प्रकार व्यक्त करती हैं कि, 'तीन वर्षों में भी, मैं, आपका विश्वास अर्जित नहीं कर सकी, तो पूरा जीवन आपके साथ अवश्विास के घरे में रह कर, बिताना मेरे लिए असंभव है।''[27] अर्थात् अविश्वास की स्थिति में मानवीय संबंधों के मूल्यों का टूटना असंभव नहीं। ऐसी हालात में घर–परिवार की जिम्मेदारी को संभालना आसान नहीं। यह जो पारिवारिक व मानवीय मूल्यों का टूटन हो रहा है। इस विषय पर गंभीरता से विचार करने के लिए, चिंतन करने के लिए स्त्री आत्मकथाएं आमंत्रित करती हैं। इसके बावजूद चंद्रकिरण सौनरेक्सा लिखती हैं कि "मैंने जीवन को आधे भरे गिलास की तरह, हमेशा सकारात्मक दृष्टि से देखा है। मेरी साधना, तपस्या चाहे एक साहित्यकार के रूप में, मेरी अपनी वजहों से, यश के कगार तक न पहुँची हो, पर एक माँ के रूप में फलीभूत हुई है।''[28] अर्थात् एक स्त्री अपने अतीत और भविष्य के बीच हमेशा संतुलन की स्थिति में होती है। उनका जीवन साथी साथ दे या न दे वह हमेशा एक साकरात्मक दिशा ली है अपने परिवार, अपने बच्चों के लिए। यही स्त्री जीवन का भविष्य भी है चाहे उसका अतीत कितना भी कष्टकारी या दुखदायी क्यों न हो? वह भविष्य की स्त्री भी बनती है चाहे वह समाज में कितना भी उपेक्षित क्यों न हो। मानवीय मूल्यों से वंचित क्यों न हो। यदि स्त्री दलित समाज की है तो उनका संघर्ष और भी दुगुना हो जाता है। सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा इसी का उदाहरण है। वे लिखती हैं कि, '' हम सम्मानित समाज से अलग काटे–छांटे हुए लोग थे। हमें लोग उपेक्षा, तिरस्कार और घृणा की नजर से देखते थे। हमारे लोग अपनी ही दुनिया में खुश रहते, जैसे उन्हें भी किसी की परवाह नहीं। अपनी जीवन को पूर्वजों से विरासत में मिली जिंदगी मानकर वे जी रहे थे।''[29] आज इस स्थिति में बदलाव आया है दलित समाज की स्त्रियां पढ़–लिखकर न केवल नौकरी करती है बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी आगे बढ़ रही हैं। अभावपूर्ण जीवन में अपमान की पीड़ा और जातिगत भेदभाव के दंश तथा विरोध न कर पाने की छटपटाहट' की स्थिति में आज बदलाव आया है। यूं कहें कि जब आर्थिक स्थिति में बदलाव आता है तो सामाजिक स्थिति भी बदलने लगती है। इसी बदलाव को रेखांकित करती हुई सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि, ''अब समस्याओं का समाधान होना चाहिए। प्रश्नों का कालखण्ड समाप्त हो जाना चाहिए। अब प्रश्न नहीं उत्तर चाहिए, सटीक निर्भीक उत्तर।

समस्या सदियों पुरानी है। सदियों से हम संताप भोग रहे हैं। अब दुख–संताप की बात नहीं, विरोध–विद्रोह के साथ क्रांति की बात होनी चाहिए। समाज क्रांति के लिए शिक्षा, संगठन और संघर्ष की बात होनी चाहिए – हम टूटेंगे नहीं, उनको झुकायेंगे, समाज से वर्ण–जाति की बात खत्म होगी, समाज को यह नया संदेश है। अम्बेडकरवादियों में यह जागृति आ गयी है, हमारी जाति के लोगों में यह जागृति आनी चाहिए।''[30] अर्थात् वंचना, उपेक्षा, तिरस्कार, अपमान, उत्पीड़न, शोषण, मानवीय मूल्यों से वंचना आदि के शिकार सभी वर्ग या समुदाय में शिक्षा, संघर्ष और संगठन का आह्वान करती हुई समस्याओं का समाधान होना जरूरी है।

स्त्री आत्मकथाओं में भारतीय सामंती समाज के अवशेषों का देखा जा सकता है। प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में लिखती है कि ''मैं क्या हूं? डॉ. साहब की प्रियतमा, मिस्ट्रेस, आधी पत्नी या फिर रखैल?''[31] क्या आधुनिकता के इस युग में यह सामंती अवशेष नहीं कि एक स्त्री स्वयं को अपने रिश्तों का खुलकर नाम नहीं दे पाती हैं। डॉक्टर साहेब उन्हें प्यार नहीं करते, इसलिए वे मिस्ट्रेस नहीं हो सकती। वे उन्हें पत्नी के बराबर सम्मान देने को तैयार नहीं होते, इसलिए वे आधी पत्नी बनने का भी सौभाग्य नहीं पा सकतीं और वे रखैल तो इसलिए नहीं है, क्योंकि वे डॉ. सर्राफ की कमाई पर निर्भर नहीं है। उलटे डॉ. सर्राफ ही जब–तब उनसे कुछ न कुछ लेते रहते हैं। प्रभा सब कुछ समझते–बूझते हुए भी न कभी अपने किए निर्णय पर पछताती हैं और न कोई राह तलाशने को उन्मुख होती हैं। वे अपनी आत्मकथा में अपनी समस्त साहसिक उपलब्धियों के साथ वैयक्तिक कमजोरियों को पाठक समुदाय के सामने रखते हुए यह निर्णय करने का दायित्व उन्हीं को सौंप देती हैं कि वे उन्हें एक बदचलन औरत मानना चाहते हैं या एकाग्र निष्ठा से उस आदमी को प्रेम करने वाली एक आदर्श महिला जो उसका पूरी तरह से कभी नहीं हुआ। अविवाहित रहकर जीवन जीना समाज की मान्यताओं के विरूद्ध है। फिर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ती हुई 'ब्यूटी थैरपी का कोर्स' और 'फिगरेट' नामक महिला स्वास्थ्य केंद्र की स्थापना करती है। यह एक बदलाव नहीं तो और क्या? वर्तमान में ऐसा होता हुआ दिखाई पड़ रहा है तो निश्चय ही स्त्रियों का जीवन परिदृश्य बदल रहा है। उनमें बदलाव की प्रक्रिया को देखी जा सकती है। स्त्री जीवन के बदलते हुए स्वरूप का चिंतन निश्चय ही स्त्री जीवन को दिशा दी है। इस परिवर्तनकामी जीवन शैली में स्त्रियां जहां आर्थिक तौर पर सबल हो रही हैं तो वहीं उनकी 'निजता' पर सवाल भी उठा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में बदलते स्त्री जीवन ने स्त्रियों को आर्थिक तौर पर स्वतंत्र किया है तो वहीं, उनकी 'निजता' को अपनी कीमत पर जीना सिखाया। जहां पितृसत्ता टूट रही है तो वहीं परंपरा से चली आ रही संस्कृति के नाम पर 'निजता बनाम सामाजिकता' का सवाल स्त्री लेखन के संदर्भ में उठता रहा है। 'निजता बनाम सामाजिकता' का सवाल वस्तुतः स्त्री जीवन का अपना सवाल है ही नहीं, क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की 'स्त्रीत्व' भी अपना नहीं था। वह 'चाहरदीवारी के भीतर कैद पक्षी थी और उनकी सामाजिकता–घर, चूल्हा और बच्चा' तक सीमित हो गयी थी। आज स्त्री जीवन का यह दशा–दिशा दोनों बदल रही है।

निजता और सामाजिकता किसी भी समाज में उस समाज की सामाजिक संरचना, उसके परिवेश व वातावरण पर निर्भर करता है। समाज, वातावरण और परिवेश के परिप्रेक्ष्य में यह परिभाषित है। स्त्री–पुरुष दोनों

की 'निजता–सामाजिकता' भारतीय समाज में अलग–अलग निर्धारित है। अलग–अलग यह निर्धारण ही भारतीय समाज में 'असमानता' का पर्याय बन गया है।

5.2 स्त्री जीवन की निजता बनाम सामाजिकता का सवाल

किसी भी समाज की संरचना, संस्कृति और वातावरण के बीच में ही व्यक्ति की (स्त्री–पुरुष) निजता का मूल्य निर्धारित होता है और साथ ही उसकी सामाजिकता भी तय होती रहती है। यूं कह सकते हैं कि व्यक्तित्व में निजता और सामाजिकता दोनों का निर्माण एक साथ होता रहता है। व्यक्तिगत–मानसिक भिन्नता भी सामाजिक सरंचना और सांस्कृतिक वातावरण पर ही निर्भरता करता है। व्यक्तिगत मूल्य का संबंध व्यक्ति विशेष की आकांक्षा, संवेदना, अनुभूति और कर्म से होता है वहीं सामाजिकता समाज और राष्ट्र के निर्माण में मदद करती है तो साथ ही वह व्यक्तिगत मूल्यों व राष्ट्रीय मूल्यों के बीच एक तादात्म स्थापित करती है।

सभी मानव का व्यक्तिगत मूल्य और राष्ट्रीय मूल्य में समानता एक समृद्ध राष्ट्र,समाज और परिवार का द्योतक है। लेकिन क्या ऐसा सभी परिस्थितियों में एक समान होता है। निश्चय ही जिस तरह के समाज–परिवार में व्यक्ति का परवरिश होता है उसके अनुरूप ही व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों का निर्माण होता है। कई बार परिस्थितिगत और राष्ट्रीय–सामाजिक प्रभाव के कारण इन मूल्यों में परिवर्तन होता है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्ति के मूल्यों को इन संदर्भों में सहजता से समझा जा सकता है जहां स्त्री–पुरुष दोनों के व्यक्तिगत मूल्य– इच्छा, आकांक्षा, स्वतंत्रता, स्वाभिमान, साहचर्य, आदि का भाव है वहीं समाज के विकास में योगदान, सुरक्षा, विकास, आंदोलन, आदि का भाव उसकी सामाजिकता को निर्धारित करता है और राष्ट्र के विकास में योगदान को।

व्यक्तिगत मूल्यों और राष्ट्रीय मूल्यों में अन्योन्य संबंध होता है। इन दोनों के बीच मानव की सामाजिकता दोनों को निर्धारित करता है क्योंकि व्यक्तिगत मूल्यों का विकास भी समाज की सभ्यता–संस्कृति में ही होता है वह कोई बाह्य उत्पाद तो होता नहीं है। वह निर्धारित और निर्धारक दोनों के प्रभाव को उत्पन्न करता है। इसलिए समाज में स्त्री–पुरुष दोनों की निजता और उसकी सामाजिकता सामाजिक–सांस्कृतिक होती है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों की निजता का सवाल जितना महत्वपूर्ण रहा है उतना ही पुरुषों के भी। कृष्णा अग्निहोत्री से लेकर आशा आपराद तक सभी स्त्रियां कहीं न कहीं परिवार–समाज में अपने मूल्यों की उपेक्षा, वंचना आदि का शिकार है वहीं पुरुष इन मूल्यों का दुरोपयोग करता नजर आ रहा है। मन्नू भंडारी जब अपनी आत्मकथा ' एक कहानी यह भी' में यह लिखती है कि, 'हमारे यहां बहुत ईमानदारी से लेखकों के व्यक्तिगत जीवन का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने का प्रचलन ही नहीं है। ...और न ही लेखक खुद ही बहुत ईमानदारी से वह सब लिख पाते हैं। लेखकों की इतनी आत्कथाएं आने के बावजूद मैं यह लिख रही हूं... मैं खुद ही इस काहनी में कहां खोलकर कह पाई।''[32] तो वह वस्तुतः व्यक्ति की निजता के सवाल को ही रेखांकित करती हैं जिसे लेखक आसानी से छुपा जाता है। दूसरी बात यह कि, समाज में ईमानदारी से जीवन की लेखा–जोखा न

प्रस्तुत करने की संस्कृति होने की वजह से भी निजता बनाम सामाजिकता का सवाल उठना लाजिमी होता है। अन्यथा जो लिखा जा रहा है वह निजी कहां होता है वह तो सार्वजनिक और सार्वभौम की ओर बढ़ रहा होता है।

प्रभा खेतान अपनी जिंदगी में जिस पारिवारिक उपेक्षा और बालपन में ही यौन उत्पीड़न का शिकार होती हैं। यही कारण नहीं है कि अपनी जिंदगी में डॉ सर्राफ को, जो किसी दूसरी स्त्री की पति है, को चुनती है और उनका यह व्यक्तित्व पाश्चात्य संस्कृति के अध्ययन का परिणाम हो सकता है। 'लव एट फर्स्ट साइट' वाला भी हो सकता हा। जिसे कोई तर्क जस्टीफाई नहीं कर पाता। वे स्वयं भी अपने इस निर्णय पर हैरान होती रहती हैं। इस संदर्भ में सीमोन व सार्त्र की प्रेम कहानी, जिससे वे प्रभावित हैं, याद आती है। लेकिन सीमोन की तरह उनका यह चयन उनके लिए खरा साबित नहीं होता। सीमोन और सार्त्र एक–दूसरे के पूरक बनते हैं और अपनी दिशा में आगे बढ़ने के लिए परस्पर सहायता प्रदान करते रहते हैं। इसके विपरीत प्रभा खेतान के द्वारा जबर्दस्ती जीवन साथी बनाए गए डॉ. सर्राफ न केवल आदतन परस्त्रीगामी हैं, बल्कि प्यार को तात्कालिक यौन संतुष्टि से अधिक महत्व न देने वाले नितांत व्यवहारिक व्यक्ति भी हैं।

चन्द्रकिरण आर्यसमाजी संस्कृति में पली–पढ़ी हैं। आर्यसमाजी संस्कृति का ही परिणाम था कि अपने जीवन साथी चुनने में बिना किसी औपचारिकता के कांतिचंद्र से हां कह देती है। जिसकी पहल स्वयं कांतिचंद्र की ओर से थी। लेकिन परिणाम क्या हुआ, चंद्रकिरण आजीवन कांतिचंद्र की पितृसत्तात्मक मानसिकता का शिकार होती रही। इसका परिणाम वही हुआ जो परम्परागत संस्कार वाली भारतीय पत्नी के लिए संभव था। इसके बाद चंद्रकिरण ने स्वयं को हिन्दी साहित्य–संसार से अलग ही कर लिया। जो साहित्य जगत में एक नई परंपरा के लेखन को स्थापित कर रही थी, वह थम सा गया। पिंजरे की मैना में व्यक्त चंद्रकिरण जी की इस प्रतिक्रिया से उनकी उस समय की मानसिकता का अनुमान लगाया जा सकता है ''क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही मैं इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल–तिल खपा रही हूँ? तीन वर्ष के विवाहित जीवन के बाद कोई विश्वास का आधार नहीं बन पाया अब तक तो आगे क्या आशा हो सकती है।''[33] इसके बाद वे जो भी कहानियाँ लिखती, उसकी पांडुलिपि पति को ही पकड़ा देती और वे ही उन्हें अपनी मनपंसद पत्रिकाओं में प्रकाशित कर उनकी पसंद बहुत सीमित थी और चंद्रकिरण की कहानियां उन पत्रिकाओं में नहीं छप पाती जो उस समय प्रतिष्ठित पत्रिकाएं मानी जाती थीं। ये सब ऐसे कारण थे, जिन्होंने चंद्रकिरण जी को समकालीन साहित्य धारा और उनकी सम्मिलित चर्चा नहीं हो सकी। निश्चय ही यह स्त्री निजता का सवाल था जिसे कांतिचंद्र नहीं समझ पा रहे थे और पितृसत्ता की मद में चंद्रकिरण को सीमित कर देता है। उनकी सामाजिकता और राष्ट्रीय मूल्यों का खत्म कर देता है।

स्त्री–पुरुष का वैवाहिक जीवन संबंध एक दूजे का होता है। 'उसमें 'सामांतर जिंदगी की खोज भी खास तरह की पितृसत्ता ही कही जा सकती है। मन्नू भंडारी जब आधुनिकतम 'पैटर्न' पर दो समानांतर जीवन का उल्लेख करती है तो वह वस्तुतः राजेन्द्र यादव की 'निजता व सामाजिकता' के सवाल को ही उठाती है।

जिसे राजेन्द्र यादव अपना अधिकार क्षेत्र समझते थे और मन्नू भंडारी के भी अधिकार क्षेत्र को निर्धारित करते हैं। इसलिए मनन्नू भंडारी लिखती हैं कि, ''अपनी अपनी जिंदगी का जो बंटवारा हुआ, उसमें घर की सारी जिम्मेदारियां और समस्याएं –आर्थिक से लेकर दूसरी तरह की –मेरे जिम्मे थीं, जिसमें मुझे राजेन्द्र की दिलचस्पी की ही नहीं, सहयोग की भी जरूरत रहती थी, लेकिन उसे तो राजेन्द्र ने मेरा अधिकार क्षेत्र घोषित कर रखा था। मेरे अधिकार क्षेत्र में कभी भी न झांकने की, न किसी तरह की दिलचस्पी लेने की और न ही कोई हस्तक्षेप करने की बेहद उदारवादी मुद्रा ओढ़कर एक बड़ी वाजिब और तर्कसंगत अपेक्षा ये करते थे कि मैं भी इनके अधिकार क्षेत्र में न कभी झांकूं, न किसी तरह की दिलचस्पी लूं। इनके अधिकार क्षेत्र में थे इनके निजी संबंध और सरोकार जब–तब, जहां–तहां घूमने फिरने की और जब मन हुआ बिना पीछे की जरा भी चिंता किये कलकत्ता से भाग निकलने की छूट।''[34] अर्थात् जिस सहजीवन की उम्मीद मन्नू भंडारी को राजेन्द्र यादव से थी ठीक विपरीत उसके जीवन का संघर्ष मिला। यही उनके जीवन का बदलाव है।

आत्मविश्वास और उसकी स्वीकृति ही जीवन को बदलता है। स्त्री आत्मकथाओं में जीवन के बदलाव का परिदृश्य का आलम यही है कि सभी स्त्रियां कहीं न कहीं आत्मनिर्णय लेती हैं। उनमें दृढ़ आत्मविश्वास है। जिसके कारण उसकी स्वीकृति भी समाज में है। इस आत्मविश्वास और स्वीकृति के बावजूद मन्नू भंडारी ईमानदार एवं सचेत रही है। यही कारण है कि तमाम संकट के बाद भी हर संकट से जददोजहद के बाद नई उच्चाई को प्राप्त की है। उन्हीं के शब्दों में, ''मैं अपनी सीमा के प्रति हमेशा सचेत रही हूं–कुछ ज्यादा ही सचेत, सो अपनी सीमा और सामर्थ्य के बाहर जाकर कभी भी कुछ अनर्गल रचने की हिमाकत नहीं की मैंने।''[35] अर्थात् जीवन के यथार्थ को रेखांकित करती हुई मन्नू भंडारी जीवन को यथार्थवाद में तब्दील करती है। यही आत्मकथा की शक्ति है और जीवन की सार्थकता भी, जो जीवन के मूल्यों की वकालत करता है। अपनी व्यक्तिगत जिंदगी के मूल्यों के साथ–साथ उसकी सामाजिकता को भी सुरक्षित रखती है। सामजिकता में ही रचनात्मकता की शक्ति निहित होती है, वही जीवन व समाज को दिशा देती है। मन्नू भंडारी जब लिखती हैं कि, ''मेरे पास आज अगर कुछ है तो हर दिन के साथ बढ़ती छटपटाहट और लगातार रिसते–टूटते आत्मविश्वास की कचोट।''[36] निश्चित ही वह स्त्री जीवन के बदलते हुए परिदृश्य व परिप्रेक्ष्य को उजागर कर रही हैं। इसे यूं भी कह सकते हैं कि समाज की बदलते हुए परिदृश्य को रेखांकित कर रही हैं, तो सवाल उठता है कि आत्मविश्वास एवं स्वीकृति के बल जीवन को दिशा देने वाली लेखिका के पास आत्मविश्वास की कचोट क्यों? इसी कड़ी में प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में व्यक्त निजता व उसकी सामाजिकता को भी समझा जा सकता है।

भारतीय समाज की जड़ता, रूढ़िवादिता और वर्जनाओं के बीच जीवन को तलाश करती प्रभा खेतान स्त्री अस्तित्व को खोजती है। 'चयन की स्वतंत्रता' और 'चयन के जोखिम' को उठाती हुई भारतीय समाज की मानसिकता के अनुसार बहुत बड़ा अपराध करती है और अपनी जिंदगी को बदलने के लिए संविधान प्रदत अधिकार को अपनाती हुई अपनी जिंदगी की खोज में निकल पड़ती है। और इसका सूत्र पाती हुई लिखती है कि, ''स्त्री होना कोई अपराध नहीं है, पर नारीत्व की आंसू भरी नियति स्वीकारना बहुत बड़ा अपराध है। अपनी नियति को बदल सको तो वह एकलव्य की गुरुदक्षिणा होगी।''[37] अर्थात् नियति को बदलने का संकल्प है, जीवन

को बदलने का सूत्र है। इन्हीं सूत्रों के सहारे प्रभा खेतान जीवन की नियति को त्याग कर अपनी स्वतंत्रता, चयन और अस्मिता–अस्तित्व को अपनाती है। इस राह में यदि कई वर्जनाओं का भी सामना करती है। यही कारण बचपन से उपेक्षा, तिरस्कार और अपमानना की जीवन जी रही प्रभा खेतान डॉ. सर्राफ द्वारा थोड़ी सी तारिफ के बाद उसकी तरफ आकर्षित होती है और उसे अपने जीवन में पाने की कोशिश करती है। उन्हें लगता है कि यही वह व्यक्ति है जो मुझे समझ सकता है। इसका कारण है क्योंकि उसके बचपन का यथार्थ ही कुछ और था जो एक सामान्य बच्चा के जीवन से अलग, अनाथ बचपन और वंचित स्नेह ने स्नेह की बयार को देखते ही आकर्षित हो गया। प्रभा खेतान स्वयं लिखती है कि ''लाज से आरक्त चेहरा उनके सीने से लग गया। उनकी वह पहली छुअन भीतर तक सहला गई। पहली बार किसी पुरुष ने प्यार से मुझे अपनी हथेलियों में भरा और पहली बार कोई पुरुष मुझसे कह रहा था कि तुम कितनी आकर्षक हो, पहली बार किसी की बांहों में मैंने खुद को सुरक्षित महसूस किया।''[38] अर्थात् प्रभा खेतान ने जब खुद को सुरक्षित पाई तो उन्हें डॉ. सर्राफ को अपने आप को समर्पित किया। यह जो स्त्री असुरक्षा का भाव स्त्रियों के मन में है यह बहुत बड़ा कारक है और किसी भी समाज के लिए यह चिंता एवं संकट का विषय है कि उस समाज में स्त्रियां खुद को असुरक्षित महसूस करती है। इसका मतलब यह भी नहीं है जिस पुरुष से वह स्त्री या लड़की जुड़ रही है वहां कितना सुरक्षित है बल्कि मन में यह भाव जरूर रहता है कि वह सुरक्षित है। यह एक मानसिक अवधारणा है। यह किसी भी समाज में किसी भी बच्चे के बचपन से ही निर्धारित होता है। अन्यथा प्रभा को यह कहां पता कि उनके जीवन में कभी कोई प्यार जैसी चीज भी घटित हो सकती है। वह तो बचपन से ही इस वंचना का शिकार रही हैं। इसलिए वे लिखती हैं कि ''जो कुछ भी घट रहा है यह हमारा चुनाव है ... मैं जोखम लेने से नहीं घबराती, ...आपके लिए मुझे हर स्थिति मंजूर है, ... आपसे मैं नहीं मिलूं यह संभव नहीं।''[39] अर्थात् जीवन में चयन और चयन का जोखिम दोनों की स्त्रियों के जीवन बदलते हुए जीवन का सूत्र बनता जा रहा है। अन्यथा भारतीय समाज में स्त्रियों का यह अधिकार कहां था।

जब वह समाज से विद्रोह कर एक विवाहित पुरुष से संबंध बना सकती है और उसे आजीवन निभाने के लिए भी तैयार है तो फिर अविवाहित मातृत्व से कैसा भय। लेकिन नहीं, अपनी इज्जत को लेकर भयभीत है प्रभा खेतान। इसलिए वे लिखती हैं कि ''यदि किसी को मालूम पड़ जाए तो दुनिया की नजर में मेरी क्या इज्जत रहेगी, खुद अपनी ही नजर में मेरी इज्जत नहीं बची।' इसी तरह वे आगे लिखती हैं कि 'बस किसी तरह इससे मुक्ति मिले, नहीं तो घरवाले मुझे फांसी के तख्ते पर लटका देंगे।''[40] इस कथन से यह साबित होता है कि जिस लोकलाज को त्यागकर प्रभाखेतान अपनी जिंदगी का चुनाव करती है यहां उसी लोकलाज से भयभीत भी है। फिर यह कैसा विद्रोह, कैसी परिस्थितियां जहां घुटने टेकती हैं। कैसा परिवर्तन? इसे स्त्री आंदोलन के संदर्भ में समझने की जरूरत है। संभवत इसी लोकलाज के डर से प्रभाखेतान यह भी कहती है कि ''प्यार–व्यार कुछ नहीं, बस देह का जबर्दस्त आकर्षण था और उसी का फल मुझे भोगना पड़ रहा है।''[41] अपने प्यार को अटूट प्रेम, आजीवन प्रेम सच्चा प्रेम कहने वाली प्रभाखेतान किस भय से यह कहती है प्यार कुछ नहीं होता, वह केवल देह का आकर्षण था। प्रभा खेतान क्या कहना चाहती हैं, क्या धारणाएं हैं उनके मन में प्रेम की, इससे

उनके मन का द्वंद्व भी उभर कर सामने आता है और उनके उलक्षण जिसे वे अपने परिस्थिति अनुसार परिभाषित करने में लगी रहती है। सब कुछ सुविधा के अनुसार। क्या इससे समाज में साकारात्मक परिवर्तन हो सकता है? यह एक बहुत बड़ा सवाल है। इस पर विचार करने की जरूरत है।

'अन्या से अनन्या' में जिस प्रकार से भ्रूण हत्या हुई है। वह भी पढ़ी लिखी स्त्री कर रही है। इससे यह साबित तो होता है कि अपने अस्तित्व को लेकर चिंतित स्त्री कितना सजग है भ्रूण हत्या को लेकर। जिस प्रेम संबंध को जोड़ते वक्त लोकलाज, समाज, परिवार का भय नहीं उसी प्रेम में मातृत्व भाव को पनपने देने में फिर डर क्यों। इसे भी पितृसत्ता के खिलाफ आंदोलन कहेंगे या उसका दवाब ? क्या इसकी जानकारी नहीं थी कि भ्रूण हत्या अपराध है। बात ऐसी नहीं थी, बल्कि भयभीत प्रभा खेतान की यह कमजोरी है। इसलिए वे लिखती हैं कि ''भ्रूणहत्या एक पाप कर्म है ऐसी कोई भावना नहीं थी मेरे मन में। मैं कुछ गलत कर रही हूं ऐसा क्षण भर को मुझे नहीं लगा।''[42] सवाल उठता है कि इतनी संवेदनशील स्त्री को ऐसी क्यों अनुभूति नहीं होती है? लगता है प्रभा खेतान एक यांत्रिकता की दुनिया में जीवन जीने लगी थी। जहां उनकी जिंदगी पर 'यांत्रिकता' हावी होती जा रही है जिसके कारण उनकी अनुभूति खत्म होने लगती है। संवेदनहीनता की स्थिति आ जाती है। ऐसा ही जैसा एक तकनीशियन के लिए किसी की औरत की गोद एक हवा से भरे बैलून की तरह है जिसमें पंच करने पर वह खत्म हो जाएगा। उसमें कोई भावनात्मक लगाव नहीं होता है। प्रेम और मातृत्व प्रेम की बीच यांत्रिक जीवन के कारण ही प्रभा खेतान आजीवन इस अपराधबोध से जीती है। और आइलिन और जेफ के सवाल –'क्या तुम मां नहीं बनना चाहोगी?' के जवाब में कहती हैं कि ''उससे से मैनें कुछ नहीं कहा, कभी किसी से नहीं कहा कि कौन नहीं मां बनना चाहेगी कि मां शब्द मुझे कितना तरल बना देता है।''[43] यह बात तो इसी कहावत को चरितार्थ करती है जब चिड़िया चुग गई खेत तो का होत पछतानी। इस पर मंथन करने की जरूरत है। यदि आत्मकथा के माध्यम से स्त्री विमर्श को देखने समझने या परखने की बात होती है तो इस तरह की छोटी–छोटी बारीक संबंधों को भी परख करनी होगी, एक सुंदर जीवन और भविष्य के लिए। इस संदर्भ में एक और बात उल्लेखनीय है जिसका जिक्र प्रभा खेतान ने की है कि गर्भपात के बाद डॉ. सर्राफ ने प्रभा को बिना बताए उसका नसबंदी करवा देना और सदा सदा के लिए मातृत्व सुख से वंचित करना पितृसत्तात्मक सोच हो सकती है वहीं वह शोषण भी है। संभवत डॉ. सर्राफ अपने भविष्य के लिए खतरा भी नहीं लेना चाहते थे। गौरतलब बात तो यह भी है कि प्रभा खेतान नसबंदी के बाद भी चिकित्सीय उपचार के सहारे फिर से मातृत्व सुख का आनंद ले सकती थी लेकिन ऐसा वे नहीं करती है।

एक तरफ डॉ. सर्राफ प्रभा खेतान को आर्थिक रूप से सम्बल होने के लिए व्यापार करने की अनुमति देता है उसे प्रेरित करता है लेकिन वह उस कम्पनी में अपना हिस्सा मांगता है। सवाल उठता है कि प्रभा अपनी प्रारंभिक दिन में प्रेम सुख पाने के लिए डॉ. सर्राफ के यहां तीन सौ रूपये पर नौकरी स्वीकार करती है वही प्रभा खेतान जब स्वयं व्यापार करने की बात करती हैं जिसके सूत्रधार डॉ. सर्राफ भी हैं वे अपना हिस्सा पहले ही अपनी शर्त पर करते हैं। यही पुरुषवादी मानसिकता है जो पत्नी की कमाई को अपने कब्जे में रखना चाहती है। यही वजह है कि प्रेम कब आर्थिक संसाधनों पर अधिकार स्थापित करने में सफल हो गया; कहा नहीं जा सकता

है। इसलिए प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''डॉक्टर साहब मेरे प्रेमी नहीं रह गए थे, पर मेरे अभिभावक जरूर हो गए थे। मैं जो कमाती, उनके हाथ में रख देती। जैसे वे सब बच्चों की फाइल देखते थे, टैक्स भरते थे, वैसे ही मेरी कमाई का, विनियोजन का हिसाब रखते।''[44] इस प्रकार कहा जा सकता है कि धीरे–धीरे डॉ सर्राफ के परिवार में शामिल तो हो गई लेकिन 'अन्या' की तरह ही रही। संभवतः यही शीर्षक को मूल्यांकित करती है। परिवार की जिम्मेदारियों के साथ आर्थिक जिम्मेदारियां भी उसके कंधों पर आ गई थीं। इसका कारण डॉ. सर्राफ को अपने बेटे को स्थापित करना है। लेकिन इस संदर्भ में कई सवाल प्रभा खेतान छोड़ जाती है जैसे एक तरफ व्यापार को स्थापित करना वहीं दूसरी तरफ व्यापार के साथ सामाजिक व्यंग्य बान जो वे समय–समय पर छोड़ते रहते हैं। जैसे '' भई! बिजनेस लेडी है! मेरी या तुम्हारी वाली की तरह थोड़ी ही है।'...' तुम पुरुष होती जा रही हो। तुम ज्यादा हिसाब–किताब करती हो, दिन–रात अपने काम में उलझी रहती हो।'' ''हां भई! पैसा जो कमा रही हो।''[45] इन प्रकरणों को गौर से समझने की जरूरत है कि किस प्रकार पुरुषवादी मानसिकता है जो एक तरफ आर्थिक उन्नती के लिए पत्नी को कमाने के लिए कहती है तो दूसरी तरफ उस पर व्यंग्य बान भी छोड़ते रहते हैं और स्त्री की पूरी कमाई को पुरुष अपने हाथों में रखना चाहते हैं। स्त्रियां धन अर्जित करें, परंतु उस पैसे पर पुरुष नामक जीव का ही अधिकार हो यह बात हमें सुशीला टाकभौरे, आशा आपराद आदि की आत्मकथाओं में भी देखने को मिलती है। इसका विश्लेषण सिमोन द बाउवर ने बहुत ही सही किया है कि ''हमारी मूल समस्या तो इतिहास प्रवाह में सार्वजनिक स्वामित्व के स्थान पर व्यक्तिगत स्वामित्व के उद्‌गम को जानने की है।... व्यक्तिगत सम्पति की संस्था क्यों अनिवार्यतः औरत की गुलामी का कारण बनती है।''[46] इन संदर्भो को देखने से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक तौर पर संबल होने के बाद जीवन का परिदृश्य बदलता जरूर है लेकिन परंपरा से चली आ रही जिंदगी और नए में कितना फर्क है। यह महत्वपूर्ण है।

प्रभा खेतान स्वयं उसकी आत्मलोचन करती है और वह उस संबंध से बाहर निकलती है। 'तू नहीं तो और सही, और नहीं तो और सही' की तरह रिश्ता बनाने का कोई पड़ाव नहीं होता है और जिस रिश्ता का कोई पड़ाव नहीं वह बहुत ही जल्द खत्म हो जाता है। सुहेल सेठ के हवाले से प्रभा खेतान इसे रेखांकित करती हैं कि ''पुरुष का अंधानुकरण कर रिश्तों को कपड़ों की तरह पहनती उतारती आज की स्त्री क्या सचमुच 'मुक्त' हो रही है? क्या आज की अधिकतर औरतें इस मत से सहमत है? एक पल को उसे लगता है शायद हां। मगर अगले ही पल उसका उत्तर था शायद नहीं।''[47] इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं में आधुनिक जीवन की फुहड़ता पर आत्मलोचन भी किया गया है। 'अन्या से अनन्या' अपने अस्तित्व की तलाश करती हुई एक स्त्री की आत्मसंघर्ष की कथा है। जिसने विराशत में मिली हुई। लेकिन अपनी कुशलता को साबित करने में उन्हें अथक संघर्ष करना पड़ा। सामाजिक यथार्थ से रूबरू प्रभा खेतान लिखती हैं कि, ''औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है। वह अपने स्कूल की प्राध्यापिका से कहती है कि इसके बिना मारवाड़ी समाज में मुझे अपनी मर्जी से जीने नहीं दिया जाएगा।''[48] अर्थात् आर्थिक सशक्तीकरण के बिना औरत का कोई वजूद नहीं। परजीवी होने के कारण ही स्त्री शोषित रही है। इस यथार्थ को समझती प्रभा खेतान की महत्वाकांक्षा उसकी अम्मा से मिलती है जो कहती हैं कि ''चांद को छूने की कल्पना करो तो खजूर के पेड़ तक

तो पहुंचोगे। अरे तुम्हारी चाहना ही सीमित रहेगी तो आगे कैसे बढ़ोगे? जो मिले उसी में संतोष खोज लेना भला यह भी कोई बात हुई?''[49] अर्थात् प्रभा खेतान स्त्रियों को अपनी आकांक्षा, इच्छाओं को बहुत ऊंची रखने को कहती हैं। वह स्वयं चांद की तलाश करतीं हुई एक नया जीवन जीया और एक व्यवसायी के तौर पर अपनी ख्याति को स्थापित की। लेकिन यह सब इतना आसान नहीं था। भाषा, संप्रेषण, वेज–नॉनवेज, भारतीय संस्कार आदि की जड़ता जहां बाधा बन रही थी वहीं आत्मविश्वास और चांद को पा लेने की महात्वाकांक्षा ने पुरुष अधिकृत दुनिया में प्रवेश करती है और वह सफल होती है। अपनी पैशन को जुनून में तब्दील करती हुई साधना के बदौलत वे अपनी मंजिल को हासिल करती है इसीलिए वे कहती है कि ''व्यापार भी एक साधना है, जैसे और तरह की साधना या साहित्य साधना है। माना कि दोनों बिलकुल अलग–अलग हैं मगर बिना साधना के कुछ नहीं हासिल होने वाला। साधक होने की क्षमता उसी व्यक्ति में रहती है जो अनुशासन में बंधे, श्रम करे, एकोन्मुखी अग्नि की तरह जले, जलता रहे।''[50] अर्थात् स्त्रियों को यदि अपना जीवन बदलना हैं तो उसे अपनी इच्छा अनुरूप परिकल्पना व संकल्पना दोनों के साथ कठिन साधना, अनुशासन, श्रम और एकोन्मुखी होना चाहिए।

संसार का कोई भी ऐसा देश नहीं हैं जहां स्त्री को पुरुषवादी दृष्टि से नहीं देखा जाता है। इस संदर्भ में स्त्री सिर्फ एक देह मात्र समझी जाती है। इस दृष्टि के कारण स्त्री को जीवन के सभी क्षेत्रों में कई समस्याओं से जूझना पड़ता है। प्रभा खेतान के अनुसार पश्चिम देश की स्त्रियां इस स्थिति को सहज स्वीकार कर ली हैं, लेकिन भारतीय समाज सांस्कृतिक भिन्नता के कारण इसे मान्यता नहीं देता है। हालांकि यहां भी स्थिति अलग नहीं है। प्रभा खेतान जूड़ी के हवाले से कहती हैं कि ''तुम अपने आपको वस्तु समझती हो और वह पुरुष भी तुम्हें वस्तु रूप में ही देख रहा है। रसीले फल के लिए मन ललचाना स्वाभाविक है! इसके बारे में इतना क्या सोचना, बस तु ना कर देतीं। वह कोई जबरदस्ती तो कर नहीं पाता।''[51] स्त्री को वस्तु रूप में समझना न केवल पितृसत्ता की पहचान है बल्कि विकृत मानसिकता भी है। इस मानसिकता को समर्थन करना पितृसत्ता का संस्कृतिकरण ही कहा जा सकता है, जिसमें एक स्त्री इस मानसिकता का समर्थन करती है।

प्रभा खेतान अपनी सफलता के लिए कभी भी अपनी जड़ का त्याग नहीं करती है। पश्चिम की दुनिया से जरूर उनका संपर्क रहता है। लेकिन उस संस्कृति में अपने आप को लेकर संघर्ष करती है लेकिन भारतीय समाज के प्रगतिशील मूल्यों को कभी नहीं भूलती है वहीं उसकी जड़ता के खिलाफ हमेशा रहती है। यहीं से जीवन के बदलाव की शुरूआत देखी जा सकती है। यह बदलाव इतना आसान नहीं था। प्रभा खेतान जब विदेश में थी तो विदेशी संस्कृति के अनुकूल अपने आप को विचार करती रही। अपने व्यक्तित्व में आधुनिकता का समावेश करती है लेकिन चयन के बीच अपने आप को भारतीय रखती है। अपने उलझन को दूर करती हैं और अपने व्यक्तित्व का वैश्विक रूपांतरण भी करती हैं। इसके लिए वे अपनी लगन, सूझबूझ और आत्मविश्वास के साथ काम लिया है। इसी का परिणाम है वह 'झेपू छवि' का रूपांतरण वैश्विक रूप में करती हैं।

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन के बदलाव को विवाह संस्था के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। पारंपरिक विवाह विधान में स्त्रियों के लिए चयन की इच्छा का कोई आधार नहीं था। लेकिन आज यह स्थिति भी बदल रही है। प्रभा खेतान और रमणिक गुप्त की आत्मकथाओं को छोड़कर किसी भी अन्य आत्मकथाओं में विवाह संस्था को चुनौती नहीं दी गई है लेकिन उसकी पद्धति को लेकर सवाल जरूर उठा है। प्रभा खेतान विवाह संस्था को 'ओररेटिड संस्था'[52] कहती हैं। साथ ही पढ़–लिखकर विवाह हेतु चयन, स्वतंत्रता को भी रेखांकित करती हैं और स्त्री जीवन की नियति पर सवाल उठाती हैं। वे लिखती हैं कि ''क्या यही है पढ़ने लिखने का लाभ, कि घरवाले चाहे जिस खूंटे से मुझे बांध आएं? चुनाव, निर्णय की स्वतंत्रता, प्रतिबद्धता जैसे शब्दों को मैं आज तक सुनती आई हूं, आज मैं खुद से पूछना चाहती हूं बस क्या यही है स्त्री की नियति? उसका जीवन?''[53] निश्चित तौर यह स्त्री जीवन की नियति नहीं है इसे बदलने की जरूरत है। इसी बदलाव का नया रूप सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा में मिलती है। खुद सुशीला की शादी पारंपरिक तौर–तरीके से होती है लेकिन सुशीला टाकभौरे अपने बच्चों की शादी पारंपरिक विधि–'विधान से अलग अंतर्जातीय और बिना दहेज को करती हैं, जो कि एक सामाजिक बदलाव को आंदोलन के तौर पर स्थापित करती है। जिस दिन यह बदलाव एक आंदोलन का रूप लेगी, उसी दिन से भारतीय समाज में बेटी न बाप की बोझ बनेगी और न ही जातियता का दंश स्त्रियों को झेलना पड़ेगा।

वैवाहिक संस्था का विरोध और अपनी निजता की स्वतंत्रता को लेकर यदि स्त्री आत्मकथाओं में सवाल उठा है तो इसी के साथ आत्मलोचन की पहल भी हुई है जो कि किसी भी समाज में बदलाव के लिए एक अनिवार्य तत्व के रूप में देखा जा सकता है। प्रभा खेतान श्रीमती सर्राफ के बारे में सोचती हुई आत्मलोचन करती हैं और कहती हैं कि, ''लगता है शायद वे मुझसे ज्यादा दुखी थी। कौन स्त्री अपने सुहाग में साझा चाहेगी?''... ''वे मुरझा गई थीं''। इतना ही वह नहीं सोचती है बल्कि वह घर में व्याप्त तनाव, संत्रास आदि को भी महसूस करती है तो जानलेवा 'लावा' की तरह कभी भी फूट सकती थी। इसी को महसूस करती हुई वे लिखती हैं कि ''घर में व्याप्त तनाव जानलेवा था। हम तीनों के बीच क्रोध का लावा बड़ी खामोशी से बहता था। घर में आनेवाला हर व्यक्ति इस लावे की आंच को महसूस कर सकता था। मैं भरसक चेष्टा करती कि डॉक्टर साहब का परिवार सुखी रहे, उन्हें और उनके बच्चों को वह सब कुछ मिले जिससे वे मेरे कारण वंचित हो रहे थे।''[54] यह तो प्रकृति का नियम है कि किसी को दुखी कर सुखी के क्षणों को नहीं बटोरा जा सकता है। प्रभा खेतान और डॉ. सर्राफ के संदर्भ में इसे वैसे ही समझा जा सकता है। इसलिए प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''मैंने मिसेज सर्राफ को दुखी किया क्या इसलिए भगवान मुझे ऐसी सजा दे रहा है?''[55] इसी अपराध के लिए डॉ सर्राफ को भी वह उतना ही भागी समझती है। इसलिए डॉ. साहब को संबोधित करती हुई कहती हैं कि ''आपकी एक गलती है, एक विवाहित व्यक्ति को जिस मर्यादा में रहना चाहिए था, उसमें आप नहीं रहे।''[56] इन संदर्भो में प्रभा खेतान और डॉ. सर्राफ के जीवन को समझने का प्रयास किया जाए तो कहा जा सकता है कि सब कुछ होते हुए भी दोनों का निजी जीवन बहुत ही खोखला है, अकेलेपन से जूझती हुई जिंदगी है जिसका न कोई आदि और न कोई अंत ही है।

जिस प्रेम की दुहाई देते हुए प्रभा खेतान डॉ सर्राफ के साथ अपने संबंध को जायज ठहराती है वही बाद के दिनों में इस प्रकार लिखती हैं कि,''क्या यह देह का आकर्षण था। नहीं देह के लिए भला इतनी कीमत देने की क्या जरूरत? देह तो हर जगह उपलब्ध है, कहीं भी, किसी भी कोने में। तब मन का लगाव था? इसे प्रेम कहा जाए, हां–नहीं वैसे–वैसे सब कुछ देह से शुरू होता है। फिर पर्त दर पर्त धूल मन पर जमती चली जाती है। और फिर एक दिन प्रेम के मीठै से भी मन भर जाता है। बची रहती है एक रूग्ण निर्भरता।''[57] इसी रूग्ण निर्भरता के लिए प्रभा खेतान प्रेम और देह आकर्षण दोनों का सहारा लिया। क्या अन्य तरीका नहीं हो सकता? इतना ही उन्होंने इसी निर्भरता के लिए समाज के साथ परिवार एवं डॉ. सहाब के अपमान, अवमानना, उत्पीड़न, उपेक्षा, शोषण का शिकार होती है। इसी अपराध बोध को स्वीकार करती हुई प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''एक अवैध रिश्ते को जीकर दिखलाने के प्रयास का शायद यही हश्र होना था, इससे भिन्न और कुछ नहीं।''[58] अर्थात् मानवीय रिश्तों को प्रकृतिक रूप में स्वीकार करना और आत्मलोचन करना स्त्री आत्मकथाओं की खास विशिष्टता भी रही है जो किसी भी समाज में निजता और उसकी सामाजिकता दोनों को एक साथ स्वीकृति प्रदान करती है।

5.3 आर्थिक स्वालंबन और स्त्री–पुरुष का बदलता संबंधः

किसी भी समाज के समुचित विकास की नींव आर्थिक संसाधन का समान वितरण और स्त्री–पुरुष समान सहभागिता है। जिस भी समाज में ऐसा नहीं है वह समाज विकास की राह में बहुत पीछा है। स्त्री चिंतन ने दोनों ही पक्षों से इस पर विचार किया है। महादेवी वर्मा ने 'श्रृखंला की कड़ियां' भारतीय समाज की असमान आर्थिक व्यवस्था और स्त्रियों को परालंबी बनाने वाली मानसिकता का विश्लेषण करती हुई लिखती हैं कि, ''समाज ने स्त्री के संबंध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग से लेकर संपन्न वर्ग की स्त्रियों तक की स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है, वरन् अर्थ के संबंध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बंधन में बंधी हुई है। कहीं पुरुष ने न्याय का सहारा लेकर और कहीं अपने स्वामित्व की शक्ति से लाभ उठाकर उसे इतना अधिक परावलंबी बना दिया है कि वह उसकी सहायता के बिना संसार पथ पर एक पग भी आगे हनीं बढ़ सकती।''[59] अर्थात् आर्थिक असमानता और पुरुषवादी मानसिकता ने स्त्रियों को न केवल परावलंबी बनाई है बल्कि उसे आगे बढ़ने से रोका है। इसी का दूसरा पक्ष यह है कि पुरुषवर्चस्व की सत्ता हमेशा बनी रहे, इसलिए आर्थिक दृष्टि से स्त्रियों को पंगु बनाने वाली व्यवस्था बनाई। स्त्रियों को यदि आर्थिव अवलंबन की सुविधाएं मिल जाएं तो वह किसी के ऊपर भार नहीं बनेगी। स्त्री आंदोलन में आर्थिक पक्ष को रखने का यही आधार भी है। आर्थिक स्वावलंबन न केवल स्त्रियों के उचित विकास का मार्ग खोलता है बल्कि उसका सही समायोजन परिवार में स्त्री–पुरुष संबंधों को मजबूत करता है, लेकिन जब वहीं पुरुष स्त्रियों की मेहनत की कमाई पर हाथ मारने लगता है या उसे अपने लिए संरक्षित करने लगता है तो स्त्री–पुरुष संबंध कटुता में बदल जाता है। उन्हीं के अनुसार '' यदि उन्हें अर्थ संबंधी वे सुविधाएं प्राप्त हो सकें जो पुरुषों को मिलती आ रही हैं तो न उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुम्बियों के लिए

भार बन सकेगा और न वे गलित अंग के समान समाज से निकाल कर फेंकी जा सकेगी, प्रत्युत् वे अपनी शून्य क्षणों को देश की सामाजिक तथा राजनीतिक उत्कर्ष के प्रयत्नों से भर कर सुखी रह सकेंगी।''[60] अर्थात् स्त्रियों को पुरुषों की तरह अर्थ संबंधी समान सुविधाएं एवं अवसर मिलने लगेगी तो वह न कभी समाज में बोझ समझी जाएगी और न ही उनको गलित अंग के समान समझा जाएगा बल्कि वह समाज को शून्य से शिखर की ओर सामाजिक–राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में ले जाएगी। इस विकास क्रम में महादेवी वर्मा स्त्रियों को, जो पढ़ी–लिखी हैं, स्वावलंबन हैं, उससे स्त्री समाज की प्रतिनिधित्व करने की मांग करती हैं ताकि समाज विकास पथ पर अग्रसर रहे, नहीं तो समाज का अनिष्ट तय है। वे लिखती हैं कि ''इतनी शिक्षा, इतनी बुद्धि, इतने साधन, इतना अवकाश और स्वावलंबन पाकर भी यदि वे अन्य बहिनों की प्रतिनिधि न बन सकीं, यदि वे उनके त्यागमय जीवन को अवज्ञा से देखती रहीं तो सारे समाज का अनिष्ट होने की संभावना सत्य हुए बिना न रहेगी। उनके संकीर्ण समाज में प्रवेश न पा सकने के कारण अन्य स्त्रियां उनके गुरू उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ रहकर केवल उनके बाह्य शांतिपूर्ण जीवन से ईर्ष्या कर अपने जीवन को दुर्वह बना डालती हैं।''[61] अर्थात् शिक्षित, स्वावलंबित और अवकाश प्राप्त स्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वह समाज की अन्य बहनों का प्रतिनिधित्व करतीं हुई उनको विकास के साथ जोड़ें, अन्यथा वह समाज के लिए विकट संकट की स्थिति की खड़ा कर सकती हैं। स्त्री आत्मकथाओं में आर्थिक स्वावलंबन की बात कही गई है लेकिन उसकी प्रतिनिधित्व का आधार अभी तक तैयार नहीं हुई। व्यवसाय और राजनीति में प्रतिनिधित्व का सवाल तो उठा है और उसका प्रतिनिधित्व भी किया गया है लेकिन उसका विकास अभी देखना बाकी है। राजनीति में स्त्री प्रतिनिधित्व का सवाल आज भी अधर में लटका है और राजनीति पार्टियों में स्त्री की स्थिति चिंताजनक है तो इसका कारण स्वयं का नेतृत्व न होना है वह अभी भी पुरुष नेतृत्व की पार्टी का अंग है।

शीला इन्द्र ने अपनी आत्मकथा 'क्या कहूं क्या न कहूं' में स्त्रियों की आर्थिक स्वावलंबन और स्वतंत्रता को चिह्नित करती हुई लिखती हैं कि, ''आज औरत आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनी हैं और अपना रख रखाव वह अपनी इच्छा से कर सकती हैं, किंतु आर्थिक स्वतंत्रता अथवा दैहिक स्वच्छंदता के नाम पर औरत को सभी कुछ सुखद नहीं मिला है। ... पत्नी के आत्मनिर्भर होते ही संरक्षण देने की वह मनोवृत्ति शनै–शनै क्षीण होने लगी। अब कहीं–कहीं यह भी देखा गया है कि पत्नी का वेतन तो आता है, तो उसके हाथ में रूपया क्यों रखा जाए? फिर यह भी धौंस कि ''मैडम ये न सोचना कि घर तुम्हारी कमाई से चलता है, ये घर मेरा है और मैं चलाता हूं। इस पर पत्नी यदि नौकरी छोड़ना चाहे तो भी नाराजगी, ''अगर रिजायन किया तो फिर इस घर में मत घुसना जहां भी सींग समाए, चली जाना।''[62] इस प्रकार कहा जा सकता है कि सिर्फ आर्थिक स्वावलंबन और स्वतंत्रता से ही स्त्रियों को जीवन का सुख नहीं प्राप्त हो सकता है बल्कि पुरुष संरक्षण वाली मानसिकता खत्म होने की जरूरत है। अन्यथा वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था और मानसिकता से मुक्त हुए बिना सही मायने में मुक्त नहीं हो सकता है। अशिक्षित स्त्रियां तो कम से कम घेरलू हिंसा होने पर या पति द्वारा प्रताड़ित किए जाने पर आवाज उठाती हैं लेकिन पढ़ी–लिखी स्त्रियां तो केवल पति की मार खाकर रह जाती हैं। इस संदर्भ को उजागर करती हुई शीला इन्द्र लिखती हैं कि ''कौन कहता है कि आज औरत अपने पति से मार नहीं खा रही है? बिना पढ़ी

मूर्ख औरत यदि पति से मार खाती है तो चीख चीखकर पूरा मुहल्ला सिर पर उठा लेती है। लोग तमाशा देखते हैं। पढ़ी–लिखी शर्मदार औरत मार खाती है तो किसी को खबर भी नहीं होती और दूसरे दिन काम पर जाने पर, पूछने पर कह देती है, ''ठोकर लग गई थी, गिर गई थी।''[63] यह जो मार खाई स्त्रियां 'ठोकर लग गई थी गिर गई थी' कह कर पितृसत्तात्मक व्ययवस्था और मानसिकता को ही बढ़ावा देती हैं। इस तथ्य की स्वीकारता, मानसिकता और परिदृश्य को बदले बिना तो स्त्री मुक्ति का सपना अधूरा ही कहा जा सकता है।

21वीं का समाज एकल परिवार की अवधारणा पर चल रहा है। इसमें संयुक्त परिवार की अवधारणा तो टूटती ही है लेकिन इसी के साथ स्त्रियों की स्थितियां भी बदली हैं। इस प्रक्रिया में स्त्रियां कहीं न कहीं अभिशप्त जीवन को प्राप्त किया हैं। संयुक्त परिवार में स्त्रियों की स्थिति अलग रही हैं और एकल परिवार में अलग रही है। इसी बदलाव को शीला इन्द्र इस प्रकार से रेखांकित करती हैं कि, ''और देखते–देखते उस बड़ी रसोई की जगह, हर कमरे के सामने, हर परिवार की अपनी अलग रसोई बन गई, मिट्टी का चूल्हा बन गया। उन बड़े बर्तनों के स्थान पर छोटी बटलोइयां और कढ़ाइयां आ गईं। वे बड़े–बड़े थाल, जिनमें रात को सारे मर्द एक साथ खाना खाते थे और उन्हीं के बाद में घर की औरतें खाती थीं, न जाने कहां गए, उनके स्थान पर छोटी थालियां आ गईं, जिनमें अपने–अपने कमरों में पति–पत्नी साथ बैठकर खाने लगी।''[64] निश्चय ही यह आर्थिक स्वावलंबन और एकल परिवार की अवधारणा में स्त्री–पुरुष संबंध का रेखांकन है जो लगातार उतार–चढ़ाव के बीच बनता–बिगड़ता है। इसका सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रभाव समाज में देखने को मिलता है। इस बदलते हुए परिदृश्य को देखकर शीला इन्द्र ने बहुत ही अच्छी बात कही हैं कि '' वैसे भी दूसरे की जिंदगी का सही गलत, नीति सिद्धांत तय करने वाले हम कौन होते हैं। ... दुनिया मुझसे पहले भी थी, दुनिया मेरे बाद भी रहेगी, मुझे क्यों लगा था कि मैं... सिर्फ मैं हूं, इस जंग के आगोश में..।''[65] अर्थात् दूसरों की जिंदगी का फैसला करने वाला कोई नहीं होना चाहिए। स्वयं ही अपनी जिंदगी का नेतृत्व करने की क्षमता विकसित करना चाहिए। उसमें कहीं भी 'मैं हूं' इसलिए ऐसा होता है,' की भावना नहीं होनी चाहिए। मानव मात्र की भावना से सहयोग व विकास की धारणाएं बनानी चाहिए। यह बदलाव की प्रक्रिया है और लगातार चलने वाली है। इसी कड़ी में रमणिका गुप्ता की यह बात बहुत ही मार्मिक है कि ''मुझे बदलाव प्रिय है।''[66] दरअसल बदलाव मनुष्य ही नहीं प्रकृति में भी आवश्यक है। जीवन में बदलाव मनुष्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। बदलाव का भी अपना रूप है जो कई स्तरों पर हो सकता है– शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक आदि। प्रत्येक स्थिति में मनुष्य पर अलग–अलग तरह का प्रभाव ये परिस्थितियां डालती हैं और मनुष्य में बदलाव से सभी का अपना–अपना प्रभाव भी है।

बदलाव और स्वीकारोक्ति दोनों का भाव स्त्री आत्मकथाओं में उभर कर आया है। स्त्री जीवन में बदलाव का आशय यह कतई नहीं है कि 'स्त्रीत्व' को खत्म कर लेना। वह स्त्रीत्व को स्वीकार करती हुई ही आगे बढ़ना चाहती हैं। वह स्वयं को स्वीकार करती हैं कि मैं एक स्त्री हूं, पुरुष नहीं। रमणिका गुपता अपनी आत्मकथा 'आपहुदरी' में लिखती हैं कि '' मैंने अपने भीतर की स्त्री के स्रोत को कभी खत्म नहीं होने दिया।' तो

इसका आशय स्त्रीत्व की स्वीकृति है। यह प्रकृति प्रदत्त है। विरोध या विद्रोह तो वर्चस्व की सत्ता में मर्दवादी व्यवस्था या मानसिकता की है। 'भला मेरी स्त्री कैसे उन रूढ़ियों या बंधनों से बंधकर खुद को गंदला होने देती जिन्हें मैंने हमेशा नकारा और तोड़ा। मैं कितना नकार पाई, कैसे नकारा, वह सही था या गलत –ये आप बताइए।''[67] अर्थात् बदलाव की प्रक्रिया में स्त्रियों ने कितना मनुष्यत्व को जिंदा रखा और कितना वर्चस्व की सत्ता को खत्म किया अथवा कितना वर्चस्व की सत्ता की कर्मकांड, रूढ़िवाद, जड़ता और वर्षो से परंपरा के नाम पर चली आ रही स्त्री विरोधी संस्कृति का अंत किया है। यह समय की कसौटी पर स्त्री जीवन के संघर्ष और आंदोलन के रूप में कसने की जरूरत की बात कह रही है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि स्त्री जीवन के बदलाव को समय–सापेक्ष ही देखा–समझा जाना चाहिए। बदलाव का निणर्य भी मानव और मनुष्यत्व की कसौटी पर ही किया जाना चाहिए। निश्चय ही इसमें सत्ता–वर्चस्व का दृष्टिकोण और मानसिकता काम करती है लेकिन किसी भी समाज में सबसे अच्छा मानदंड मानव और मनुष्यत्व ही हो सकता है। इसलिए रमणिका गुप्ता लिखती है कि ''निष्कर्ष निकालते समय याद रहे कि आप पहले मनुष्य हैं। मनुष्य की कसौटी मानवता है, न कि समाज के नियम या कानून। उन्हें तो मनुष्य ही बनाता है, मनुष्य ही बदलता है।''[68] अर्थात् विकास का मानदंड कोई एक वर्ग या समूह नहीं होना चाहिए। मानव मात्र का विकास और उसकी तरक्की को समझा जाना चाहिए। मानव व मनुष्यत्व केंद्रित बदलाव को ही स्वीकार किया जाना चाहिए। स्त्री चिंतन व विमर्शकार–चिंतक मनुष्यता पर बल देती नजर आ रही है। मनुष्य ही केद्र में होता है। मनुष्य ही सर्वोपरी है और तमाम तरह के नियम–कानून मनुष्य के लिए ही बनते बिगड़ते हैं। बनाए और तोड़े जाते हैं। लेखिका न केवल अपने लिए मनुष्यता की मांग समाज से करती है अपितु पूरे समाज के लिए मनुष्यता की मांग करती नजर आती हैं। किसी भी व्यक्ति को स्त्री पुरुष के कठघरे में खड़ा न कर सर्वप्रथम मनुष्य होने और मनुष्य को मनुष्य समझने पर बल देती है। वे लिखती हैं कि,'' यदि लड़की बड़ी होती है तो लड़की की जमात बड़ी होती है, केवल उसका व्यक्तित्व नहीं। उसके साथ–साथ उसके संस्कार, ग्रथियां, भय और संकल्प भी बड़े होते हैं और कभी–कभी लड़की इन सबसे आगे बढ़ जाती है। मैं आगे बढ़ने के लिए दौड़ी या दौड़ने के लिए दौड़ी, ये घटनाएं बताएंगी, जिनसे मैं घटती रही या जिन्हें मैं उलांघती गयी।''[69] अर्थात् इस प्रकार कहा जा सकता है कि लड़की या स्त्री भी मानव है और विकास की तमाम कसौटी मानव केंद्रित होनी चाहिए।

पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री को पुरुषों पर आश्रित रहने के लिए समाज में हर एक व्यवस्था कर रखी है। बचपन से ही एक स्त्री को उसके स्त्री होने को बोध उसके मन मस्तिष्क में करा दिया जाता है। स्त्री जिस पुरुष समाज से शोषित और प्रताड़ित होती है पुनः उसी में उसी के सहारे में अपनी सुरक्षा ढूंढ़ने लगती है। बचपन से पितृसत्तात्मक व्यवस्था से ओत प्रोत उस स्त्री का स्त्री रूपी मन मनस्तिष्क भी सोचने के लिए मजबूर होता है। उस खूसट आर्य समाजी मास्टर रूपी 'पुरुष' से घृणा करती स्त्री को अंततः एक पुरुष रूपी राजकुमार ओर शहजादा की ही आवश्यकता महसूस होती है। उस डरी सहमी स्त्री सोचती हैं कि '' मेरे भीतर कोई शहजादा राजकुमार या नाईट बसता था जो मेरे भीतर बैठी एक डरी डरी सी लड़की को मुक्ति दिलाने के लिए सदैव तप्पर रहता था। मेरे कानों में राजकुमार की आहट अनवरत गूंजती थी। पता नहीं क्यों एक अंतरंग साथी

बनकर एक पुरुष मेरी मदद में आ जाता था, जबकि पुरुष से ही त्रस्त थी मैं।''[70] अर्थात् स्त्रियां पुरुष से त्रस्त हैं लेकिन पुरुष साथी की उसे तलाश भी। इसे यूं कहें कि स्त्री को एक पुरुष साथी की जरूरत है और पुरुष को एक स्त्री साथी की, लेकिन 'मर्दवादी' पुरुष की नहीं। पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा स्त्रियों के लिए बनाई गई 'दोहरे मापदंड' की कसौटी को खारिज करती हुई रमणिका गुप्ता स्त्रियों को अपराधी बनाने वाली मानसिकता को खत्म करने की बात कहती हैं। उससे मुक्त होने की बात करती हैं। इएलिए वे लिखती हैं कि ''इस ग्रंथियों से उबरना इतना आसान नहीं था। ... मनुष्य जिसमें स्त्री पुरुष दोनों शामिल है उनके दोहरे मापदंडों को समाप्त करने का उद्यम मेरी थी और मैंने, मेरी स्त्री ने सबसे पहले अपने मापदंडों पर जीना शुरू किया। ऐसे मापदंड किसी बाधा को स्वीकार नहीं करते। मैंने तय किया कि मैं किसी का औजार नहीं बनूंगी। प्रायः स्त्रियों को हथियार या औजार की तरह पुरुष उपयोग करता है। मेरे अनुभव ने मुझे सिखाया औजार मत बनों।''[71] अर्थात् 'मनुष्यता और मानव जाति पर बल देती स्त्री, स्त्री–पुरुष के दोहरे मानदंड को चुनौती देती है। इसके बीच आने वाली हर एक बाधा को अस्वीकार करती है। स्त्री जाति को औजार नहीं बनने की प्रेरणा देती है। पुरुष जिस चीज को स्त्री की कमजोरी समझता है उसे तुम (स्त्री जाति) हथियार बनाओ। अपने जीवन के अनुभव को साझा करती हुई कहती हैं कि किसी का औजार मत बनो, स्वयं जीवन को वृहद फलक देने का प्रयास करो।

स्त्रियां घर–बाहर कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। घर के बीच अपने और नौकरों से तो बाहर सहकर्मियों की 'मर्दवादी मानसिकता' के कारण अपराध बोध में जीती है। कभी सामाजिक डर तो कभी शुचिता के हनन का खतरा से उपजा अपराधबोध। यह वर्तमान में दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। ये डर और अपराधबोध दोनों ही पितृसत्ता की उपज है जिसे उसने अपने लिए बनाया और स्त्रियों को गुलाम बनाने के लिए उसका हथियार की तरह इस्तेमाल किया है। इन परिस्थितियों से गुजरती हुईं स्त्रियों ने इससे मुक्त होने का उपाय बतायी हैं। रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि, ''इस शुचिता या कौमार्य को बचाने की फिराक में ही औरत जीवन भर खुद को अपराधी मानती रहती है। शुचिता का बोध तो मेरे मन में बचपन से ही भर दिया गया था जबकि मेरी यह शुचिता कभी सुरक्षित ही नहीं रही। विरले ही कोई स्त्री होगी जिसकी शुचिता समाज ने सुरक्षित रहने दी हो, यह भी एक सत्य है।''[72] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह एक स्त्री अपने कौमार्य की रक्षा हेतु इस पितृसत्तात्मक समाज में जीती है और आजीवन संघर्षरत रहती है। इसके बावजूद जिस स्त्री की शुचिता का हनन होता है वह अपराध बोध की भावना में जकड़ जाती है। स्त्री की सुरक्षा पर समाज की नाकामयाबी के सत्य की कलई खोल देती है जब एक स्त्री कलम रूपी हथियार को साध लेती है और समाज के सत्य को उजागर करती है।

आर्यसमाजी मास्टर रूपी 'पुरुष' स्वयं अपराधी था और वह स्वयं तो इस अपराध से मन मस्तिष्क से मुक्त था परंतु स्त्री को अपराध बोध की ग्रंथी में जकड़े रहने के लिए बाध्य करता रहा है। जिससे वह स्त्री अपने परिवार के समक्ष भी अपनी पीड़ा कुंठा, त्रासदी को नहीं रख पाती है। एक साथ कई तरह के सवाल वह स्त्री इस समाज के समक्ष इस पाठक गण के समक्ष प्रस्तुत करती है, जिसे वह सही गलत हर तरह के फैसले के लिए पूरी तरह स्वतंत्र रखती है। पहला प्रश्न उस सामाजिक व्यवस्था पर कुठाराघात है जिस समाज में पल–बढ़

कर आर्य समाजी जैसे मास्टर बनते हैं और हमारे बीच रहकर हमारे ही बहु–बेटियों को लुटकर हीन ग्रंथी की बेड़ी में जकड़ कर बांध देते हैं और आजीवन उस स्त्री का शोषण कभी चोरी छिपे तो कभी ठीठ बनकर करते हैं। दूसरे उस परिवार के ऊपर प्रश्नचिह्न लगाती है जो सुरक्षा का गारंटी तो देता है, परंतु अपनी जिम्मेदारी के निर्वहन करने में असफल रहता है। तीसरा धर्म पर भी एक स्त्री का कुठाराघात है, प्रश्न है क्या हमें धार्मिक होना चाहिए या धर्म की आड़ में अंधविश्वासी जो हमारे नाक के नीचे हमारे परिवार के बीच रहकर हमारी बच्चियों का शोषण करें? कितनी बड़ी बिडम्बना है कि एक स्त्री को ना तो सामाजिक ना ही पारिवारिक व्यवस्था जिस वह अपना कहती है और ना ही धार्मिक व्यवस्था उस स्त्री को सुरक्षा दे पाती है। क्या एक स्त्री को सुरक्षित रहने का, स्वतंत्र रहने का अधिकार नहीं? सुरक्षा के नाम पर क्यों स्त्री को किसी पुरुष का ही मुंह जोहना पड़ता है। क्यों हमारा समाज स्त्री को साफ स्वच्छ वातावरण देने में असमर्थ हो रहा है? आज हम 21वीं शदी में जी रहे हैं और 22वीं सदी में प्रवेश करने जा रहे हैं। हमारा समाज तरक्की का ढिंढ़ोरा पीट रहा है। हमारा देश विश्व तरक्की कर रहा है परंतु स्त्रियों की सुरक्षा के मामले में नीचले से नीचले पायदान पर हम अपने आप को क्यों खड़े पाते हैं? आखिर क्यों? इन सवालों को सहजता से ही स्त्री आत्मकथाओं में समझा जा सकता है। इन सवालों के संदर्भों में समाज के विकास को निर्धारित करना होगा। और इस सारे सवालों का उत्तर खोजना हमारा कर्तव्य है। ये सारे प्रश्न समाज को सोचने और उसे बदलने को मजबूर करता है कि देखों हम कहां है। कहां से कहां चले हो और कहां आ गये। ''वैसे भी सामंत घरों में मर्दों की ऐय्याशी के खिलाफ औरते प्रायः बोलती नहीं थीं। वे जानकर भी अनजान बनी रहती थीं। दरअसल ये सब मर्द की मर्दानगी के गुण माने जाते थे। चूंकि घर में पापा जी ने बीवी जी को ज्यादा ही आदर और अधिकार दे रखा था, इसलिए वे इन मामलों में अधिक संवेदनशील और पजेसिव थीं।''[73] इसका मतलब यह है आज भी 21वीं सदी में हमारा समाज सामंती कसैटियों को ढो रहा है। वह बाजार में उन्हें बिकाऊ माल की तरह प्रस्तुत करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ रहा है। सामंती युग की कसौटियां आज भी बाजार में बीक रही हैं।

परिवर्तन हमेशा समाज और समय सापेक्ष होता है। स्त्री जीवन में जो परिवर्तन दिखाई देता है। ''जो कुछ वे बचपन से अपने मायके एवं ससुराल मे देखती रहीं, वहीं उनकों सही लगता। शिक्षा ही उन्हें इस शोषण, और अपराधबोध, हीनताबोध आदि से मुक्त कर सकता है। आर्थिक स्वावलंबन और उसका सही समायोजन ही स्त्री जीवन को बदल सकता है। भूमंडलीकरण और औद्योगिक संस्कृति के कारण स्त्री–पुरुष दोनों की स्थिति बदली है। लेकिन इस बदलाव के बावजूद भी स्त्रियों का शोषण बंद नहीं हुआ तो इसके कारकों की खोज जरूरी है। तकनीकी परिवर्तन के कारण स्त्रियों की स्थिति में भी परिवर्तन आया है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि ''जो आविष्कार उत्पादन तकनीकों को प्रभावित करते हैं वही व्यवसायीकरण की प्रक्रिया को तथा बाजारी शक्तियों के उदय एवं ग्रामीण समाज की सरंचनाओं को भी प्रभावित करते हैं।''[74] इस संदर्भ में तीसरी दुनिया के ग्रामीण क्षेत्रों की स्त्रियों की अधीनता के दो पहलू हैं। पहला, स्त्रियां उन परिवारों की सदस्य होती हैं जिनका भूमि पर मालिकाना हक में, उत्पादन के अन्य साधनों में तथा मजदूरी आय में अंतर होता है। इसलिए उनके काम करने की स्थितियां जमीन और आजीविका के संदर्भ में पारिवारिक आजीविका की रणनीतियों पर

निर्भर होती हैं। भूस्वामित्व तथा कृषि उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन, विभिन्न ग्रामीण परिवारों और उनमें महिलाओं द्वारा किए जाने वाले काम को विभिन्न से प्रभावित करता है। दूसरा ग्रामीण परिवार, समानता पर आधारित सामाजिक इकाईयां नहीं होती हैं, बल्कि ये लिंग तथा उम्र के प्रभुत्व और अधीनता के संबंधों पर टिके सामाजिक ढांचे हैं। इसी का परिणाम यह होता है कि बढ़ती उम्र के साथ यह प्रभुत्व और अधीनता और ही बढ़ता चला जाता है, जो कि स्त्री–पुरुष के नैसर्गिक संबंधों को प्रभावित करता है।

प्रकृति में नर और मादा दोनों की समान स्थिति है और दोनों में सम–सह का संबंध रहा है। सम–सह संबंध और समतामूलक समाज के निर्माण में कई तरह की समस्याएं हैं। यह समस्याएं सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक होने के साथ साथ मानसिक भी हैं। श्यामचरण दुबे के अनुसार स्त्री–पुरुष संबंध समानता का होना चाहिए लेकिन राजनीति और सामाजिक व्यवस्था के कारण स्त्री–पुरुष संबंध असमानता पर टिका हुआ है। वे लिखते हैं कि ''सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था स्त्री–पुरुष असमानता को जारी रखने की ओर झुकी होती है। ऐसा लगता है कि समानता का अभियान लंबा और कष्टप्रद होगा।''[75] वहीं देवेन्द्र चौबे के अनुसार यह समस्याएं स्त्री की निर्भरता और स्वयं की पहचान न होना हैं। उन्हीं के शब्दों में ''वस्तुतः हमारी सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी है कि स्त्री जीवन के हर मोड़ पर पुरुष का सहयोग प्राप्त करने को विवश है। बिना पुरुष के उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है। किसी स्त्री का जब भी परिचय दिया जाता है तो किसी की पुत्री, किसी की पत्नी या किसी की मां के रूप में। यह नहीं कहा जाता है कि अमुक स्त्री अमुक पद पर कार्यरत है बल्कि यह कहा जाता है कि अमुक महिला अमुक की पुत्री, पत्नी या मां है।....समाज में स्त्री की अपनी कोई पहचान नहीं होती है।''[76] अर्थात् स्वयं स्त्री की कोई पहचान न होना ही एक बड़ी समस्या है और यह समस्या स्त्री–पुरुष संबंध को प्रभावित करती है। स्त्री–पुरुष संबंध में समानता के लिए स्त्री के स्वयं की पहचान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

स्त्री–पुरुष संबंधों का एक नवीन आधार है मैत्री। बदलते समय के साथ स्त्री–पुरुष संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। अभी कुछ समय पहले तक स्त्री पुरुष की पत्नी, प्रेमिका, रखैल या वेश्या के रूप में जानी जाती थी। अब यह सिद्ध हो चुका है कि इन संबंधों से अलग स्त्री पुरुष का मित्र भी हो सकता है। उनका यही सखा–सखी का संबंध सृजनात्मक होता है और व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्त्री–पुरुष के जितने भी संबंध हैं उन सबका इसमें समावेश है। मां–बेटे, बाप–बेटे, भाई–बहन, प्रेमी–प्रेमिका सब संबंधों के बीच मैत्री संबंध है और यही संबंध सभी संबंधों को आधार प्रदान करता है। उसका निर्माण करने वाला है। उसे जीवंता प्रदान करता है। जीवन गतिमान है। वह विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के बीच गतिशील रहता है। जीवन की गतिशीलता विभिन्न सामाजिक संस्थाओं से गुजरती हुई अंतिम रूप में प्रेम से संबंद्ध हो जाती है लेकिन प्रेम की नवीन अवधारणा क्या है। इस पर अभी समाज का रूख तय नहीं है। मगर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि जीवन में प्रेम कभी खत्म नहीं होता है वह किसी न किसी रूप में जीवन में हमेशा विद्यमान रहता है। जीवन का यह प्रेम ही मनुष्य की सभ्यता–संस्कृति

को सुरक्षित और संरक्षित रखता है। प्रेम का स्वरूप समाज के विभिन्न देशकाल में विभिन्न रूपों में पाया जाता रहा है। यह अवधारणा ही समाज की विभिन्न संस्कृति को विभिन्न युग में जीवित रखा है। सामाजिक जटिलताओं के कारण ही स्त्री–पुरुष संबंध प्रभावित हो रहा है जिसमें सामाजिक संरचना, उसका स्वरूप, उसकी अवधारणा और मानसिकता भी एक साथ सामिल है और सामाजिक संस्कृति इसे संरक्षित करती है।

स्त्री–पुरुष संबंध न केवल समाज का बल्कि प्रकृति का, सृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण और सबसे अलग संबंध है। यह संबंध ही सृष्टि का सर्जक और उत्पादक एवं विकास का आधार है। नर–नारी के बिना यह सृष्टि शून्य है। इसलिए स्त्री–पुरुष संबंध, नर–नारी संबंध सृष्टि के निर्माण काल से लेकर आज तक विभिन्न देशकाल सापेक्ष विकसित होता रहा है। जिस समाज में स्त्री–पुरुष संबंध जितना ही मजबूत और स्वस्थ्य होता है वह समाज उतना ही विकसित माना जाता है। इस संबंध की व्याख्या विभिन्न देशकाल में विभिन्न संदर्भों में किया जाता रहा है, जैसे–सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्री–पुरुष संबंध सिर्फ शारीरिक संबंध नहीं है वह एक आत्मिक संबंध है। एक अनुभूति है। वहीं यह बातें सोचने वाली है कि वह आत्मा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा परमात्मा के अधीन रहती है। परमात्मा पुलिंग है और आत्मा स्त्रीलिंग। आत्मा को परमात्मा के अधीन रहना ही भारतीय समाज की सामाजिक संरचना की देन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्त्री को पुरुष के अधीन रखा गया है। यहां सहमति और असमति प्रकट किया जा सकता है लेकिन यह तो तय है कि यह संबंध और यह व्याख्या संबंध को आध्यात्मिक और दार्शनिक आधार प्रदान करती है जो भारतीय संस्कृति की देन है। यही कारण है कि भारतीय समाज में स्त्री को कभी देवी रूप बता कर उसकी पूजा तक भी की जाती रही है, वहीं वह सबसे ज्यादा अभिशप्त रूप में जीवन जीने को भी मजबूर रही हैं। यदि स्त्री–पुरुष संबंध के इस अभिशप्त जीवन को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज की संरचना में ही स्त्री को पुरुष के अधीन कैद करने वाली बात निहित है, जिसके कारण आज तक स्त्री मुक्त नहीं हो पाई है। वह काफी जटिल और परिवर्तनशील भी रही है। समय सापेक्ष आधुनिकता के बीच स्त्री–पुरुष संबंध बदलता भी रहा है और संक्रमित भी होता रहा है। उन्होंने मानवीय संबंधों को हर स्तर पर प्रभावित किया है। बकौल राजेन्द्र यादव ''लेकिन संबंधों के क्षेत्र में सबसे अधिक भीषण संक्रांतियों से गुजरना पड़ा है नारी और पुरुष के आपसी संबंधों को।''[77] इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज में स्त्री–पुरुष संबंध विभिन्न काल में बदला तो जरूर है लेकिन वह उतना ही प्रभावित भी रहा है। यही कारण है कि, महादेवी वर्मा के अनुसार ''पवित्र देव मंदिर की अधिष्ठात्री देवी भी बन चुकी है और अपने गृह के मलिन कोने की बंदिनी भी।''[78] अधिष्ठात्री और बंदिनी दोनों ही स्वरूप में वह पुरुषों के अधीन रही है। स्वतंत्र कभी भी वह अपनी पहचान नहीं बना पाई। आधुनिक स्त्री विमर्श के आयने में देखा जाए तो स्त्री–पुरुष संबंध में स्त्री की स्वतंत्र पहचान ही पहली प्राथमिकता है।

आधुनिक समाज के बदलते हुए ढांचे ने नारी और पुरुष के परंपरागत संबंधों में परिवर्तन किया है। बड़े–बड़े उद्योगों व नौकरशाही संस्थाओं ने जिस अर्थव्यवस्था को जन्म दिया है उसके कारण भी स्त्री–पुरुष

संबंधों में भी बदलाव आया है वहीं स्त्री–पुरुष के संबंधों में परिवर्तन का अन्य कारण है नारी की जागरूकता। इस जागरूकता में पुरुषों की भी भूमिका रही है। पुनर्जागरण काल से लेकर स्वातंत्र्योतर काल तक में नारी की स्थिति में जो सुधार आया है, वह उसी का परिणाम है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक सभी क्षेत्रों में नारी ने प्रगति की है। राजेन्द्र यादव के अनुसार विभिन्न मानवीय संबंधों में स्त्री पुरुष का अपना एक विशिष्ट स्थान है। ''व्यक्ति–व्यक्ति के संबंधों में सबसे अधिक जटिल नाटकीय और अनिवार्य संबंध स्त्री–पुरुष का आपसी संबंध है, इसलिए वही लेखक को असाधारण रूप से आकर्षित भी करता है। मानवीय भावनाओं के तीव्रतम आलोरन, किसी हद तक खतरनाक उथल–पुथल इसी संबंध के आस–पास बुने जाते हैं।''[79] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि समाज में सभी संबंधों में सबसे ज्यादा मानवीय भावनाओं से यही संबंध जुड़ा है और वही सबसे ज्यादा प्रभावित भी हुआ है।

समाज के निर्माण में स्त्री–पुरुष दोनों की समान भूमिका रही है। लेकिन ज्यों–ज्यों समाज विकास की ओर उन्मुख होता गया, स्त्री सीमित होती चली गई और पुरुष का दायरा फैलता चला गया। स्त्री को घर के काम में सीमित करता चला गया और पुरुष को स्वच्छंद रखता चला गया। यह सब कुछ पुरुषों के द्वारा घर, परिवार और समाज में अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए तथा स्त्री को संपत्ति सत्ता से दूर बेदखल करने के ख्याल से किया जा रहा था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है स्त्री चहारदीवारी के भीतर सीमित होती चली गई और पुरुष चहारदीवारी के बाहर उन्मुक्त होता चला गया। यह सब कुछ एक व्यवस्था के अधीन हो रहा था जिससे स्त्री अनभिज्ञ थी। समाजिक संरचना में स्त्री की भूमिका हमेशा से पुरुषों के अधीन रहा है। खासकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था में तो यह देखा ही जाता है। श्यामाचरण दुबे ने स्त्रियों पर नियंत्रण को रेखांकित करते हुए स्त्री नियंत्रण से स्त्री–पुरुष संबंधों को स्पष्ट किया है और उसकी निर्भरता को भी उजागर किया है। स्त्री नियंत्रण के नियम के तहत स्त्रियों को नियंत्रित किए जाने वाले क्षेत्रों को स्पष्ट किया है। जिसमें यौन संबंध–यौन संबंध के नियंत्रण में प्रजनन संतानोत्पत्ति का नियंत्रण सन्निहित है। उसके बाद स्त्रियों के आने–जाने और लोगों से मिलने–जुलने पर भी प्रतिबंध है। स्त्री के संसाधनों के लिए विनियमन और नियंत्रण की आवश्यकता होती है। ''ये नियंत्रण किस तरह लागू किये जाते हैं यह बहुत कुछ सामाजिक संरचना, निर्धारित भूमिका, नैतिक मूल्यों तथा सामाजिक नियंत्रण की कठोरता अथवा लचीलेपन पर निर्भर करता है। स्त्री–पुरुष संबंध के समीकरणों का निर्माण तथा पुनर्निर्माण बहुत कुछ ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों की परस्पर क्रिया पर निर्भर करता है।''[80] अर्थात् स्त्री–पुरुष संबंधों का समीकरण समाज के निर्माण और समाज के ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों की क्रिया–प्रक्रिया पर निर्भर करता है। इन सब सामाजिक तत्वों पर स्त्री–पुरुष में जिसका अधिकार व वर्चस्व होता है। संबंधों का संचालन उनके अनुरूप होता है। इस आलोक में देखा जाए तो भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज है। पितृसत्तात्मक समाज है। जाहिर सी बात है कि इस समाज में स्त्री पुरुष के अधीन है और जब स्त्री सचेतन होकर अपने अधिकारों की मांग करती है तो स्त्री–पुरुष में बदलाव होता है और यह होना स्वाभाविक है और सामाजिक विडम्बना है कि एक ही समाज में स्त्री बंधी हुई हैं और पुरुष स्वच्छंद हैं।

समाज में स्त्री–पुरुष संबंध के बिखराव का एक कारण समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। ''भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विशेषता है पितृसत्ता। पितृसत्ता पुरुष के प्रभुत्व और स्त्री की अधीनता को मान्यता देती है। निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्त्री की उपस्थिति स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती यद्यपि अनुभवी दृढ़ इच्छा शक्तिवाली और परिपक्व स्त्रियां अपनी बात जोर देकर कहती है लेकिन वे प्रायः पृष्ठभूमि में रहती है। घरेलू समूह की राजनीति में स्त्रियों की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता, लेकिन अंतिम विश्लेषण में वे पुरुष प्रभुत्व पर गंभीरतापूर्वक कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाती।''[81] इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में स्त्री आत्मनिर्भर की स्थिति में नहीं है। आत्मनिर्भर न होने के कारण उसकी पुरुष पर निर्भरता है। यह निर्भरता सिर्फ आर्थिक ही नहीं होती है बल्कि इससे बढ़कर सामाजिक–सांस्कृतिक धार्मिक मान्यताओं पर आधारित होती है। जो उसे मानसिक रूप से निर्णय देने की स्थिति में आने ही नहीं देती है, क्योंकि आर्थिक रूप से संपन्न होने के बावजूद भी स्त्रियां यदि निर्णय लेने की भूमिका में नहीं होती हैं तो इसका कारण है कि वर्षों से पुरुषवादी व्यवस्था और उसकी संस्कृति के द्वारा स्त्रियों की तैयार की गई मानसिकता है जो कभी भी उसे उससे मुक्त नहीं होने देती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में स्त्रियां न तो स्वाधीन हैं और न ही उसे स्वाधीन होने दिया जा रहा है। स्वाधीनता के अभाव में वह अपना जीवन खुलकर नहीं जी पा रही है और न ही समाज उसे खुलकर जीने की इजाजत देता है। वह पारंपरिक रूप से अपना जीवन यापन करती आ रही है और वैसा ही जीना चाहती है। इस संदर्भ में हेमलता महीश्वर लिखती हैं कि पारंपरिकता के साथ लोगों का बहुत बड़ा वर्ग होता है। स्वाभाविक है कि गैर पारंपरिक समूह बहुत थोड़े लोगों का होता है और पारंपरिक लोगों द्वारा कटु आलोच्य होता है। यही पारंपरिक लोग अपनी आस्था पर प्रहार बर्दाश्त नहीं कर सकते और गैर पारंपरिक लोगों को किसी भी तरह का नुकसान पहुंचाने को तत्पर होते हैं।''[82] अर्थात् जैसे ही स्त्रियां पारंपरिक जीवन को चुनौतियां देती हैं उन पर प्रहार होने लगता है। उन्हें भय, डर आदि से असुरक्षित कर दिया जाता है जिसके कारण वह पुनः उससे मुक्त होने की कोशिश नहीं करती हैं। परंपरा जनसामान्य के बीच सदैव अपने समय की चुनौतियों को स्वीकारती और उसे स्वयं में समाहित करती हुई चलती है। उसे भाषा–बोली, खान–पान और रहन–सहन आदि किसी भी स्तर पर आ रहे समसामयिक परिवर्तन को स्वीकार करने में कोई परेशानी नहीं होती। वह पूरी उदारता के साथ स्वयं को लचीला बनाए हुए अपने अस्तित्व को न केवल स्पंदन प्रदान करती है बल्कि अतीत जीवी होने से रोकती है। किंतु यही संस्कृति जब अभिजनों के बीच होती है तो अपनी तमाम भौतिकता के बावजूद प्राचीनता से जुड़ी होती है। स्त्री आत्मकथाओं में इसे चुनौती देने का प्रयास किया गया है लेकिन उसका परिदृश्य पूर्णतः बदलता हुआ नजर नहीं आ रहा है। जर्मेन ग्रीयर के शब्दों में कहें तो, ''उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियां भी पारंपरिक नैतिकता के निर्वाह में स्वयं को अपराजेय ही सिद्ध कर पाई हैं।''[83] जहां साक्षरता का प्रतिशत अधिक है वहां शिक्षा की उपयोगिता केवल इतनी ही है कि वे लोग धर्म ग्रंथों का वाचन केवल दास भक्ति भाव से ही करें शिक्षा का इससे अधिक उपयोग जैसे उनके यहां वर्जित है। यह आधुनिक पितृसत्ता है जो अदृश्य रूप से काम करती है। आशा अपराध की आत्मकथा में 'मां' की भूमिका इसी रूप में

देख सकते हैं। इसके बावजूद आशा आपराद शिक्षित होकर एक शिक्षक का सम्मान प्राप्त करती है और सम्मानपूर्वक स्त्री जीवन मूल्यों के साथ स्त्री सशक्तिकरण का उदाहरण पेश करती है।

5.4 सशक्तिकरण, आत्मसम्मान एवं समानता के सवाल

स्त्री जीवन मूल्यों को प्राप्त किए बिना स्त्री सशक्तिकरण अधूरा है। इन मूल्यों की प्राप्ति सामाजिक समानता, सामाजिक संसाधनों में स्त्रियों की समान उपस्थिति तथा 'ज्ञान–भौतिक सत्ता' में समान भागीदारी आदि के साथ ही हो सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में इन पहलुओं पर विचार किया है जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है। यहां, स्त्री सशक्तिकरण, आत्मसम्मान एवं समानता आदि के लिए किन–किन पहलुओं की ओर ध्यान दिया गया है नारीवादी चिंतकों एवं स्त्री आंदोलन में, इस पर प्रकाश डालना ज्यादा समीचीन हो सकता है।

पितृसत्ता की यह खास विशेषता है कि वह स्त्रियों को पराधीन बनाने के लिए सामाजिक, प्राकृतिक और धार्मिक (ईश्वरीय विधान) का इस्तेमाल करती है और 'सहज–सस्ता और बिना किसी अवरोध को उसे स्वीकार करने वाली परिस्थिति भी पैदा करती है। नारीवादी चिंतक जॉन स्टुअर्ट मिल अपनी पुस्तक 'स्त्रियों की पराधीनता में' इसकी पड़ताल करते हुए लिखते हैं कि, ''सामाजिक और प्राकृतिक सभी कारण मिलकर यह असंभव कर देते हैं कि स्त्रियां संगठित तौर पर पुरुषों की सत्ता का विरोध कर सकें। वे इस अर्थ में पराधीन वर्गों से भिन्न स्थिति में हैं कि उनके मालिक उनसे वास्तविक सेवा के अतिरिक्त कुछ और भी चाहते हैं। पुरुष केवल स्त्रियों की पूरी–पूरी आज्ञाकारिता ही नहीं चाहते वे उनकी भानवाएं भी चाहते हैं। सबसे क्रूर और निर्दयी पुरुष को छोड़कर सभी पुरुष अपनी निकटतम संबंधी स्त्री में जबरन बनाए गए दास ही नहीं बल्कि स्वेच्छा से बने दास की इच्छा रखते हैं। अतः उन्होंने स्त्रियों के मस्तिष्क को दास बनाने के लिए हर चीज का इस्तेमाल किया है। अन्य दासों के मालिक आज्ञाकारिता को बनाए रखने के लिए भय का प्रयोग करते हैं–उनका खुद का भय या फिर धार्मिक भय। स्त्रियों के मालिक साधारण आज्ञाकारिता से कुछ अधिक चाहते थे। और उन्होंने शिक्षा के पूरे बल का इस उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया। बचपन से स्त्रियों को यह सिखाया जाता है कि उनका आदर्श चरित्र पुरुष के चिरत्र से बिलकुल विपरीत होना चाहिए। इच्छा शक्ति और आत्म नियंत्रण नहीं, बल्कि नियंत्रण और दूसरों के नियंत्रण के समक्ष झुक जाना, उनका गुण होना चाहिए। सारी नैतिकता उन्हें यह बताती है कि यह महिलाओं का कर्तव्य है और सभी मौजूदा भावनाओं के अनुसार यह उनका स्वभाव है कि वे दूसरों के लिए जियें, पूर्ण आत्म त्याग करें और अपने स्नेह संबंधों के अतिरिक्त उनका अपना कोई जीवन न हो। स्नेह संबंधों से तात्पर्य सिर्फ उन संबंधों से है, जिनकी उन्हें इजाजत है– वे पुरुष जिनसे स्त्री संबंधित हो या वे बच्चे जो पुरुष व उनमें एक अटूट व अतिरिक्त बंधन होते हैं।''[84] जब तक यह स्थिति बदलती नहीं है, यह कहना कि स्त्री जीवन वास्तविक अर्थ में बदल रहा है, बईमानी होगी। वर्तमान समय की मांग है स्त्रियों की मुक्ति में पुरुष उनका साथी बने और उसकी मुक्ति को सहजता से स्वीकृत भी करें। तभी वास्तव में स्त्री जीवन का बदलाव सार्थक होगा।

जीवन में आगे की राह की खोज स्त्री आत्मकथाओं में एक महत्वपूर्ण पहलू बनकर उभरा है। इस संदर्भ में सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा में लिखती हैं कि, ''गरीबी और अभावों के बीच रहकर अपमान उपेक्षा और तिरस्कार सहते हुए मैं पढ़ सकी, इसका कारण विनम्रता और चुपरहकर सहन करने का संस्कार था जो मां और नानी ने सिखाया था। तब हमारा जीवन बहुत दयनीय था। अपने जीवन पर कभी रोना आता था, कभी गुस्सा। कभी उन परिस्थितियों से सामंजस्य बनाते हुए हम आगे की राह खोज लेते थे।''[85] निश्चय ही यह राह आसान नहीं था सुशीला टाकभौरे के लिए। लेकिन सवाल उठता है क्या वह संस्कार आज भी मौजूद नहीं है? क्या आज स्त्रियों को इसके खिलाफ विरोध नहीं करना चाहिए? चुपरहकर सहन करने का संस्कार क्या स्त्री शोषण का आधार नहीं ? इसके बावजूद यह परिदृश्य आज बदलता हुआ नजर आ रहा है, लेकिन बदलाव की गति चिंता का विषय है।

स्त्री आत्मकथाओं में प्रेम का स्वरूप सभी आत्मकथाओं में दिखाई पड़ता है लेकिन प्रेम की राह में सबसे बाधक कारक जातिव्यवस्था पर सुशीला टाकभौरे ने बहुत ही सही लिखा है। उन्हीं के शब्दों में, ''यदि कोई लड़का बिना शादी किए किसी लड़की को अपने साथ रख ले तो उन्हें जाति से बाहर कर देते थे। तब उन्हें पंचायतों द्वारा दण्ड निर्धारित करती, वह उसे देना पड़ता और साथ में जाति के लोगों को भोज देना पड़ता था। जाति के बाहर शादी करने पर भी दण्ड के रूपये और भोज देते थे। समाज में जातिव्यवस्था बनी रहे, इसके लिए ही अंतरजातीय विवाहों का विरोध किया जाता था। जातिव्यवस्था से उच्च वर्ण अपने हितों की रक्षा करते थे। इसमें हमारा लाभ नहीं बल्कि हानि थी फिर भी हमारे लोग सवर्णों के निर्दशानुसार अंतरजातीय विवाहों का विरोध करते थे।''[86] अर्थात् कहा जा सकता है कि ब्राह्मणवादी मानसिकता समाज में अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए षड्यंत्र के तहत हमेशा से समाज में जातिव्यवस्था बनाए रखे हुए है और उसका विरोध करने वालों को किसी न किसी रूप में दण्ड की व्यवस्था किया है। जिस कारण से समाज में जल्दी कोई जातिव्यवस्था के खिलाफ नहीं जाता है जबकि संवैधानिक अधिकार के तहत उसे अंतरजातीय विवाह करने का अधिकार है। हालांकि आज इसमें बदलाव देखा जा सकता है लेकिन जातिव्यवस्था आज उतनी ही तेजी से मजबूत भी हो रही है और वर्चस्वशाली सत्ता उसे अपने लिए इस्तेमाल कर रही है।

सारी समस्याओं की जड़ में केवल और केवल अशिक्षा ही है। अशिक्षा के कारण मनुष्य में चेतना नहीं होती है और मनुष्य सही गलत में भेद नहीं कर पाते हैं। जिससे ना तो मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो पाता है और ना ही समाज का हित होता है। इसी षड्यंत्र के तहत ब्राह्मणों ने शूद्रों, दलितों और स्त्रियों को धर्म, कर्मकांड, पूजापाठ, छठी, मुंडन, तेरहवीं, श्राद्ध आदि नामों पर उलझाएं रखा है, वह इन सब चीजों से मुक्त होकर आगे न निकल जाए और ब्राह्मणवादी, पितृसत्तात्मक व्यवस्था का सिंहासन न डोलने लगे। इस कारण से इन सबों को शिक्षा के अधिकार से मुक्त रखा गया। जहां अंतरजातीय विवाह स्वस्थ मानसिकता का परिचायक है इससे व्यक्ति और समाज दोनों का हित होता है, वहीं इसका विरोध कर दंड का विधान ब्राह्मणवादीर

मानसिकता रच देती है। इन्हीं खोखली सामाजिक रीति रिवाजों का पालन करवा कर वह समाज में पितृसत्ता और वर्चस्व की सत्ता को कायम करती है।

घरेलू हिंसा भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की देन है। हलांकि इसके खिलाफ कानून है लेकिन सामाजिक तौर पर देखा जा सकता है कि यह कानून बहुत कारगर नहीं है। कई बार इसका दुरूपयोग भी देखने को मिलता है लेकिन यह सवाल आज भी मौजूद है कि 21वीं सदी में भी घरेलू हिंसा खूब हो रही है। किसी न किसी रूप में स्त्रियां घरेलू हिंसा की शिकार हैं। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि ''हर घर में पत्नियां अपने पति की मार खाती थीं। फिर भी अपने घर में रहकर सबके लिए काम करती थीं।''[87] इसका आशय यह है कि स्त्रियां हिंसा की शिकार होकर भी क्यों काम करती हैं? इससे महत्वपूर्ण यह है कि हिंसा क्यों? इस हिंसा की प्रवृत्ति को समझने की जरूरत है। यह परिदृश्य क्यों नहीं बदल रहा है। यह चिंता का विषय है।

भारतीय समाज का पुरुषवादी सोच संतान की इच्छा तो रखता ही है उसमें भी पुत्र की इच्छा रखता है। किसी परिवार में स्त्रियों द्वारा बच्चा न जनने की स्थिति में उसे अमानवीय यातनाओं से गुजरनी पड़ती हैं। इसका दोष भी प्रायः परिवार व समाज के द्वारा स्त्रियों पर ही दिया जाता है। बच्चा न होने के कई कारण हो सकते हैं लेकिन इसमें अधिकतर दोष स्त्रियों को ही दी जाती है। जबकि विज्ञान यह साबित करता है कि बच्चा न होने के कारण सबसे ज्यादा पुरुषों में होता है। खासकर लड़का–लड़की के झगड़ा में तो पुरुष ही दोषी होता है। लड़का न होने की स्थिति में स्त्रियों की दी जाने वाली प्रताड़ना पुरुषवादी मानसिकता है। लड़की की अपेक्षा लड़के को ज्यादा महत्व देना भी पितृसत्तात्मक सोच है। ''हमें मां–बाबा प्यार जरूर करते थे, हमें पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी फिर भी लड़के का महत्व उनके लिए ज्यादा था। हमें वे पराया धन समझते थे। जब आज भी कोई संभ्रांत लोग इसी तरह की सोच रखते हैं तो फिर उन दिनों के अस्पृश्य समाज में ऐसी सोच होना स्वाभाविक ही रही होगी। फिर भी बस्ती के लोगों की टीकाओं पर ध्यान न देकर उन्होंने हमें उच्च शिक्षा दिलाई, यह बात क्या कम महत्व की है?''[88] यहां यह बात तो स्पष्ट होती ही है कि दलित समाज में पितृसत्ता का स्वरूप वह नहीं है जो गैर दलित समाज में है। पुत्र प्राप्ति की इच्छा के कारण ही समाज में स्त्रियों का अस्तित्व संकट में रहा है। बड़े पैमाने पर कन्या भ्रूणहत्या इसी का परिणाम है। कन्या भ्रूणहत्या के कारण समाज में स्त्री–पुरुष लिंगानुपात में असमानता आई है। जिसके कारण समाज में स्त्रियां को अनेक तरह की असमानताओं और यातनाओं का सामना करनी पड़ रही हैं। ऐसी ही समस्या है असुरक्षा की। स्त्री असुरक्षा के भावबोध दलित आत्मकथाओं में व्यक्त हुआ है। असुरक्षा का भावबोध के कारण ही दलित समाज अपने बहु–बेटियों को एक सुरक्षा के घेरे में रखते हैं। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। समाज की स्त्री विरोधी परंपरा को खत्म कर, उसे तोड़कर ही स्त्रियां अबला से सबला बन सकती हैं। और अपने खिलाफ घरेलू हिंसा को भी खत्म कर सकती हैं।

चेतना और आत्मनिर्णय में अन्योन्यसंबंध रहा है। आत्मनिर्णय की स्थिति में ही आत्मनिर्भरता की स्थिति आती है। भारतीय समाज में यह प्रायः देखा जा सकता है कि स्त्रियों में चेतना की कमी रही है। इसके कारणों का विश्लेषण किया जाना चाहिए। लेकिन चेतना की कमी को जब तक महसूस नहीं किया जाता है तब तक

आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता की स्थिति नहीं आ सकती है। इस संदर्भ में कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में लिखती हैं कि ''वे कहती हैं कि हम अपने पति से पूछकर बताएंगे कि क्या हम संस्था की सदस्य बने। किसी भी महिला में स्वतंत्र निर्णय लेने की हिम्मत नहीं है ऐसा लगा। तब मैंने सोचा कि शाम को इनके पति दफ्तर से आते हैं तभी उसे मिला जाए।...तब बोलते, अरे बहनजी यह कुछ नहीं समझती।...दूसरे दिन वह मेरे घर आई और कहा कि बहन जी, मेरे आदमी ने आपके सामने तो कहा कि इच्छा हो तो जा सकती है परंतु मुझे वे कहने लगे कि ये औरतें फालतू काम करती है, घर बिगाड़ती है।...घर के पुरुष ही अपनी औरतों को रोकते हैं।''[89] अर्थात् कहा जा सकता है कि पितृसत्ता के कारण ही स्त्रियों की चेतना संगठित नहीं होती है और जनआंदोलन कभी बिना सचेतना के संभव नहीं है। पुरुषवादी मानसिकता के कारण ही पुरूष कभी भी स्त्रियों को अपना सहकर्मी नहीं बनाते हैं और न ही स्त्रियों को संगठित होने देता है। स्त्री चेतना जब भी समाज में आंदोलन के रूप में काम करती है तब पुरुषवादी मानसिकता तमाम तरह से उसे रोकने का काम करती है। इसी का परिणाम है कि ये औरतें फालतू का काम करती है, घर बिगाड़ती है आदि कथन पुरुषवादी मानसिकता ही है। सामाजिक कार्य के प्रति उदासीनता ही चेतना को फैलने का अवसर नहीं देती है। यूं कह सकते हैं कि स्त्रियों के जीवन में बदलाव के लिए एक संगठित चेतना और आंदोलन की सख्त जरूरत है।

महादेवी वर्मा के अनुसार वर्तमान में समाज में स्त्री की दो प्रकार की स्थिति है। उन्हीं के शब्दों में, ''इस समय हमारे समाज में केवल दो प्रकार की स्त्रियां मिलेंगी। एक वे जिन्हें इसका ज्ञान ही नहीं है कि वे भी एक विस्तृत मानव समुदाय की सदस्य हैं और उनका भी एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्तित्व है। जिसके विकास से समाज का उत्कर्ष और संकीर्णता से अपकर्ष संभव है; दूसरी वे जो पुरुषों की समता करने के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से संसार को देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुकरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती है। सारांश यह है कि एक ओर अर्थहीन अनुसरण है तो दूसरी ओर अनर्थ में अनुकरण और यह दोनों प्रयत्न समाज की शृंखला को शिथिल तथा व्यक्तिगत बंधनों को सुदृढ़ और संकुचित करते जा रहे हैं।''[90] अर्थात् दोनों ही तरह की स्त्रियों की समस्याओं को एक समस्या मानकर चलने में ही स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन संभव है। अन्यथा पितृसत्ता का यह विभाजन स्त्रियों के जीवन को कभी अत्साहपूर्ण और आनंदपूर्ण नहीं बनने देगा। इसी विभाजन का एक दूसरा पक्ष पितृसत्तात्मक समाज में 'आदर्श' बेटी, पत्नी और बहू की होती है, जो कि स्त्रियों में आपसी मतभेद को जन्म देता है और स्त्रियां आपस में संगठित नहीं हो पाती हैं। घर–बाहर दोनों जहां का दायित्व उठाने और पुरुषों का अनुगामिनी बनकर जीवन जीने वाली स्त्रियां हमेशा ही आदर्श की मूर्ति बन जाती हैं जबकि इसके विपरीत अपने स्त्री जीवन मूल्यों पर, मानवीय मूल्यों पर जीवन जीने वाली स्त्रियां आदर्श नहीं बन पाती है। लेकिन आज यह परिदृश्य भी बदल रहा है। आर्थिक स्वावलंबी, स्त्रीत्व को जीने वाली, स्वाभिमानी, नेतृत्व पसंद, स्त्री जीवन मूल्यों को आत्मसात की हुई और स्त्री–पुरुष संबंधों की सामाजिकता में सबको साथ लेकर चलने वाली स्त्रियां ही आदर्श बनने लगी हैं। आज का 'आदर्श' बदला हुआ है लेकिन पूर्णतः नहीं। इसलिए जब तक पूर्णतः बदला हुआ आदर्श स्थापित नहीं होता है या यूं कहें कि स्त्रियां स्त्री जीवन मूल्यों

को नहीं जीती और सम–सह संबंध जीवन नहीं जीती तथा समाज में समानता व सुरक्षा का अनुभव नहीं करती है तब तक स्त्री जीवन का संघर्ष और आंदोलन का गतिशील होने और सतर्क रहने की जरूरत है।

स्त्री–पुरुष के जीवन में समानता और सहभागिता का संबंध होना बहुत जरूरी है तभी परिवार और समाज के विकास के साथ राष्ट्र का विकास सही दिशा में संभव है। अन्यथा वह विकास विनाश की राह पर हो सकता है। महादेवी वर्मा इस विनाश की ओर संकेत करती हुई कहती हैं कि स्त्री–पुरुष दोनों को ससम्मान, समान निर्भरता और सहयात्री बन कर जीवन जीना चाहिए तभी वह सुख का अनुभव कर सकता है। वे लिखती हैं कि ''स्त्री और पुरुष यदि अपने सुखों के लिए एक दूसरे पर समान रूप से निर्भर रहते तो उनके संबंध में विषमता आने की संभावना ही न रहती, पंरतु वास्तविकता यह है कि भारतीय स्त्री सापेक्षता सीमातीत हो गई। पुरुष अपने व्यावहारिक जीवन के लिए स्त्री पर उतना निर्भर नहीं है जितना स्त्री को होना पड़ता है। स्त्री उसके सुखों के अनेक साधनों में एक ऐसा साधन है जिसके नष्ट हो जाने पर कोई हानि नहीं होती।...'भारतीय पुरुष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया या भार रूप में, फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका। उन दोनों का आदान–प्रदान सामाजिक प्राणियों की स्वेच्छा से स्वीकृत सहयोग की गरिमा न पा सका, क्योंकि एक ओर नितांत परवशता और दूसरी और स्वच्छंद आत्मनिर्भरता थी। उनके कार्यक्षेत्र की भिन्नता तो आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, परंतु इससे उनकी सापेक्षता में विषमता आने की संभावना नहीं रहती! यह विषमता तो स्थिति वैषम्य से ही जन्म और विकास पाती है।''[91] अर्थात् स्त्री–पुरुष के जीवन में अर्थ की विषमा का आधार समाज में आर्थिक संसाधन के वितरण में असमानता की स्थिति है। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि आर्थिक संसाधन–उत्पाद के लाभांश में स्त्रियों की समान भागीदारी न होना ही उसकी आर्थिक कमजोरी का आधार है जिसके कारण स्त्रियों की स्थिति समाज में नारकीय है। और उसी से मुक्त होने के लिए वह पुरुषवादी मानसिकता द्वारा निर्मित घृणित कार्य को भी स्त्रियां करने पर मजबूर हो जाती हैं, अपनी जिस्म को बेचने पर मजबूर हो जाती हैं। यह घृणित कार्य का कारक और फलदायक दोनों ही पुरुष है। अतएव इन 'पुरुष' कारकों से स्त्रियों की मुक्ति आवश्यक है तभी सही मायने में स्त्रियों का जीवन मुक्त माना जा सकता है। तभी स्त्रियों का भी और समाज का भी समुचित विकास संभव है।

स्त्री जीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों में सबसे ज्यादा 'अर्थ' है। भारतीय समाज में पूंजी का असमान वितरण की प्रणाली रही है जिस कारण से न केवल व्यक्ति प्रभावित है बल्कि समाज पूरी तरह से प्रभावित हो रहा है। इस असमान वितरण प्रणाली से सिर्फ स्त्री समुदाय ही प्रभावित नहीं हुई है बल्कि पुरुष समुदाय भी समान रूप से प्रभावित हुआ है। जिसके कारण न तो समाज का विकास हो सकता है और न ही समुचित सामाजिक विकास संभव हो सकता है। इसके ठीक विपरीत स्त्रियों की दयनीय स्थिति समाज के लिए कलंक है, क्योंकि जीवन की आवश्यक सुविधाओं का अभाव मनुष्य को अधिक दिनों तक मनुष्य नहीं बना रहने देता और अर्थ की असमान वितरण या आर्थिक संसाधनों में स्त्री–पुरुष का असमान अधिकार ही इसके लिए उत्तरदायित्व माना जाता है। मनुष्य की वह स्थिति कैसी होगी, जिसमें जीवन की न्यूनतम स्थिति के लिए मनुष्य

को जीवन की गरिमा खोनी पड़ती है। महादेवी वर्मा कहती हैं कि, ''इसकी कल्पना करना भी कठिन है! स्त्री ने जब कभी इतना बलिदान किया है नितांत परवश होकर ही और यह परवशता प्रायः अर्थ से संबंध रखती रही है। जब तक स्त्री के सामने ऐसी समस्या नहीं आती जिसमें उसे बिना कोई विशेष मार्ग स्वीकार किये बिना जीवन असंभव दिखाई देने लगता है तब तक वह अपनी मनुष्यता को जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु के समान ही सुरक्षित रखती है।''[92] अर्थात् अर्थ की असमानता के कारण उपजी स्त्रियों की आर्थिक स्थिति के कारण ही समाज में मनुष्यता असुरक्षित होती है। अतएव समाज और राष्ट्र के विकास के लिए आर्थिक असमानता की खाई को खत्म करना आवश्यक है। अन्यथा ''आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री की जीवन धारा ने जिस दिशा को अपना लक्ष्य बनाया है उनमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता ही सबसे अधिक गहरे रंगों में चित्रित है। स्त्री ने इतने युगों के अनुभव से जान लिया है कि उसे सामाजिक प्रामाणिक प्राणी बने रहने के लिए केवल दान की ही आवश्यकता नहीं है, आदान की भी है जिसके बिना उसका जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता। वह आत्मनिवेदित वीतराग तपस्विनी ही नहीं अनुरागमयी पत्नी और त्यागमयी माता के रूप में मानवी भी है और रहेगी। ऐसी स्थिति में उसे वे सभी सुविधाएं वे सभी मधुरकटु भावनाएं चाहिए जो जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकती हैं।''[93] यहीं से स्त्री जीवन और समाज–राष्ट्र अपनी समृद्धि और पूर्ण विकास की ओर कदम बढ़ा सकता है। अन्यथा मानव जीवन की आधी जिंदगी के बिना यह सब कल्पना ही कही जा सकती है। स्त्रियों का अपने स्त्री जीवन के लिए किया गया संघर्ष और आंदोलन तथा इसके विविध सृजनात्मक स्वरूप एक ऐसी प्रतिरोध की संस्कृति को जन्म देगी जिसमें पितृसत्तात्मक मानसिकता का अंत तो निश्चित है ही, उसका परिणाम समाज के लिए बहुत घातक होगा।

समग्रतः कहा जा सकता है कि आधुनिकता के इस दौर में स्त्री जीवन मूल्यों का हनन, उसे उनके मूल्यों से वंचित करना, स्त्री–पुरुष संबंधों में हो रहे परिवर्तन तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्त्री द्वारा बढ़ाया गया कदम, उनके द्वारा मानवीय मूल्यों के लिए किया गया संघर्ष और आंदोलन ने उनके जीवन में कई प्रकार का बदलाव लाया है। आर्थिक स्वावलंबन की ओर उनका कदम बढ़ रहा है और समाज की आर्थिक संसाधन में संविधान प्रदत्त अधिकार के साथ उनकी भागीदारी भी हो रही है, ऐसी स्थिति में न केवल वे अर्थोपार्जन कर रही हैं बल्कि सामाजिक संस्थानों का नेतृत्व भी संभालने लगीं हैं। राजनीतिक में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर रही हैं लेकिन इस सब के बावजूद सभी संस्थानों में उनकी उपस्थिति समाज की असमानता का द्योतक है। उस परिदृश्य को बदलने की जरूरत है। जिसकी जिम्मेदारी स्त्री–पुरुष दोनों पर समानरूप से है। इस संदर्भ में एक और परिदृश्य को बदलने का इंतजार है जिसकी जिम्मेदारी स्वयं स्त्री लेखन में आई है, वह है भाषा का स्वरूप। समाज–साहित्य में ऐसे शब्दों का भंडार है जो स्त्री विरोधी है और पितृसत्तात्मक समाज वक्त–बेवक्त उसका प्रयोग कर स्त्रियों को न केवल नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं बल्कि उसके मानवीय अस्तित्व–अस्मिता पर ही सवाल खड़ा कर देते हैं। सही मायने में इस बदलाव के बाद ही स्त्री जीवन के बदलते परिदृश्य और उसके स्वरूप को देखा जा सकता है और एक नया समाज जिसमें स्त्री–पुरुष सम–सह संबंधों को महसूस करेगा। डर, भय, हीनताबोध, अपराधबोध, असुरक्षा आदि से मुक्त मानव मात्र के रूप में अनुभूत कर रहा होगा। यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और चलती रहेगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. सीमोन द बाउवर, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 381
2. वही
3. वही, पृ. 382
4. वही, पृ. 382
5. वही, पृ. 383
6. वही, पृ. 386
7. वही, पृ. 386
8. वही, पृ. 165
9. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं दिल मेरा, पृ. 130
10. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 78
11. मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृ. 259
12. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 247
13. रमणिका गुप्ता, हादसे, रमणिका गुप्ता, पृ. 267
14. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 98
15. दिनेशनंदिनी डालिया, मुझे माफ करना, पृ. 71
16. कुसुम अंसल, जो कहा नहीं गया, पृ. 81
17. कृष्णा अग्निहोत्री, औ...औ... औरत, पृ. 65
18. पदमा सचदेव, बूंद बावड़ी, पृ. 359
19. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 17
20. वही, पृ. 20
21. मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 47
22. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 294
23. चंद्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे का मैना, पृ. 163
24. समयांतर, मई 2018, संपादकीय–हिंसा की अंधी गली, वापस बर्बरता कीओर–आनंद तेलतुम्बड़े, पृ. 5–9
25. रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ. 263
26. समयांतर, मई 2018, संपादकीय–हिंसा की अंधी गली, वापस बर्बरता की ओर–आनंद तेलतुम्बड़े, पृ. 8
27. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ.22
28. वही, पृ. 415
29. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द पृ. 57
30. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 29
31. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ.
32. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 20
33. चंद्रकिरण सोनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ. 221
34. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 49
35. वही, पृ. 122

36. वही, पृ. 14
37. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ.63
38. वही, पृ.66
39. वही, पृ. 68–72
40. वही, पृ. 96
41. वही, पृ. 95
42. वही, पृ. 96
43. वही, पृ. 148
44. वही, पृ. 179
45. वही, पृ. 210–11
46. सीमोन द बाउवर, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 45
47. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ. 258
48. वही, पृ. 131
49. वही, पृ. 169
50. वही, पृ. 201
51. वही, पृ. 207
52. वही, पृ. 85
53. वही, पृ. 87
54. वही, पृ. 177– 79
55. वही, पृ. 251
56. वही, पृ. 75
57. वही, पृ.14
58. वही, पृ. 242
59. महादेवी वर्मा, शृखंला की कड़िया पृ. 109
60. वही, पृ. 22
61. वही, पृ. 28
62. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या न कहूं, पृ. 21
63. वही, पृ. 21
64. वही, पृ. 35
65. वही, पृ. 38
66. रमणिका गुप्ता, आपहुदरी पृ. 13
67. वही, पृ.14
68. वही, पृ. 15
69. वही, पृ. 14
70. वही, पृ. 16
71. वही, पृ. 19

72. वही, पृ. 19
73. वही, पृ. 43
74. नारीवादी राजनीतिः संघर्ष और मुददे, पृ. 252
75. श्यामाचरण दुबे, भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2001, पृ. 106
76. देवेन्द्र चौबे, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2001, पृ. 19
77. राजेन्द्र यादव, एक दुनिया समानांतर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृ. 32
78. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 10
79. राजेन्द्र यादव, एक दुनिया समानांतर, पृ. 32
80. श्यामाचरण दुबे, भारतीय समाज, 2001, पृ. 99
81. वही
82. हमेलता महीश्वर, स्त्री लेखन और समय के सरोकार, पृ. 14
83. जर्मेन ग्रीयर, विद्रोही स्त्री पृ. 65
84. जान स्टुवर्ट मिल, स्त्रियों की पराधीनता, पृ. 46–47
85. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे कादर्द पृ. 82
86. वही, पृ. 84
87. वही, पृ. 88
88. वही, पृ. 111
89. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेशवरी प्रकाशन, 2009, पृ.121
90. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, पृ. 14
91. वही, पृ. 103
92. वही, पृ. 109
93. वही, पृ. 110

छठा अध्याय

हिंदी स्त्री आत्मकथाओं की भाषा

पूर्व अध्याय में स्त्री जीवन के बदलते स्वरूप पर विचार किया है। क्या इस बदलाव के साथ साहित्य और आम जीवन की भाषा में भी बदलाव आया है? क्या पुरुष वर्चस्व का विरोध करने वाला और पितृसत्तात्मक व्यवस्था व तंत्र को खत्म कर समतामूलक समाज के निर्माण के लिए संघर्षरत और आंदोलनरत स्त्री लेखन भाषा में ऐसा बदलाव कर पाया है। प्रस्तुत अध्याय हिंदी स्त्री आत्मकथाओं की भाषा में इसी पर विचार किया जाएगा, कि भाषा की दृष्टि से स्त्री जीवन के सवालों और उनका संघर्ष किस प्रकार से 'भाषा और उसकी बुनावट' में परिवर्तन करते हुए स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को रेखांकन किया है और साहित्यिक भाषा में बदलाव आया है।

6.1 भाषा की दृष्टि से स्त्री जीवन के सवाल और उनका संघर्ष

भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति और जरूरत का साधन नहीं है वह संप्रेषण और संस्कृति का अभिन्न अंग भी है। इसी में सभ्यता एवं संस्कृति के मूल्य भी संरक्षित है। इसलिए किसी भी समाज और साहित्य की भाषिक संरचना अपने अंदर जीवन मूल्यों के विविध आयामों को समेटे रहती है। भाषा की यह संरचना 'मानसिक' और सामाजिक सरंचना के अनुसार होती है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि भाषा समाज सापेक्ष होती है। समाज से अलग भाषा के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। 'इसी संदर्भ में भाषा' सामाजिक अस्मिता का द्योतक भी होती है। भारत जैसे बहुभाषी देश और सांस्कृतिक बाहुल्यता में भाषा–अस्मिता का सवाल इसी से ऊपजा है। भाषा का प्रयोग और भाषिक संकल्पनाएं दोनों ही वर्ग आधारित है जैसे – शिक्षित वर्ग–अशिक्षित वर्ग, मजदूर वर्ग–मालिक वर्ग, स्त्री वर्ग और पुरुष वर्ग। यही कारण है कि 'भाषा' का चिंतन क्षेत्र गंभीर एवं बहुआयामी है। स्त्री लेखन ने जहां एक तरफ इस गंभीरता को और बहुआयामी बनाया है वहीं दूसरी तरफ उसे कई चुनौतियां भी दी है। केन्या के आलोचक और चिंतक न्गुगी वा थ्योगों ने 'भाषा' चिंतन के व्यापक परिप्रेक्ष्य को उजागर करते हुए लिखते हैं कि ''भाषा का सवाल अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी समाज में संपत्ति, सत्ता और मूल्यों के संगठन के समूचे मर्यादाक्रम में भाषा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा देश–काल के संदर्भ में किसी समुदाय के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकासक्रम का उत्पाद है। प्रकृति और मनुष्य के रूप में एक दूसरे के साथ संपर्क स्थापित करने में लोगों ने संवाद की एक व्यवस्था को जन्म दिया है जिसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति और संकेतों को इसने भाषा कहा। लेकिन भाषा किसी समुदाय की उत्पादक भी है, क्योंकि आखिरकार भाषा ही मानव समुदाय की प्रकृति से और प्रकृति से बाहर तालमेल की सामर्थ्य देती हैं। सच्चाई यह है कि भाषा ही उनके बहुआयामी विकास को संभव बनाती है। इस तालमेल के तहत ही एक समुदाय दूसरे समुदाय के मुकाबले अपनी विशिष्टता को समझ पाता है।''[1] अर्थात् भाषा किसी समुदाय व समाज का उत्पादक है। संवाद का एक माध्यम है। और समाज के विकास का द्योतक है, जो जीवन संघर्ष में श्रम के निहितार्थ उत्पादित होती है। एक भाषा–भाषी समुदाय अपनी आवश्यकता के लिए भाषा का उत्पादन करता है, जो बाहरी समुदाय से तालमेल बैठाने में सहायता प्रदान करती है। वह एक समुदाय को दूसरे समुदाय से जोड़ती है तथा

सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान को व्यवहारिक रूप देकर, एक–दूसरे समाज के प्रति समझ को भी विकसित करती है। यानी आवश्यकता और आवश्यकता की पूर्ति हेतु 'संवाद' कायम करती है। परस्पर एक 'साझी संस्कृति' का निर्माण और विकास भी करती है।

इस प्रकार 'भाषा' मानव संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, लेकिन 'भाषा' के इस निर्माण में सामाजिक संरचना और समाज में निहित 'वर्चस्व की सत्ता' का भी स्वरूप ग्रहण कर लेती है। 'भाषा' का व्यवहारिक पक्ष साम्राज्यवाद की भांति है जो प्रतिपक्ष की संस्कृतियों का क्षरण कर अपने हित के अनुकूल सामाजिक एवं सांस्कृतिक छवियों को निर्मित करती है। पितृसत्तात्मक समाज में भाषा का वर्चस्व पुरुषवर्चस्व के साम्राज्यवाद को स्थापित करती है और स्त्रियों को मानसिक गुलाम बनाती है। भाषा के साम्राज्यवादी स्वरूप को रेखांकित करते हुए एंगल्स ने जब यह लिखा है कि, ''परिवार में पत्नी सर्वहारा होती है और पति पूंजीपति।''[2] तो वे वस्तुतः समाज में स्त्री की वर्गीय स्थिति के साथ–साथ उनकी भाषा के वर्गीय आधार को भी स्थापित करते हैं। उदाहरण स्वरूप इसे इस प्रकार देखा जा सकता है कि भारतीय समाज और शब्दकोश में 'आत्मा' स्त्रीलिंग है और 'शरीर' पुरुष है और आत्मा को हमेशा शरीर के अंदर रहना है। और उस शरीर पर पुरुष का वर्चस्व रहा है। इस संदर्भ में यह भी समझने की जरूरत है कि जब स्त्री लेखन में 'देह की मुक्ति' का सवाल उठा तो वह वस्तुतः पुरुष वर्चस्व से ही मुक्ति था। इसका दूसरा पक्ष यह भी देखा जा सकता है कि जब आत्मा की मुक्ति हो जाती है तो शरीर का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। ठीक उसी प्रकार 'स्त्री देह की मुक्ति' स्त्री की देह पर पुरुष के वर्चस्व को खत्म करती है और स्त्री मूल्यों को स्थापित करती है। स्त्री आंदोलन और साहित्य में 'स्त्री देह की मुक्ति' वस्तुतः समाज और साहित्य में स्त्री मूल्यों की स्थापना है, जो पितृसत्तात्मक संस्कृति व भाषा की वजह से सर्वहारा या गुलामी की दासता को जी रही थी। भूमंडलीकरण के दौर में पितृसत्ता ने बाजार के माध्यम से नये पैंतरे से स्त्री के दिमाग की 'कण्डिशनिंग' शुरू की हैं, वह है देह पर अधिकार। 'देह तुम्हारी है, इसका उपयोग करने के लिए तुम स्वतंत्र हो', से लेकर 'देह मेरी है, मैं इसे किसी भी तरह इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र हूं, 'जैसा मुहावरा थमाया जा रहा है। इस संदर्भ में नारीवादी चिंतक अल्पना मिश्र का कथन बहुत ही मार्मिक है कि ''यह आकर्षक और लुभावना है। किसी भी व्यक्ति को उसकी देह पर अधिकार मिलना ही चाहिए।. ..जो चमकता हुआ सत्य हमें दिखाई पड़ रहा है, तमाम चैनल्स के माध्यम से , क्या वही सत्य, असली सत्य है? सौन्दर्य प्रतियोगिताओं की व्यावसायिक नीतियां और विज्ञापन आदि की दुनिया में काम करने वाली स्त्रियों के दैहिक, मानसिक शोषण की खबरें आए दिन मिलती रहती हैं ...पढ़ी लिखी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और साथ ही चेतना सम्पन्न स्त्री ही अपनी देह पर विवेकवान निर्णय ले सकने की स्थिति में आ सकती है। अन्यथा तो उसका निर्णय पितृसत्तात्मक अनुकूलन से ही तय होता रहता है।''[3] निश्चय ही अल्पना मिश्र भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री मुक्ति के आंदोलन के लिए नई आवाज है और उसकी चेतनशील सर्तकता है। प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' और रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'आपहुदरी' में इस देह की मुक्ति के सवालों को उठाया गया है।

भाषा जब अभिव्यक्ति और संस्कृति से जुड़ती है तो वह महज अभिव्यक्ति और संस्कृति तक ही सीमित नहीं रहती है बल्कि मानव की दृष्टि और रचनात्मक कर्म से आबद्ध हो जाती है। इसी प्रक्रिया में वह साहित्य की भाषा बनती है। साहित्य की भाषा बनते ही वह आलोचना व प्रतिरोध की संस्कृति की भाषा बनने लगती है, उस रूप में निर्मित होने लगती है। इसी आलोक में स्त्री साहित्य की भाषा को समझने की जरूरत है क्योंकि स्त्री साहित्य समाज में स्त्रियों द्वारा स्त्री जीवन मूल्यों के लिए किया गया संघर्ष, प्रतिरोध और आंदोलन की संस्कृति की ऊपज है। वह मानवीय संस्कृति और इतिहास का वाहक बन जाती है। इसी क्रम में वह सभ्यता–संस्कृति की समीक्षा भी करती है जिसमें स्त्री–पुरुष दोनों के जीवन का सौन्दर्य सहज ही आकार ग्रहण करता रहता है। यह सौन्दर्य वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ की कसौटी पर समाज को कसती है। वस्तुनिष्ठता के अभाव में भाषा साम्राज्यवादी रूप धारण कर लेती है तब भाषा सृजनात्मकता का पर्याय न होकर विनाश का पर्याय बन जाती है, क्योंकि उत्पीड़क राष्ट्र /प्रजाति अपने अधीन रहने वाली प्रजाति का शोषण करती है और भाषा का इस प्रकार स्वरूप निर्मित करती है जो कहीं न कहीं उत्पीड़न में सहायक बन कर उपस्थित होता है। न्युगी वा थ्योगों के शब्दों में ''कोई भी उत्पीड़क भाषा खासतौर पर अपने साहित्य में अनिवार्यतः विजीत राष्ट्र की नस्लवादी और नकारात्मक छवि को प्रस्तुत करती है।''[4] अर्थात् उत्पीड़क राष्ट्र/ प्रजाति द्वारा निर्मित यह छवि एक निश्चित दिशा में भविष्य की ओर उन्मुख होकर पराजित प्रजाति का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विनाश कर देती है। पितृसत्तात्मक समाज ने अपनी भाषा और संस्कृति को इसी रूप में निर्मित की है और स्त्रियों को सम्पत्ति–संसाधन से वंचित कर, बेदखल कर उसे मानसिक रूप से गुलाम बनाने के लिए भाषा का इस्तेमाल किया है। इसलिए आज स्त्री आंदोलन में 'मानसिक गुलामी' से मुक्ति प्राथमिक है। इसलिए वर्चस्वशाली समाज की भाषा में उसका आधिपत्य की मानसिकता देखी जा सकती है और आधिपत्य को स्वीकार कर चुके समाज की भाषा में उनकी गुलामी की दास्तान के प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे, लोकोक्तियां आदि सभी कुछ देखा जा सकता है। इसलिए जब गुलामी की मुक्ति की बात होती है तो सांस्कृतिक प्रतीक, बिम्ब आदि के साथ–साथ वर्चस्व की भाषा से भी मुक्ति का सवाल अहम हो जाता है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त भाषा में पितृसत्तात्मक समाज की वर्चस्व की भाषा, प्रतीकों, बिम्बों आदि के साथ स्त्री जीवन मूल्यों के लिए किए गए संघर्ष और आंदोलन में स्त्री जीवन की भाषा, प्रतीक, बिम्ब को भी देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भाषा जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति है। वह जिस समुदाय और समाज से जुड़ी होती है उस समाज की संपूर्ण मानवीय संस्कृति का वहन करती रहती है और उसकी अस्मिता व अस्तित्व का सवाल अपने साथ लेकर चलती रहती है। स्त्री साहित्य–आत्मकथाओं की भाषा स्त्री जीवन मूल्यों के लिए किए गए संघर्ष में निर्मित हुई है। उन्हीं मूल्यों की और जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति स्त्री आत्मकथाओं में है। स्त्री आत्मकथाएं देश के विभिन्न क्षेत्र और प्रांतों की है। उसकी भाषा में क्षेत्रीयता का प्रभाव है। वहां का वाक्य विन्यास, मुहावरे, लोकोक्तियां, बोलियां, शब्दों का सहज प्रयोग है।

शीला इन्द्र 'क्या कहूं क्या न कहू' में समाज में व्याप्त पितृसत्ता द्वारा निर्मित भाषा–हीनताबोध की भाषा का उदाहरण इस प्रकार से प्रस्तुत करती हैं–

''अब बहना ! हमका का मालूम रहै कि हमार पतिदेव जंगल के इते बड़े अफसर हुई जावेंगे, हम रहिं आठ–नौ बरिस कै और वे बारह–तेरह बरिस के, हमार माई–बाप ने इनसे शादी कर दी। वे तो शादी के बाद विलायत जाए के इत्ती सारो पढ़ि के आय गए।अब वो राजा जैसे हम गंवई–गंवार। हमार किस्मत हती सो इनसे बंध गए। रानी–महरानी बन गए।''[5]

यहां स्पष्टतः देखा जा सकता है कि पतिदेव को अफसर कहना और स्वयं को 'गंवई–गंवार' कहना समाज में प्रचलित पितृसत्तात्मक मानसिकता की ऊपज है। स्त्री आंदोलन में हीनताबोध से मुक्ति का आधार भी यही है। इसी प्रकार के पितृसत्तात्मक शब्द और भाषा का प्रयोग अन्य स्त्री आत्मकथाओं में भी व्यक्त हुआ है। 'बेटी को बेटा' कहकर पुकारना या तु 'बेटी नहीं बेटा' है, आदि भी पितृसत्ता का ही द्योतक है। स्त्री आत्मकथाओं में इन सब पहलुओं की ओर लेखिकाओं ने ध्यान आकर्षित किया है जो निश्चित तौर पर पितृसत्तात्मक भाषा की पहचान है। सवाल उठता है क्या भाषा की इन व्याकरणों को स्त्री मुक्ति आंदोलन या साहित्य लेखन में सही किया जा सकता है? क्या इन वर्ग आधारित भाषा में बदलाव लाया जा सकता है। इसी वर्गीय भाषा का दूसरा उदारण इस प्रकार से देखा जा सकता है। आशा आपराद अपनी आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' में लिखती हैं–

''मिट्टी की जमीन में दबी कच्ची कब्रें गरीबों की होतीं तो रंगीन फर्शवाली, संगमरमर की कब्रें अमीरों की होतीं। मरने के बाद भी वर्गवाद यहां दिखाई देता। हां, गरीब–अमीर, दोस्त–दुश्मन, औरत–मर्द पास–पास की कब्रों में होते।''[6]

अर्थात् देखा जा सकता है कि किस प्रकार जन्म से मृत्यु तक वर्गीय विभाजन का भेदभाव वाली परंपरा चली आ रही है। जिससे मुक्ति की आज सख्त जरूरत है। अन्यथा यह समाज व राष्ट्र की नींव को खोखला कर ही थम सकता है। इस सामाजिक वर्गीय विभाजन का प्रभाव समाज की भाषा पर रही है। स्त्री–पुरुष दोनों की भाषा और शैली, उनके सम्बोधन के शब्दों का ही विभाजन नहीं है बल्कि, उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमा को भी निर्धारित करता है। इसलिए इससे मुक्ति के लिए संघर्ष और आंदोलन को तीव्र करने की जरूरत है।

6.2 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में भाषा और उसकी बुनावट से स्त्री मुक्ति के प्रश्न

परिवर्तनकामी और प्रतिरोधी साहित्य में भाषा का सवाल प्रमुख सवाल नहीं रहा है। प्रमुखता विषय–वस्तु की अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण की रही है। भाषा का अस्तित्व एवं स्वरूप जीवनानुभव, संस्कृति और संवेदना से ही बनती है। समाज में भाषा के दो रूप हमेशा से विद्यमान रहे हैं–एक संप्रेषण का और दूसरा संस्कृति का। ''संप्रेषण के रूप में भाषा यथार्थ जीवन का निरुपण, बोलने की क्रिया और लिखित चिह्नित होता है। मानव समुदाय के बीच संप्रेषण संस्कृति के विकास की प्रक्रिया और उसका आधार भी है। संस्कृति में वे सभी नैतिक और सौन्दर्यबोधक मूल्य समाहित होते हैं जिसके जरिए विश्व में हम अपने स्थान को निर्दिष्ट करते हैं। वह जन समुदाय की अस्मिता और मानव का सदस्य होने के विशिष्ट बोध का आधार मूल्य भी है और इन सारे

मूल्यों के वाहक का काम भाषा करती है। एक संस्कृति के रूप में भाषा इतिहास में जनता के अनुभवों की सामूहिक स्मृति भंडार है। संस्कृति उस भाषा से लगभग पूरी तरह अविभेद्य है जो उसकी उत्पत्ति, निर्माण, विकास, अभिव्यक्ति और यथार्थ में एक पीढ़ी का सम्प्रेषण का काम करती है। संस्कृति इतिहास का एक उत्पाद है और साथ ही इतिहास को व्यक्त करने का माध्यम भी है। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से एक जनसमूह के रूप में अपने होने की हमारी समूची अवधारणा उन बिम्बों और प्रतीकों पर आधरित है जो प्रकृति के साथ हमारे वास्तविक संबंधों के एकदम अनुरूप भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। इस प्रकार संस्कृति के रूप में भाषा मेरे और मेरे 'स्व' के बीच एक मध्यस्थ का काम करती है। मेरे और दूसरे के बीच मेरे और प्रकृति के बीच भी उसकी यही भूमिका है। और यही बात हमें संस्कृति के रूप भाषा के तीसरे पहलू के करीब ले जाती है। यानी सम्प्रेषण के लिखित रूप को साहित्य में लाता है।''[7] भाषा संस्कृति की वाहक है और संस्कृति अपने मौखिक और लिखित साहित्य के जरिए मूल्यों के उस समूचे पुंज को लेकर चलती है जिसके जरिए हम स्वयं से साक्षात्कार करते हैं और विश्व में अपनी स्थिति का अहसास करते हैं। स्थिति का अहसास ही अस्तित्वबोध का भान कराता है। जिससे स्वयं की खोज की प्रक्रिया शुरू होती है।

भाषा शब्दों, मिथक, प्रतीकों और बिम्बों के बीच सतत प्रवाहमान रहती है। ये शब्द, मिथक, प्रतीक और बिम्ब आदि जनमानस में स्मृति के तौर पर विद्यमान रहते हैं। समाज में यह स्मृतियां सामाजिक संरचना के अनुरूप हमेशा इस्तेमाल की जाती रही हैं। कभी समाज का आधिपत्य वर्ग अपने अनुसार इसका प्रयोग करता है, 'मैनुपुलेट' करता है तो कभी प्रतिरोधी समाज, जनता अपने लिए इसका इस्तेमाल करती है। बद्री नारायण इसे सामाजिक स्मृति कहते हुए लिखते हैं कि ''आधिपत्यशाली शक्तियां अपना आधिपत्य बनाने, बढ़ाने एवं बचाने के लिए स्मृतियों को अपनी सुविधानुसार 'मैनुपुलेट' करती रहती हैं। इसके लिए वे शब्द, वाक्य, प्रतीक एवं बुद्धिजीवियों की सेना का इस्तेमाल करती रहती हैं। 'प्रिंट' एवं 'इलेक्ट्रॉनिक टेक्नोलॉजी' उनकी सेवा में तो तत्पर रहती ही है, सत्ता एवं आधिपत्यशाली शक्तियां इस हेतु 'इन्ट्रैक्शन' जोन बनाती हैं, जो व्यक्ति, समुदाय एवं जाति उनके 'इक्ट्रैक्शन जोन' में आ जाती हैं, उनकी स्मृतियों को 'मैनुपुलेट' करना सत्ता के लिए आसान हो जाता है। जो उनके इन्ट्रैक्शन जोन में नहीं आ पाता, उसकी स्मृतियों के अक्षुण्ण रहने की संभावना बनी रहती है।''[8] समाज में सत्ता वर्ग शासन सत्ता के लिए और उसे बनाए रखने के लिए इस सामाजिक स्मृतियों का हमेशा उपयोग करता है। शासन सत्ता की तरह ही स्मृतियों के भी दो पक्ष हैं–एक सत्ता के साथ काम करता है तो दूसरा सत्ता के विपक्ष के साथ अर्थात् वह प्रतिरोध की परंपरा से जुड़ा हुआ होता है। इतिहास लेखन की परंपरा में भी सत्ता की विचारधारा काम करती है और स्मृतियां इसमें सहायक होती हैं। ''स्मृतियों को ही जगाकर आधिपत्यशाली शक्तियां अपना पक्ष निर्मित करती हैं। इसी के द्वारा वे किसी जाति या समुदाय को अपने पक्ष में गोलबंद कर लेती हैं और किसी जाति या समुदाय को एक दूसरे के विरूद्ध खड़ा कर देती हैं। इस प्रकार स्मृतियां पक्ष एवं विपक्ष दोनों के ही निर्माण के लिए एक सशक्त उपादान रही हैं।''[9] स्मृतियां प्रतिरोधी जनता के प्रतिरोध की चेतना को तीव्र करती है। आधिपत्य वर्ग के खिलाफ विद्रोह करती है, साम्राज्यवाद के विरूद्ध लामबंद करती है और साम्राज्यवाद के इतिहास के बरक्स अपना इतिहास निर्मित करती हैं। भारत ही

नहीं भारत के बाहर अफ्रीकी कौम में भी वहां की जनता ने इस लोक स्मृतियों का सहारा लेकर साम्राज्यवादी शासन सत्ता के खिलाफ मोर्चा लिया और अपना इतिहास निर्मित किया। स्त्री समाज ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरूद्ध सामाजिक स्मृतियों का प्रयोग किया है। 'सत्ता के सामने सच कहने के लिए भी स्मृतियां सबसे ज्यादा काम करती हैं और मिथक का सृजन कर साम्राज्यवादी सत्ता के खिलाफ विद्रोह की भावना जाग्रत करती हैं। प्रतिरोध की यह परंपरा स्मृतियों के बीच निर्मित होती रहती है। इसकी परंपरा कभी खत्म नहीं होती है। वह समय सापेक्ष दब जरूर जाती है। ''प्रतिरोध करती स्मृतियों के विरूद्ध अभियान छेड़ते हुए आधिपत्यशाली शक्तियां ये भूल जाती हैं कि स्मृतियां कभी मिटायी नहीं जा सकतीं, वे स्थगित भले ही हो जाएं। स्मृति एवं विस्मृति अपने आप में विरोधी प्रत्यय होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े हैं।''[10] इस प्रकार आधिपत्यशाली वर्ग की शास्त्रीय स्मृतियों के खिलाफ लोक स्मृति प्रतिरोध की संस्कृति है। स्त्री आत्मकथाओं में समाज में प्रचलित प्रतीकों, बिम्बों, लोकोक्तियों, मुहावरों को चिह्नित किया जा रहा है जो स्त्री विरोधी है और स्त्री चिंतन व विमर्श में इन सब शब्दों का विरोध भी किया जा रहा है।

समाज में 'मूंछ' पितृसत्ता का प्रतीक माना गया है। चंद्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे की मैना' में इन पितृसत्तात्मक मूंछ का संबंध कैसे समाज में परिवार की इज्जत तथा आर्थिक–उत्पाद के संबंधों से रहा है, का जिक्र करती हुई कहती हैं कि वहां स्त्रियां इससे वंचित रही हैं। द्रष्टव्य है पंक्तियां–

''गणेशी ने गंभीरतापूर्वक कहा– 'सेठजी! आप तो पुराने आदमी हैं। मैंने सुन रखा है कि पहले लोग अपनी मूंछ का बाल गिरवी रखकर माल ले जाते थें।''

सेठ बोला– ''तूने ठीक ही सुना है। बेटे! मूंछ मर्द की इज्जत होवे है। जो उसका बाल गिरवी रखता है, समझ ले अपने पूरे वंश की इज्जत दौव पर रखता है। तेरे भी होती, तो मैं बाल गिरवी रख के, तुझे माल दे देता...!''[11] अर्थात् स्पष्ट देखा जा सकता है कि मूंछ मर्दवादी प्रतीक है लेकिन व्याकरण की दृष्टि से यह स्त्रीलिंग शब्द है। निश्चय ही पितृसत्ता ने शब्दों को अपने अनुसार वर्चस्व के लिए और अपनी शान के लिए प्रयोग किया। दूसरी बात इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य है कि इसका संबंध ही परिवार की इज्जत से ही नहीं है बल्कि उसका संबंध आर्थिक उत्पाद से है जैसे 'तेरे भी होती, तो मैं बाल गिरवी रख के, तुझे माल दे देता।' और इसमें पूरी तरह से पितृसत्ता की मानसिकता ध्वनित होती है।

आज नई भाषा, भावबोध, अनुभव संसार भंगिमा और मुहावरे में स्त्रियां आधी दुनिया के सच को रूपायित कर रही है। क्या इस आधी दुनिया की आवाज के नाम से किया जा रहा लेखन सचमुच में दुनिया के सभी वर्गों की स्त्रियों की आवाज बन गई है। क्या इन आंदोलन में सभी वर्ग की स्त्रियों की समस्याओं को जगह मिली है। 'शब्दयोग' पत्रिका के स्त्री लेखन विशेषांक के संपादकीय में सुभाष पंत ने एक सवाल उठाया है, कि यह सवाल – दृष्टि का सवाल है। ''क्या उनका लेखन समग्र औरत का लेखन है या वे एक दूसरी तरह से साहित्य सत्ता के केंद्रीय पुरुषों के चंगुल में फंस कर वैसा साहित्य नहीं रच रहीं, जैसा वे चाहते हैं। उनके लेखन में अंतिम पायदान पर खड़ी औरत के संघर्षों का ताप और आंखों की नमी नहीं है तो उनका लेखन

खंडित औरत का लेखन है जो कमोबेश मध्यम, ऐलीट वर्ग की औरत की सच्चाई के इर्दगिर्द ही घूम रहा है।''[12] निश्चय ही यह एक बहुत बड़ा सवाल था लेकिन आशा आपराद की आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' जो कि मुस्लिम परिवार की है और डॉ. सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' की पारिवारिक पृष्ठभूमि दलित समाज है, इसका एक उत्तर और स्त्री लेखन का विस्तार कहा जा सकता है। इन आत्मकथाओं में दलित और मुस्लिम समाज की स्त्रियों की दास्तान है लेकिन इसके बावजूद सुभाष पंत का उत्तर पूर्णतः नहीं कहा जा सकता है, जब तक अन्य समुदाय की स्त्रियों का लेखन नहीं होता है या उनकी आवाज साहित्य में शामिल नहीं किया जाता है। हर वर्ग या समुदाय–समाज में पितृसत्ता का चरित्र अलग–अलग है उसकी भाषा, बिम्ब, प्रतीक आदि अलग–अलग है।

भाषा –व्याकरण की दृष्टि से देखा जाए तो पितृसत्तात्मक समाज ने अपने वर्चस्व को कायम करने के लिए भाषा में शब्द संपदा और उसके व्याकरण–विन्यास को भी अपने ढंग से स्थापित किया है। डॉ. सुधा सिंह अपने आलेख – 'भाषा में वर्ग और लिंगबोध' में *जुलिया स्टेनली* और *स्पेण्डर* के हवाले से लिखती हैं कि ''न केवल यह सत्य है कि भाषा में पुरुषों से संबंधित ज्यादा शब्द है बल्कि यह भी कि स्त्रियों से जुड़े ज्यादा शब्द कामुकता को व्यक्त करने वाले है। इस परिघटना का कोई भाषिक आधार नहीं है।' .. 'व्यवस्था के रूप में भाषा लैंगिक गैरबराबरी पर टिकी है और इससे स्त्री लाभान्वित नहीं होती।''[13] वहीं क्रमशः *मारिया शुल्ज तथा रॉबिन लैकॉफ* के हवाले से लिखती हैं कि ' सभी शब्द चाहे उनकी उत्पत्ति कैसे भी हुई हो, जो स्त्रियों से जुड़ते है नाकारात्मक अर्थ अर्जित करते हैं क्योंकि समाज में यह अर्थ का मौलिक नियम है जो पुरुष श्रेष्ठता पर टिका हुआ है। यदि वही शब्द स्त्रियों के लिए प्रयोग होने लगते हैं तो साकारात्मक अर्थ से च्यूत होकर नाकारत्मक अर्थ व्यक्त करने लगता है।... 'रूपक और अलंकार जब पुरुषों के लिए प्रयोग किए जाते हैं तो उनका दायरा बड़ा होता है। जबकि वे स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होकर संकीर्ण अर्थ व्यक्त करने लगते हैं। जब हम किसी पुरुष के लिए कहते हैं कि 'वह एकदम पेशेवर है।' तो दोनों के अर्थ एक नहीं होते। जबकि दोनों के अर्थ एक नहीं होते। जबकि लिंगभेद से अर्थ बदल जाता है। स्त्री के लिए इसका एक कामुक और हेय अर्थ द्योतित होता है। स्त्री के साथ जुड़ा हुआ कोई भी संकेत अनिवार्यतः नाकारात्मक और कामुक ध्वनि पैदा करता है।''[14] अर्थात् कहा जा सकता है कि पितृसत्ता में स्त्रियों के लिए प्रयोग शब्द, रूपक, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि पुरुषों के द्वारा प्रयोग से भिन्न अर्थ रखता है और वह भी एक सीमित दायरे में। स्त्रियों के लिए प्रयुक्त पितृसत्ता सोच से बने शब्दों में स्त्रियों को 'कामुकता' में ही देखा गया, जिसका कोई भाषिक आधार नहीं है। शब्दों के नकारात्मक अर्थ का भी कोई आधार नहीं है सिवाय इसके संदर्भित प्रयोग के। स्त्री लेखन में कविता, कहानी, उपन्यास आदि में शब्दों के प्रतीक, बिम्ब आदि नवीन अर्थों में, स्त्री दृष्टि से प्रयोग हो रहा है लेकिन स्त्री आत्मकथाओं में ऐसा कोई नवीन प्रयोग नहीं हुआ है। आत्मकथा की भाषा पर क्षेत्रीयता, शैक्षणिक स्तर, सामाजिक वातावरण आदि का प्रभाव सर्वाधिक देखा जा सकता है। स्त्री आंदोलनकर्मी और सृजनात्मकता में नवीन प्रतीक, बिम्बों, रूपक, अलंकार आदि का प्रयोग जब तक नहीं किया जाता है तब तक स्त्री साहित्य की भाषा पितृसत्तात्मक शब्द से मुक्त नहीं माना जा सकता है। स्त्रियों ने पितृसत्ता द्वारा तय की गई दुनिया से बाहर निकलना शुरूकर दी हैं

लेकिन उसे अपनी दुनिया के शब्दों को इजाद करना बाकी है। उन्हें, अपने साथ लगाई गई पितृसत्तात्मक तमगा जैसे ...'कुमारी' या '...देवी' के साथ श्रीमती... कुमार, ...सिंह, ...मिश्रा आदि, से मुक्त होना होगा। वहीं ''जब एक औरत पुरुषों के लिए सुरक्षित क्षेत्र में दक्षता हासिल कर दाखिल होती है तो अंतक्रियामूलक अर्थगत स्पेस में दाखिल नहीं होती बल्कि ऐसे स्पेस में दाखिल होती है जो पहले से ही अपनी संज्ञाएं तय कर चुका है। उसके लिए नियम सकार लागू नहीं होता। अतः वह लेडी डॉक्टर, फिमेल सर्जन, महिला वकील और इसी तरह अन्य या कि तुलनात्मक तौर पर कम प्रतिष्ठामूलक जैसे परिचारिका, स्टुवर्डस आदि संज्ञाएं प्राप्त करती है।''[15] अर्थात् स्त्री मुक्ति आंदोलन में इन सब पितृसत्तात्मक शब्दों, तमगों आदि से मुक्त होकर नवीन अर्थ सृजित शब्दों का प्रयोग करना होगा।

6.3 स्त्री आत्मकथाओं की भाषा और बदलती साहित्यिक भाषा

प्रस्तुत शोध प्रबंध में प्रयुक्त स्त्री आत्मकथाएं विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों की हैं। विभिन्न शैक्षणिक स्तर और विविध क्षेत्रों की आत्मकथा होने कारण इसमें प्रयुक्त भाषा की भिन्नता व विविधता को सहजता से समझा जा सकता है। जिसे समग्रत 'भूमंडलीय हिंदी' कह सकते हैं, जिसमें स्थानीय शब्दों से लेकर भूमंडलीकरण के दौर और अंतर्राष्ट्रीय स्त्री आंदोलन के शब्द स्वतः ही लेखन में समा गया है। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, झारखंड आदि प्रांतों की आत्मकथाकार होने के कारण वहां की भाषा स्वतः आत्मकथाओं में उतर आया है। आशा आपराद की आत्मकथा 'दर्द जो सहा मैंने' में मराठी और दक्खिनी हिंदी का मिश्रित भाषा का प्रयोग है। वे स्वयं ही इसे 'दखिणी हिंदी बागवानी हिंदी' और मराठी और हिंदी का मिश्रित मुस्लिम बोली' कहती हैं।'[16] वहीं संपूर्ण स्त्री आत्मकथाओं की भाषा पर गौर करे तो भाषा में बिम्बात्मक, काव्यात्मक, मुहावरेदार, कहीं–कहीं अंग्रेजी, संस्कृत, आदि के शब्दों, वाक्यों का प्रयोग हुआ है। जिसमें पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्त्री जीवन की वास्तविक स्थिति का चित्र स्वतः ही उभर कर आता है। कृष्णा अग्निहोत्री 'लगता नहीं है दिल मेरा' में स्त्री शोषण और पितृसत्ता की मानसिकता में पिसती हुई स्त्री मन को चित्रित करती हैं। वे लिखती हैं, ''एक अच्छे व्यक्तित्व व शुद्धमन की अधिकारिणी इस स्त्री को पुरुष की निम्न मानसिकता ने इस उम्र में भी शोषण का ही अधिकारी माना, मेरे सामने ही मैं देख रही हूँ कि एक तितली ऊपर टंगे नकली पौधे की ओर आकर्षित हो उड़ी और पंखे से टकराकर घायल हो नीचे गिर गई, पंख फड़फड़ाती, कभी शांत तो कभी पुनः तड़पी।"[17] अर्थात् यहां तितली उस स्त्री का प्रतीक है जो पितृसत्ता की कृत्रिम जीवन की ओर आकर्षित होती है और अंततः वह खत्म हो जाती है। निश्चय ही पितृसत्ता की इस कृत्रिम प्रेम संवेदना को समझने की जरूरत है। वहीं प्रभा खेतान अपनी पहचान के लिए डॉ. सर्राफ से जुड़ती है और अपनी जमीन तलाश करती हुई लिखती हैं कि, ''क्या डॉक्टर साहब के पास मुझे अपनी जमीन मिल सकती है? मैं जो एक टूटी डार हूं, हवा में उड़ता पत्ता हूं, मैं जो तूफान में उड़ती हुई एक चिड़िया हूं।''[18] निश्चय ही यहां एक स्त्री को अपने लिए जमीन की तलाश करती हुई देखा जा सकता है। वहीं इसकी भाषा में काव्यत्मकता बिंब है, जैसे– चिड़िया, उड़ता पत्ता और टूटी डाल के रूप में प्रयोग हुआ है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि एक असहाय, सभी जगह से कटी हुई स्त्री पितृसत्तात्मक तूफान से टकराती हुई जमीन की तलाश कर रही है।

आशा आपराद 'दर्द जो सहा मैंने' में लिखती हैं कि, ''मामू के सामने इस गरीब गाय का कुछ नहीं चलता। इस थोपे हुए रिश्ते से भाभी की जिंदगी मानों दबकर रह गई। गर्दन पर जोखड़ का बोझ रखे हुए जानवरों की आंखों में जो मूक वेदना दिखाई देती है, वैसी ही वेदना मैं जिंदगीभर भाभी की आंखों में देखती आई।''[19] यहां स्पष्टतः यह देखा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक समाज में 'गरीब गाय' का प्रयोग किसके लिए किया गया है। निश्चय ही यह स्त्री की सामाजिक स्थिति का द्योतक है। वहीं 'गर्दन पर जोखड़ का बोझ', आंखों में मूक वेदना, आदि स्त्री जीवन की कठिनता, दुभर जिंदगी, बेबसी, लाचारी को उजागर कर रही है। स्त्री मुक्ति आंदोलन में स्त्रियों की इन दशाओं के कारकों को उजागर करना जरूरी है।

भारतीय समाज में स्त्रियों को तो सुखद जीवन जीने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। जन्म से लेकर जीवनपर्यंत उन्हें पुरुष पर निर्भर रहने का आर्शीवाद दिया जाता है। आयुषमान भवः, सदा सुहागन रहो, दूधो नहाओ पुतो फलो, पुत्रवती भवः, आदि आर्शीवाद भी पितृसत्ता की जड़ है। शीला इन्द्र लिखती है कि '' लड़कों को जुग जुग जियो का आशीर्वाद। हमलोगों को 'न जाने कहां से आ गई डाका डालने। मरती भी नहीं।''[20] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की तमाम धार्मिक सांस्कृतिक अनुष्ठान पितृसत्ता को मजबूत करती है, जो कि स्त्री चिंतन और आंदोलन की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है, क्योंकि पितृसत्ता ने ईश्वर और धर्म की संस्कृति से ही स्त्रियों को न केवल गुलाम बनाया बल्कि उसे संरक्षित करने की जिम्मेदारी भी दी और स्त्रियां सहजता इसे स्वीकार करती हुई पितृसत्ता को जाने–अनजाने ढो रही है। स्त्री आत्मकथाओं का यह परिदृश्य यदि समय रहते नहीं बदलता है तो स्त्री मुक्ति का सपना एक कल्पना ही रह जाएगी।

पितृसत्तात्मक समाज की चाहरदीवारी में घूंट–घूंटकर जीवन जी रही स्त्री की वेदना–पीड़ा, संत्रास–उत्पीड़न, शोषण आदि की भाषा को व्यक्त करना आसान नहीं है। वह सिर्फ अनुभूत ही किया जा सकता है। इसलिए स्त्री मुक्ति आंदोलन में जब वेदना–पीड़ा, संत्रास–उत्पीड़न, अन्याय–अत्याचार आदि की लावा आक्रोश में आकार लेती है और फूटती है तो चेतना को शून्य कर देनेवाली बर्फीली धारा बन कर बहती है। सुशीला टाकभौर 'शिकंजे का दर्द' में इसे कुछ इस प्रकार व्यक्त करती हैं। वे लिखती हैं कि, ''ऊपर ऊपर देखें तो जीवन में सब सहज और सामान्य लगता है मगर अंदर जीवन के अनेक पृष्ठों पर मन को उद्वेलित करने वाली कितनी धधकती धाराएं बहती रही हैं, चेतना को शून्य कर देने वाली कितनी बर्फीली धाराएं बहती रही हैं! ये कभी हृदय से आह बनकर धुंधली बादल बनकर छाई हैं, कभी अश्रुधारा बनकर जीवन के पटल पर छाये दुख दर्द के बादलों को धोती रही हैं। जब कभी वे बातें याद आती है तो मन में हूंक सी उठती है। मैंने जीवन का यह रूप भी जीया है। जब मैं पीछे मुड़कर देखती हूं तब यादों के साये जीवन के झरोखे से, मुझे फिर से उन बीथियों में ले जाते हैं और मैं फिर से उन अनुभूतियों को जीकर व्यथित हो जाती हूं। किस तरह जीवन में संघर्षों से जूझती रही, संग्राम की तरह लड़ती रही, हारती रही, जीतती रही। जीतना ही उद्देश्य था। मैं कभी हताश नहीं हुई।''[21] अर्थात् स्त्री चेतना को अपनी वेदना, पीड़ा, संत्रास, उत्पीड़न आदि को प्रतिरोध की संस्कृति की धारा में तब्दील करनी होगी और मुक्ति के लिए चेतनशील होनी होगी। रमणिका गुप्ता के शब्दों में स्त्री को स्वयं को विकसति करने तथा पितृसत्ता को खत्म करने के लिए 'थेथर' होना होगा। वे लिखती हैं कि, ''एक

औरत को आगे बढ़ने के लिए 'थेथर होना भी जरूरी है।' थेथर का मतलब संवेदना रहित नहीं बल्कि पूर्णतया होते हुए विपरीत स्थितियों में डटे रहना है– आरोपों, कलंकों और घटनाओं–दुर्घटनाओं तथा ज्यादतियों को झेलते हुए, अपने रास्ते चलते रहना और संकल्प–शक्ति तथा इच्छा–शक्ति का बल बनाए रखना ही है।''[22] निश्चय ही यहां स्पष्ट देखा जा सकता है कि किस प्रकार शब्दों में नवीन अर्थ का प्रयोग किया जा रहा है। साहित्य लेखन में स्त्री दृष्टि से शब्दों में नवीन अर्थ, नए प्रतीक और नए बिम्ब आदि का सृजन, निर्माण और सौन्दर्य को साहित्य के माध्यम से स्थापित करना होगा।

स्त्री आत्मकथाओं में प्रयुक्त मुहावरे, शब्दों, प्रतीकों, बिम्बों आदि में स्त्री जीवन का एक सामाजिक इतिहास छिपा हुआ है जो पितृसत्तात्मक समाज की सीमा को भी निर्धारित करता है। सुमन राजे अपनी पुस्तक 'इतिहास में स्त्री' में ठेठ स्त्रियों की भाषा को समझती हुई पितृसत्तात्मक समाज के तथ्यों के इतिहास को समझने की बात करती हैं। वे लिखती हैं कि, ''हमने कभी इस दृष्टि से ठेठ स्त्रियों की भाषा को नहीं देखा जो बहुत से सामाजिक तथ्यों का इतिहास छिपायें हैं। सामाजिक भाषाविज्ञान ने भी इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाये। दरअसल ये शब्द इतिहास की धारा बताते हैं और उसकी दिशा तय करते हैं।''[23] उदाहरण के लिए स्त्रियों के लिए प्रयुक्त शब्द। रांड, रंडी, वेश्या, बांझ, सेक्स वर्कर्स, छिनाल आदि। इन शब्दों के इतिहास में जाकर सुमन राजे इसका विश्लेषण करती हैं। वे लिखती हैं कि ''विधवा' होना स्त्री जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। (शीला इन्द्र की आत्मकथा– 'क्या कहूं क्या न कहूं' में विधवा जीवन का वर्णन है और वही मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा–'कस्तूरी कुण्डल बसै, में राँड शब्द का प्रयोग हुआ है।) और उसके के लिए ठेठ शब्द है 'राँड'। प्रसिद्ध कथन है रांडसांड सीढ़ी संयासी। लेकिन यह 'रांड' शब्द 'रंडी' के रूप में आकर वेश्या का नाम क्यों बन गया? हमारा इतिहास इस संबंध में मौन है लेकिन लोकेतिहास बोलता है। यह केवल शब्द का परिवर्तन नहीं है, स्त्री के जीवन का भी परिवर्तन है। इसी तरह जैन श्राविकाएं केशलुंचन करती थीं और लोकभाषा में वे मुंडी कहलाती हैं। अब इस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए बहुत परिश्रम की आवश्यकता नहीं है कि उसका युग्म' रंडी' के साथ कैसे बन गया। अर्थात् 'रंडी–मुंडी'। अनेक काव्य–ग्रंथों में भी इस युग्म का प्रयोग हुआ है। लोकेतिहास सामाजिक –भाषिकी के द्वारा सामाजिक इतिहास के परदे उखाड़ देता है। शिष्ट भाषा– शिष्टों की भाषा इससे परहेज करती है। स्त्री के लिए विधवा के बाद यदि कोई 'गाली' है तो 'बांझ'। ... इसी तरह वे 'ब्रजवासिन', 'भगतिन' आदि शब्दों का विश्लेषण करती है जो सुनने में आदरणीय लगता है लेकिन सामाजिक लोकेतिहास में यह शब्द विधवाओं के लिए प्रयुक्त होती हैं जो प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष बाद में 'वेश्या' बना दी जाती थी। इसी तरह वे वैदिक काल में प्रयुक्त होने वाले 'अभ्रातरा' शब्द का विश्लेषण करती है। और कहती है कि 'अभ्रातरा' शब्द वेश्या के लिए प्रयोग होता था। यानी जिसके भाई नहीं है वह लड़की वेश्या है या उसे वेश्या बनाया जा सकता है।[24] स्त्री आत्मकथाओं में जब इस (वेश्या) का उल्लेख आया है तो वह पितृसत्ता के द्वारा बनाए गए इन शब्दों का नकार और उसका विरोध है। जब कृष्णा अग्निहोत्री अपने लिए अपने ही पति द्वारा प्रयुक्त 'वेश्या' शब्द को लिखती है तो वह पति की पितृसत्तात्मक सोच को ही उजागर करती है। वे लिखती है कि, 'तू तो चवन्नी वाली वेश्या है, तेरा तो वश नहीं चलता घर वालों को भी नहीं छोड़ती।'[25] अर्थात् पितृसत्ता

द्वारा एक स्त्री के अस्तित्व को नकार कर उसे वस्तुकरण करने की प्रक्रिया का ही यह परिणाम है और उसके लिए गढ़ा गया यह शब्द है। यह भी पितृसत्ता की भाषा है जिसका स्त्री चिंतन व विमर्श विरोध करता है और अमानवीय शब्द कहता है।

स्त्री आत्मकथाओं में इस तरह भारतीय समाज के शब्दों का प्रयोग हुआ है कि जो सामाजिक भाषाविज्ञान, लोकेतिहास आदि की दृष्टि से व्याख्या, विश्लेषण–विवेचन आदि स्त्री मुक्ति आंदोलन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्त्री आत्मकथाओं में प्रयुक्त कुछ इस तरह के उदारण देखे जा सकते हैं–आशा आपराद की आत्मकथा, दर्द जो सहा मैंने, ''उसे समझाना काले कम्बल पर रंग चढ़ाने जैसा ही था।''[26], '' हमेशा की तरह हर इच्छा बांझ सी रह जाती...।''[27], '' मां की जुबान का पट्टा आटे की चक्की जैसा निरंतर चलता।''[28], ' जिंदगी ने बैसाख की धूप में जलने की मानो सजा दी।' सहारे की दीवार का एक पत्थर ही टूट गया...।''[29] ; सुशीला टाकभौर की आत्मकथा, शिकंजे का दर्द'–'' रईस की बेटी है? शहजादी है? सुरखाबे पर लगे हैं, चील का मूत मांगती है नहीं मिलेगा तो क्या करेगी।''[30] कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा लगता नहीं है दिल मेरा' की यह पंक्ति, –''हरियाली के बीच कुछ सूखे पत्ते अपना अस्तित्व भूल जाते हैं, मैंने भी अपने जीवन का बड़ा सा अभाव यहां विस्मृत किया है।''[31] आदि वाक्यों, पंक्तियों, की व्याख्या–विश्लेषण किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं में प्रयुक्त भाषा सिर्फ परिवेश–समाज की भाषा ही नहीं है बल्कि स्त्री मन की अतल गहराइयों में दबी आवाज की सतत प्रवाह भी है जो सुअवसर पाकर कल–कल करती नीवर धारा की तरह बह रही है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथाओं की भाषा पितृसत्तात्मक समाज की वर्चस्वशाली भाषा के प्रतिरोध में जन्म ले रही है जिसमें एक नवीन अर्थ, प्रतीक, बिम्ब है तो पुराने प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे आदि में नवीन अर्थबोध भी पैदा कर रही है। इस पूरी प्रक्रिया में पितृसत्तात्मक समाज की भाषाई दीवार– जो पूर्णत दो वर्गीय ढांचा पर आधारित है और स्त्री मूल्यों को कमतर समझती है, को उजागर करती हुई स्त्री मुक्ति आंदोलन और साहित्य सृजन में नवीनता और समतामूलक शब्दों के निर्माण पर बल देती है। स्त्री आत्मकथाओं की भाषा में 'स्थानीय–बोली और अंतर्राष्ट्रीय संप्रेषित भूमंडलीय हिंदी' के स्वरूप को देखा सकता है और साथ ही यह भी समझा जा सकता है कि भाषाओं में काव्यात्मक, बिम्बात्मक और प्रतीकात्मक शब्दों का उद्‌गार है जो एक स्त्री मन की पीड़ा–संत्रास, टीस–वेदना आदि से मुक्ति की भाषा है। उसमें आक्रोश भी है और परिवर्तन की जिद्‌द भी। यह परिवर्तन समय–सापेक्ष स्त्री मुक्ति आंदोलन की वैचारिकी पर निर्भर है और निर्भर करेगी। इस आत्मकथा में लोकगीतों और मुहावरों का प्रयोग इसकी जीवंतता है। जीवन की सजीवतता है। इसमें लोकजीवन की सामूहिकता झलकती है। यह साहित्यिक दृष्टि से स्त्री आत्मकथा की विशिष्टता है।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः

1. न्युगी वा थ्योगों, औपनिवेशक मानसिकता से मुक्ति (हिन्दी अनुवादः आनंद स्वरूप वर्मा), ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2010, पृ. 35
2. आधुनिक वैयक्तिक परिवार नारी की खुली या छिपी हुई घेरलू दासता पर आधारित है। ...परिवार में पति बुर्जआ होता है और पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है।, मार्क्स, एंगेल्स, संकलित रचनाएं ,खंड–3, भाग–2, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978, पृ. 87
3. अल्पना मिश्र, पितृसत्तात्मकता और प्रारंभिक स्त्री कथा लेखन, के. वनजा, (सं.) स्त्री लेखन, अनुज्ञा, दिल्ली, 2017 पृ. 132
4. न्युगी वा थ्योगों, औपनिवेशक मानसिकता से मुक्ति, पृ. 55
5. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या ना कहूं, पृ.168
6. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 36
7. न्युगी वा थ्योगों, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, (हिन्दी अनुवादः आनन्दस्वरूप वर्मा) सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 25
8. बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 68
9. वही
10. वही, पृ. 69
11. चंद्रकिरण सोनरेक्सा, पिंजरे का मैना, पृ. 20
12. शब्दयोग, स्त्री लेखन विशेषांक, संपादकीय, मार्च 2009
13. डॉ. सुधा सिंह, भाषा में वर्ग और लिंगबोध, पृ. 13–14
14. वही, पृ. 14
15. वही, पृ. 14–15
16. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 15
17. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 35
18. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या पृ. 88
19. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 21
20. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या न कहूं पृ. 32
21. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द पृ. 211

22. रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ. 54

23. सुमन राजे, इतिहास में स्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015, पृ.140

24. वही, पृ. 140–141

25. कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 173

26. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, पृ. 49

27. वही, पृ. 71

28. वही, पृ. 98

29. वही, पृ. 100

30. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे कादर्द, प1. 37

31. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 80

उपसंहार

स्त्री सृष्टि का आधार है। इसके निर्माण में नर और मादा दोनों की समान भूमिका है लेकिन कालांतर में प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ प्राणी के तौर पर घोषित मानव में वर्चस्व और असमानता का भाव कब घर कर गया कि आज स्त्रियों को अपनी समानता का दावा करना पड़ रहा है। उसे पुरुष वर्चस्व और आधिपत्य के खिलाफ संघर्ष और आंदोलन करना पड़ रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबंध इसी वर्चस्व और आधिपत्य के खिलाफ स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन के कारण उनके जीवन में आने वाले बदलाव का अध्ययन रहा है। इस बदलते स्त्री जीवन के परिदृश्य को समझने के लिए स्त्री आत्मकथाओं को आधार बनाया गया।

आत्मकथा न केवल आत्म की कथा है बल्कि आत्म निरीक्षण के साथ–साथ आत्म संघर्ष की कहानी भी होती है। वह समाज और समाज के विभिन्न पहलुओं को समझने तथा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में एक संवादधर्मिता को स्थापित करने का माध्यम भी है। इसमें इतिहासबोध के साथ–साथ आत्मचेतना और वैज्ञानिकता का मूल्य भी निहित होता है। इस अर्थ में आत्मकथा समाज विज्ञान के सभी तत्वों के अध्ययन–मनन और हस्तक्षेप का साधन भी है। स्त्री आत्मकथाएं स्त्री जीवन के संघर्ष के साथ उनके स्वप्न एवं विजन की कहानी हैं, जिसमें स्वयं के साथ–साथ समाज को भी समझने का सूत्र निहित है। वह समाज में स्त्री के नजरिए से विभिन्न सामाजिक तत्वों में हस्तक्षेप करने और उसे विकसित करने का एक रचनात्मक उपकरण है।

आत्मकथा लेखन की परंपरा हिंदी में बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' से माना गया है लेकिन इसकी पृष्ठभूमि प्राचीन काल से माना जा सकता है। भारत में पहली स्त्री आत्मकथा राससुंदरी देवी की 'अमार जीवोन' 1876 में आई, उसके बाद हिंदी की पहली स्त्री आत्मकथा दुखनी बाला की आत्मकथा 'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' नाम से 1915 ई में आई। तत्पश्चात हिंदी में स्त्री विमर्श और लेखन की दृष्टि से 21वीं सदी में एक रचनात्मक आंदोलन के तौर पर आत्मकथा लेखन की परंपरा शुरू होती है जिसमें स्त्री जीवन संघर्ष और आंदोलन के विविध पक्षों को स्त्री मुक्ति आंदोलन की दृष्टि से देखा गया है।

आज की नारी आर्थिक व सामाजिक बंधनों व लाचारियों से निरन्तर मुक्त होती जा रही है। जिन विशेषताओं के कारण समाज में पुरुष श्रेष्ठता प्राप्त करता रहा है। भारतीय समाज में अधिकांश स्त्रियों का आर्थिक स्थिति उसके पति की आर्थिक स्थिति पर निर्भर है। यही कारण है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति भी पुरुष के अनुकूल ही हैं क्योंकि आर्थिक और सामाजिक स्थितियां दोनों एक–दूसरे की पूरक हैं। आप जितने पैसे वाले है समाज में आपकी इज्जत भी उतनी ही ज्यादा है। स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्रियों की सामाजिक स्थिति उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। हिंदी की जिन आत्मकथाओं का जिक्र है उन में से अधिकांश स्त्रियां भारतीय समाज की अभिजात समुदाय की हैं। यही वह वर्ग है जिनके पास अपने अनुभवों के दारूण यथार्थ को व्यक्त करने की भाषा है और सामर्थ्य भी। ये स्त्रियां पितृसत्ता की कसौटियों को चुनौती देती दिखाई देती हैं या फिर पहले ही उसके दबावों की पकड़ और पहुंच से मुक्त हैं, या मुक्त हो सकने

लायक आत्मविश्वास और प्रबुद्धता से लैस हैं। यही कारण है इन स्त्रियों ने अपने जीवन जोखिम उठाई हैं और अपनी स्थितियों को समाज के सामने रखने की कोशिश की हैं। इन स्त्रियों ने पितृसत्ता द्वारा निर्धारित सीमाओं को तोड़कर जीवन को अपने हिसाब से जीवन जीना चाही हैं और इस क्रम में स्वयं अपनी छवि को भी निर्धारित की हैं तथा अपनी स्वतंत्रता की कीमत भी चुकाई हैं। इस संदर्भ में यह तथ्य सामने आया है कि स्त्रियों को अपनी स्वतंत्रता का मूल्य चुकाने के बाद ही उसे स्वतंत्रता मिली है और वह अपने अधिकारों के लिए आंदोलन का स्वरूप खड़ा कर पाई है। आंदोलनधर्मी रूप में ही संघर्ष के साथ पितृसत्तात्मक समाज का अंत भी किया जा सकता है और स्त्री–पुरुष असामानता को भी खत्म किया जा सकता है।

स्त्री–पुरुष असमानता और विषमता के संदर्भ में यह देखा गया है कि जिस समाज में एक मूल्य और एक व्यवस्था नहीं बनी है। उस समाज में यह असमानता ज्यादा है। इसमें सबसे बड़ी भूमिका शिक्षा की है। सदियों से ज्ञान सत्ता से दूर रह रही स्त्रियों के लिए समानता का संघर्ष और आंदोलन आसान नहीं रहा है और न ही है। ग्रामीण–शहरी, निची–ऊंची जातियों तथा वर्ग में स्त्री और पुरुषों के लिए अलग–अलग शिक्षा के मापदंड एवं मानदंड तय है। ऐसी स्थिति में समाज में एक समान विकास की धारणा ही गलत है। स्त्री आत्मकथाओं में वर्णित शिक्षा के माध्यम से इस विभेद को जहां सहज ही समझा जा सकता है वहीं उसकी मानसिकता को आज भी देखी जा सकती है। जब तक समाज में शैक्षिक चुनाव की व्यवस्था बनी रहेगी तब तक समाज के भीतर विशेषाधिकार प्राप्त समूह हमेशा पैदा होते रहेंगे और केवल नीति तथा योजना के जरिए ही कुछ–कुछ समानता बनाए रखने में सफलता मिल सकती है। भारतीय समाज में स्त्रियों के संदर्भ में यह 'विशेष प्रशिक्षण और शिक्षा' ने लड़का और लड़की में सामाजिक विभेद को पैदा किया है। उनमें असमानता और उसकी सामाजिकता का बीज पितृसत्ता द्वारा बपन किया गया है और संस्कारस्वरूप इसे धर्म और मोक्ष से आश्रय मिला है। ईश्वर का विधान और स्त्री की नियति के माध्यम से इसे पुष्ट किया गया है। अतएव जब तक शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त चुनाव की व्यवस्था को खत्म नहीं किया जाता है और उसके बदले अनिवार्य शिक्षा तथा समान शिक्षा की पद्धति को लागू नहीं किया जाता है तब तक समतामूलक और शोषण मुक्त समाज की परिकल्पना असंभव है। जिसकी चाह स्त्री आत्मकथाओं में दिखाई पड़ती है।

स्त्री जीवन की मुक्ति का आधार शिक्षा है। बिना शिक्षा के न तो व्यक्तिगत स्तर पर विकास किया जा सकता है और न ही सामूहिक समाज का निर्माण किया जा सकता है, विकसित राष्ट्र की परिकल्पना तो दूर की बात है। स्त्री भी मानव है, इंसान है। उसे भी पुरुष की तरह अधिकार और सम्मान प्राप्त करने का हक है। जब तक समाज में समान शिक्षा, समान नागरिकता, समान अधिकार और मूल्य तथा स्त्री–पुरुष भेदभावमुक्त की मानसिकता नहीं बनती है तब तक न तो स्त्री को साबूत मानव की पहचान मिलेगी और न ही हमारा समाज–राष्ट्र ही विकसित हो सकता है। एक समृद्ध परिवार, स्वस्थ्य समाज और विकसित राष्ट्र की पहचान स्त्री शिक्षा व प्रगति–समृद्धि से ही होती है तो भारत को एक विकसित राष्ट्र की श्रेणी में आने के लिए समान नागरिकता, समान मानव मूल्य, एक वोट एक मूल्य, समान शिक्षा और समान शिक्षा पद्धति, एक समान सामाजिक

व्यवस्था आदि को अपनाना होगा। उसे विकसित करना होगा। उसकी मानसिकता तैयार करनी होगी। तभी जाकर गर्व–गौरव की अनुभूति हो सकती है, उसकी वकालत भी की जा सकती है अन्यथा विकसित भारत–समृद्ध भारत, बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओं आदि यह सब एक छद्म–छलावा के सिवाय और कुछ नहीं है।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग के 21वीं सदी तक के सफर में उनकी स्थिति में परिवर्तन तो हुआ है लेकिन जिस अपेक्षित परिवर्तन की आशा की जा सकती है, उसका होना अभी तक बाकी है। भारतीय समाज की सामाजिक संरचना पितृसत्ता और वर्ण–जाति आधारित है जिसके कारण यहां की असमानता–विषमता की रेखा इतनी बारीक रूप में है कि यहां की स्त्रियां किन कारणों से दोयम दर्जे का जीवन जी रही हैं, यह तय करना बहुत मुश्किल होता है क्योंकि यहां हर समुदाय/वर्ग की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अलग–अलग रही है। स्त्री–पुरुष में असमानता व भेदभाव की प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष दीवार है। स्त्री–पुरुष के बीच की यह दीवार न केवल पितृसत्ता की देन है बल्कि पितृसत्ता का यह रूप तो यहां की सामाजिक संरचना में व्याप्त है जिसे यहां की धर्म–ईश्वर विधान और सांस्कृतिक व्यवस्था बहुत ही मजबूत करती है। सबसे मार्मिक बात तो यह है कि यहां की स्त्रियां शिक्षित और पढ़ी–लिखी होने के बावजूद पितृसत्तामूलक धार्मिक और सांस्कृतिक अनुष्ठान का पालन करती हैं और उसे ढोती भी हैं। जिसे आजकल की पूंजीवादी मीडिया संस्कृति के नाम पर जनमानस को सबसे ज्यादा बोध कराती है और समाज वैसा ही करता है और करने लगा है जैसा कि मीडिया के माध्यम से ब्राह्मणवादी और पूंजीवादी व्यवस्था का पितृसत्तात्मक अंग उसे करने को कहता है।

भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरचना यहां की स्त्रियों को न केवल उसे ज्ञान की सत्ता से वंचित करती है बल्कि उसे पितृसत्ता की यांत्रिकता को भी जीने के लिए बाध्य करती है और आर्थिक संसाधनों में भागीदारी से भी वंचित करती है। यहां की स्त्रियों की मानव संसाधनों में भागीदारी न होने की वजह से न केवल वह आर्थिक रूप से कमजोर हैं और इस स्थिति में आर्थिक निर्भरता उसे सशक्त भी नहीं होने दे रही है। बिना आत्मनिर्भर हुए न तो वह आत्मनिर्णय ही सही से ले सकती हैं और न ही आत्मविश्वास के साथ वह पितृसत्ता से मुक्त ही हो सकती हैं, जो कि स्त्री सशक्तिकरण की दिशा में सबसे बड़ी कमजोरी है। इसकी पुष्टि यहां की राजनीति व्यवस्था में स्त्रियों की अनुपस्थिति से भी होती है। स्त्री मुक्ति आंदोलन की दृष्टि से यह स्त्रियों की दयनीय स्थिति का द्योतक है और राजनीतिक दृष्टि से स्त्रियों की कमजोरी को ही व्यक्त कर रही है। इन सब कारणों की वजह से स्त्रियां ज्ञान की सत्ता से वंचित हैं। जब तक वह इससे दूर रहेंगी उनमें चेतना नहीं आ सकती है। और बिना शिक्षित–चेतनशील हुए न तो अपनी दयनीय स्थिति को समझी जा सकती है और न ही उससे मुक्त हुआ जा सकता है। ऐसी स्थिति में स्त्री मुक्ति का सवाल बहुत ही जटिलता का रूप धारण कर लेता है। समाज में स्त्रियों की मुक्ति तभी संभव है जब उसे समाज के सभी संसाधनों में उचित भागीदारी मिले, उनके सर्वांगीण विकास हेतु समुन्नत शिक्षा में स्त्रियों का प्रशिक्षण एवं उसकी उपलब्धता आवश्यक है। तभी जाकर स्त्रियां अपनी दयनीय स्थिति से मुक्ति हो सकती हैं। मुक्ति की इस प्रक्रिया में ही समाज की परंपरा और

उसके बदलते मूल्यों यानी आधुनिकता, वैज्ञानिकता आदि के समावेशन को भी समझा जा सकता है। यानी आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के मूल्यों से ही समाज में अपेक्षित बदलाव हो सकता है और इससे न केवल समाज की जड़ता, रूढ़िवादिता, कर्मकांड आदि खत्म होगा बल्कि इससे बंधी स्त्रियों का जीवन भी मुक्त होगा। स्त्रियों के जीवन को परंपरा और आधुनिकता किस प्रकार से प्रभावित कर रहा है और उसका प्रभाव किस प्रकार से हो रहा है, पर विचार किया जा सकता है, क्योंकि भारत में अभी भी परंपरा और आधुनिकता में द्वंद्व की स्थिति बनी हुई है।

भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व इस रूप में व्याप्त है कि आज भी यहां स्त्रियों के लिए पारंपरिक मान्यताएं जड़ बनी हुई है और प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से उसका पालन करना उचित समझा जाता है। आज भी स्त्रियों के लिए पर्दाप्रथा और पारंपरिक मान्यताओं का बंदिश है। ये सब सभी तरह से स्त्रियों को पर्दों के भीतर ही खींचता है। सवाल उठता है कि लोकतांत्रिक और वैज्ञानिक युग में भी स्त्रियों के लिए पर्दा क्यों?जबकि स्त्री–पुरुष सभी समान कहलाने का हक रखता है। कहीं यह साजिश तो नहीं स्त्रियों के प्रति, क्योंकि विज्ञानसम्मत यह देखा गया है कि प्रकृति की सभी जीवित प्राणी स्वतंत्र रूप से परिस्थितियों के साथ अनुकूल विकास करता है, अन्यथा वे उस रूप को नहीं पा सकेंगे, जो मूलतः उनका आकार है, फिर इस नियम का उल्लंघन क्यों? औरतें पर्दे में क्यों? घर की चाहरदीवारी में सीमित अपनी पूरी जिंदगी खुली हवा में सांस न ले पाने को मजबूर, वे पीढ़ी दर पीढ़ी कमजोर होती चली आई है। उनकी शारीरिक बनावट क्षीण से क्षीणतर होती गई है, उनकी भावनाएं समाज के अंधविश्वासों एवं मान्यताओं के बोझ तले दबती चली आ रही हैं, इस प्रकार से उनका मस्तिष्क कई तरह के विचारों एवं ज्ञान से वंचित रह जाता है, जिससे वह विश्व को देखने समझने के काबिल नहीं रह पातीं। आज इसे विज्ञान साबित कर चुका है फिर भी आज समाज में परंपरा के नाम पर होने वाले पर्दे वस्तुतः स्त्रियों की योग्यता, उसकी क्षमता, उसके स्वास्थ्य आदि को चारदीवारी के भीतर रखने के लिए किया जाता रहा है। यही कारण ही है भारतीय समाज विकास की दिशा में अनियंत्रित और अनियमित हैं क्योंकि वह देश की आधी आबादी की शक्ति का सही से इस्तेमाल ही नहीं करता है। वह उसे दिनब दिन सीमित करने का प्रयास करता है अपनी झूठी शान, परंपरा, रीति–रिवाज आदि के नाम पर। हकीकत यह है यह सब पुरुष वर्चस्व का किला है जिसे स्त्रियों की शक्ति कभी भी खत्म करती है। यही वजह है कि उसके जीवन को धर्म, संस्कार, परिवार, मर्यादा, नैतिकता आदि के नाम पर पितृसत्ता द्वारा कैद कर दिया जाता है। इसका उल्लेख स्त्री आत्मकथाओं में देखने का मिलता है। रमणिका की मां रमणिका को दुपट्टे से सिर ढकने को कहती हैं तो आशा आपराद पर्दा के कारण ही बेइज्जती महसूस करती हैं। यह सब परंपरा के निर्वाहन के नाम पर किया जाता है और स्त्रियों को ऐसा करने के लिए मजबूर किया जाता है। परपंरा की ऐसी रीति–रिवाजों को आधुनिक वैज्ञानिकता के संदर्भ में देखने की जरूरत है।

किसी भी समाज की स्त्रियों की स्थिति और संकट को उस समाज तथा राष्ट्र की स्थिति एवं संकट के रूप में देखा जाना चाहिए। जब तक यह भावना नहीं आती है तब तक समाज विकास की दिशा में आगे नहीं

बढ़ सकता है। स्त्री आत्मकथाओं मे स्त्री जीवन के जिस यथार्थ और उससे उत्पन्न द्वंद्व को दिखाया गया है वह वस्तुतः एक द्वंद्व ही नहीं समाज के लिए संकट है, इस राष्ट्र का संकट है। वह समाज में स्त्रियों की दशा की रूपरेखा व कारक को उजागर करती है। समाज में स्त्री जीवन के संकट को राष्ट्रीय संकट के रूप में रेखांकित करती हैं। इस संदर्भ में यह तथ्य सामने आया है कि सदियों से समाज में पितृसत्तात्मक आचार संहिता को पूर्ण रूप से समर्पित स्त्रियों का रूपांतरण एक दासत्व प्रिय प्राणी में हो गया है। यह दासता ऐसी मानसिकता में तब्दील हो गई कि वह किसी भी मूल्य पर पुरुषों पर आश्रित और पूर्ण निर्भर होने में खुश होती है और यह प्रवृति उनके पुत्रों में फलित होकर इच्छा में बदल जाती है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि आज अधिकांश स्त्रियां पुरुषों के द्वारा और पुरुषों के लिए निर्मित तंत्रों और संसाधनों पर निर्भर होकर जीवन जीने में गर्व और संतुष्टि का अनुभव करती हैं। इस पूर्ण निर्भरता में उपेक्षा और दासत्व का भाव निहित होता है जिसे स्त्रियां सहज स्वीकारती हैं तथा इसी का दूसरा रूप होता है नियतिवाद और भाग्यवाद। नियतिवादी–भाग्यवादी बातें जो पिता या पुत्र के मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर बताई जाती हैं, वह नासूर बीमारी की तरह फैल गई है और आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था इसे नये तेवर के साथ और भी फैला रही है। जिसका परिणाम समाज के लिए बहुत ही घातक और संकटकारी है। इस नियतिवाद और भाग्यवाद सिर्फ स्त्रियां ही नहीं फंसी हुई बल्कि इसमें वे पुरुष भी शामिल है जिसे ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपने अनुकूलन के लिए बनाया है और जिसमें स्त्री–पुरुष दोनों गुलाम हैं। भारतीय समाज को तरक्की करनी है तो स्त्री जीवन के द्वंद्व के साथ, उसके जीवन के संकट को राष्ट्रीय संकट के तौर पर स्वीकृत करते हुए एक सशक्त सामाजिक परिवर्तन की जरूरत है। यह परिवर्तन ही राष्ट्र को और स्त्री जीवन मूल्यों को संकट से मुक्त कर सकता है। इसी आलोक में स्त्री मुक्ति आंदोलन और उसकी वैचाकिरता को भी निर्धारित किया जाना चाहिए और साथ ही उसकी सामाजिकता को भी जनमानस में संचालित करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

किसी भी समाज के विकास में वहां की पारंपरिक मूल्य, जो इतिहासबोध से संचालित होता है उसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है लेकिन परंपरा के नाम पर सामाजिक–सांस्कृतिक जड़ता, रूढ़िवादिता, कर्मकांड आदि का पालन करना समाज को विकास की राह से पीछे ले जाता है। वहीं आधुनिकता जो कि एक वैज्ञानिक एवं तर्कशील वैचारिक मूल्य है, किसी भी समाज के उत्थान व विकास के लिए अनिवार्य पहलू है। भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व इस कदर गढ़–मढ़ है कि वह समाज के विकास में सहायक नहीं होता है। 'द्वंद्व' की स्थिति स्त्रियों के लिए, स्त्री मुक्ति के लिए बहुत सहज नहीं है। परंपरा की नकारात्मक चीजें और आधुनिकता की 'फुहड़' चीजें दोनों ही किसी भी समाज के विकास में बाधक होती है, स्त्रियों की दृष्टि से इसे सकारात्मक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिस समाज में स्त्री शिक्षा की समुन्नत स्थिति नहीं है उस समाज में परंपरा और आधुनिकता की नकारात्मक तथ्यों की पहचान बहुत आसान नहीं। ऐसी स्थिति में वह स्त्री मुक्ति आंदोलन के लिए घातक है ही, साथ में समाज और राष्ट्र के लिए भी उचित नहीं कहा जा सकता है। राष्ट्र और समाज के विकास के लिए परंपरा और आधुनिकता की वैचारिकी का समन्वय के साथ समावेशन जरूरी है। साथ ही उसमें स्त्री पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

स्त्रियों की गुलामी की संस्कृति की शुरूआत वहां से होती है जहां से पितृसत्ता या उसकी संस्कृति का वर्चस्व स्थापित होती है तभी से स्त्रियों का संघर्ष शुरू होता है और सतत चलता हुआ मानवीय संबंधों की भी खोज करता है। स्त्रियों का आंदोलन पितृसत्तात्मक समाज और उसके विविध तंत्रों–सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक आदि के खिलाफ है जो किसी न किसी रूप में स्त्रियों को उत्पीड़ित करता है, उसे अपने अधीनस्था बनाकर जीवन जीने के लिए मजबूर करता है। उनके मानवीय मूल्यों–स्त्री जीवन मूल्यों से उन्हें प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से वंचित करता है, उसका शोषण, उत्पीड़न करता है, उसके साथ अन्याय–अत्याचार करता है। यहीं से स्त्री जीवन का संघर्ष शुरू होता है और जब स्त्रियां चेतनशीलता के साथ इसके खिलाफ आवाज उठाती हैं, चिंतन करती हैं तब वहीं से उनकी आवाज एक दर्शन और वैचारिकी के साथ आंदोलन में तब्दील हो जाती है, जो स्त्री–पुरुष असमानता और अधीनस्थता– गुलामी के विविध रूपों को समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व में परिवर्तित कर एक समतामूलक समाज और राष्ट्र का निर्माण एवं विकास करता है। मानवीय गरिमा, अस्मिता–अस्तित्व और स्त्री–पुरुष संबंधों से जुड़े तमाम संकटों को रेखांकित करता हुआ यह आंदोलन समाज और देश के राष्ट्रीय संकट की ओर संकेत करता है। यदि समय रहते हुए इन संकटों को दूर नहीं किया जाता है तो निश्चय ही यह समाज के लिए घातक होगा।

आधुनिकता के इस दौर में स्त्री जीवन मूल्यों का हनन, उसे उनके मूल्यों से वंचित रखना, स्त्री–पुरुष संबंधों में हो रहे परिवर्तन तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्त्री द्वारा बढ़ाया गया कदम, उनके द्वारा मानवीय मूल्यों के लिए किया गया संघर्ष और आंदोलन ने उनके जीवन में कई प्रकार का बदलाव लाया है। आर्थिक स्वावलंबन की ओर उनका कदम बढ़ रहा है और समाज की आर्थिक संसाधन में संविधान प्रदत्त अधिकार के साथ उनकी भागीदारी भी हो रही है, ऐसी स्थिति में न केवल वे अर्थोपार्जन कर रही हैं बल्कि सामाजिक संस्थानों का नेतृत्व भी संभालने लगीं हैं। राजनीतिक में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर रही हैं लेकिन इस सब के बावजूद सभी संस्थानों में उनकी उपस्थिति समाज की असमानता का द्योतक है। उस परिदृश्य को बदलने की जरूरत है। जिसकी जिम्मेदारी स्त्री–पुरुष दोनों पर समानरूप से है। इस संदर्भ में एक और परिदृश्य को बदलने का इंतजार है जिसकी जिम्मेदारी स्वयं स्त्री लेखन में आई है, वह है भाषा का स्वरूप। समाज–साहित्य में ऐसे शब्दों का भंडार है जो स्त्री विरोधी है और पितृसत्तात्मक समाज वक्त–बे–वक्त उसका प्रयोग कर स्त्रियों को न केवल नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं बल्कि उसके मानवीय अस्तित्व–अस्मिता पर ही सवाल खड़ा कर देते हैं। सही मायने में इस बदलाव के बाद ही स्त्री जीवन के बदलते परिदृश्य और उसके स्वरूप को देखा जा सकता है और एक नया समाज जिसमें स्त्री–पुरुष सम–सह संबंधों को महसूस करेगा। डर, भय, हीनताबोध, अपराधबोध, असुरक्षा आदि से मुक्त मानव मात्र के रूप में अनुभूत कर रहा होगा। यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और चलती रहेगी।

स्त्री आत्मकथाओं की भाषा पितृसत्तात्मक समाज की वर्चस्वशाली भाषा के प्रतिरोध में जन्म ले रही है जिसमें एक नवीन अर्थ, प्रतीक, बिम्ब है तो पुराने प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे आदि में नवीन अर्थबोध भी पैदा कर रही है। इस पूरी प्रक्रिया में पितृसत्तात्मक समाज की भाषाई दीवार– जो पूर्णत दो वर्गीय ढांचा पर आधारित है और

स्त्री मूल्यों को कमतर समझती है, को उजागर करती हुई स्त्री मुक्ति आंदोलन साहित्य सृजन में नवीन अर्थबोध और समतामूलक शब्दों के निर्माण पर बल देता है। स्त्री आत्मकथाओं की भाषा में 'स्थानीय–बोली और अंतर्राष्ट्रीय संप्रेषित भूमंडलीय हिंदी' के स्वरूप को देखा सकता है और साथ ही यह भी समझा जा सकता है कि भाषाओं में काव्यात्मक, बिम्बात्मक और प्रतीकात्मक शब्दों का उद्‌गार है जो कि एक स्त्री मन की पीड़ा–संत्रास, टीस–वेदना आदि से मुक्ति की भाषा है। इसमें आक्रोश भी है और परिवर्तन की जिद्‌द भी। यह परिवर्तन समय–सापेक्ष स्त्री मुक्ति आंदोलन की वैचारिकी पर निर्भर है और निर्भर करेगी। इस आत्मकथा में लोकगीतों और मुहावरों का प्रयोग इसकी जीवंतता है। जीवन की सजीवतता है। इसमें लोकजीवन की सामूहिकता झलकती है। यह स्त्री आत्मकथाओं की विशिष्टता है जो कि भाषा की दृष्टि साहित्य संपदा को समृद्ध करती है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री जीवन की उन सच्चाइयों से समाज को अवगत कराया है जो कि अब तक साहित्य या समाज में नहीं व्यक्त हुआ था। उन्होनें अपने जीवन को जिस रूप में जिया है, उसे महसूस किया है, उसी रूप में उसका साहित्यिक चित्रण भी किया है। यही आत्मकथा की पहली शर्त भी है। सभी स्त्री आत्मकथाकारों के पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि परिवेश भिन्न प्रकार के हैं और उसकी परिस्थितियां भी अलग–अलग हैं। इन्हीं भिन्न परिवेश और परिस्थितियों के कारण स्त्री आत्मकथाओं में व्यक्त स्त्री जीवन के बहुआयामी पक्ष उपस्थित हुए हैं। इन आत्मकथाओं में स्त्री जीवन के बचपन, यौवन और वृद्धावस्था के साथ–साथ उनकी कई पीढ़ियों का संघर्ष व्यक्त हुआ है जो कि स्त्री जीवन के व्यापक और जटिल संघर्ष को ही बताता है। स्त्री जीवन से संबंधित अनेकों समस्याओं, पीड़ाओं, शारीरिक–मानसिक यातनाओं, उसकी प्रसन्नता, उसके सुख–दुःख, परिवार के प्रति उसकी आत्मीयता, समाज के प्रति उसके उत्तरदायित्व तथा और भी अनेकों प्रसंगों एवं घटनाओं का चित्रण हिन्दी साहित्य में हुआ है। लेकिन अनुभूति की प्रामाणिकता की दृष्टि से देखा जाए तो स्त्रियों द्वारा जितनी ईमानदारी और आत्मीयता से स्त्री जीवन के विविध पक्षों को रेखांकित किया गया है या वह कर सकती है, उतना पुरुषों द्वारा संभव नहीं। लेकिन सवाल उठता है कि क्या पुरुष द्वारा स्त्री जीवन पर लिखा गया लेखन खारिज कर दिया जाए? संभवतः ऐसा करना उचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साहित्य सृजन लोकतांत्रिक प्रक्रिया है और सभी को अपने अनुभव लिखने की स्वतंत्रता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में एक स्त्री देवी स्वरूप होने के बावजूद भी अभिशप्त जीवन जीती है। यही स्त्री जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है कि तमाम सुख–सुविधाओं के बावजूद स्त्री जीवन कहीं न कहीं अभिशप्त है। इसका एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी है जो आधुनिकता के बावजूद स्त्री जीवन को चहारदीवारी में घेरती है। उसे उससे बाहर नहीं आने देती है। वे सभी प्रकार की भौतिक सुख सुविधाओं का उपभोग भी कर रही है, लेकिन वे आत्मनिर्णय की स्थिति में नहीं होती हैं। वे किसी भी निर्णय के लिए पुरुषों पर आश्रित क्यों रहती है? यह सवाल स्त्री जीवन के बदलते परिप्रेक्ष्य पर फिर से विचार करने के लिए मजबूर करता है। क्या पुरुषों को समाज के विकास और समृद्धि के लिए अपने आप में बदलाव नहीं करना चाहिए? क्या उसे अपनी मानसिकता में स्वयं को परिवर्तन लाने की जरूरत नहीं? इसे दृष्टि से भी विचार करने की आवश्यकता है।

भारत के विभिन्न प्रातों में स्त्रियों के उत्थान व विकास के लिए स्त्री संगठन काम कर रहा है। अपनी मानवीय मूल्यों के लिए प्रयत्नशील हैं। लेकिन विडम्बना की बात यह है कि आधुनिकता के युग में भारतीय पुनरोत्थानवादी मानसिकता महिलाओं को वैदिक, रामायण–महाभारत, शास्त्रों, पुराणों की दासता वाली कथा–कहानियों को सतत आधुनिक तंत्र–'मीडिया के माध्यम से प्रसारित–प्रचारित कर महिमामंडित करके महिलाओं को विशेष प्रकार से 'भोग्या' ही बनाए रखने के लिए षड्यंत्र करते नजर आ रहे हैं। इसी प्रकार से स्त्रियां भी मनुवादी मानसिकताओं से ग्रसित होकर बड़े गौरव व तन्मयता से इसे गाती और प्रचारित कर रही हैं। आज कल तो स्त्रियां भी साधु बन गई हैं और उसी का प्रचार–प्रसार कर रही हैं। साधु बनने से आपत्ति नहीं है लेकिन पुरुषवादी मानसिकता को अघोषित रूप से प्रचार–प्रसार यह बहुत बड़ी विडम्बना है स्त्रियों का, स्त्रियों के जीवन के लिए। गौरतलब बात है कि स्त्रियों का उत्थान किस प्रकार से हो या कैसे स्त्रियों को विकसित किया जाए। यह समस्याएं बहुत बड़ी समस्याएं हैं। स्त्री को मानव श्रेणी में मानकर उनको पुरुषों की ही भांति सभी अधिकारों से संपन्न करना समाज का एक पक्ष है और स्त्रियों में अश्लीलता, उच्छृंखलता, अनैतिक स्वच्छंदता को बढ़ावा देना इसका दूसरा पक्ष है। इस सब के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था व मानसिकता ही उत्तरदायित्व है। स्त्रियों में नैसर्गिक रूप से ममता, स्नेह, वात्सल्य, मैत्री, दया, करुणा, रक्षा एवं पोषण की संवेदना व्याप्त होती हैं। पुरुष की विलासितापूर्ण कुत्सित रमण करने की उद्याम आकांक्षा ही स्त्री को पत्नी से वेश्या तक बनाने में सहायक हुई है और होती भी है। भोग की वस्तु मात्र गोधन, गजधन, बाजिधन की भांति कन्या धन या स्त्री धन मानकर जन्म से ही स्त्रियों को पराया धन मानकर या इसका अहसास कराकर बेटियों के मानवोचित अधिकार से वंचित करने का षड्यंत्र संस्कारवश रचा जाता है और उसकी स्वीकृति संस्कारवश बेटियों से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष से ली जाती है। स्वाभाविक है कि उसकी मानसिकता भी उसी प्रकार की बन जाएगी। तभी तो आज की बहू कल सास बनने पर वह सब भूल जाती है जो स्वयं उसके साथ दुर्व्यवहारपूर्ण दुर्घटनाएं हुई थीं। कदाचित दैव का नियम और अपनी नियति मान लेने वाली स्त्रियां उस मानसिकता से कभी उबर नहीं सकतीं। दुख तो तब होता है जब वे अपने इस अमानवीय दायभाग को भावी संतान को सौंपती हैं। जब तक यह मानसिकता खत्म नहीं होती है वास्तविक अर्थों में स्त्री मुक्ति नहीं कहा जा सकता है और न ही आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की वैचारिकी में स्त्री जीवन का बदलता स्वरूप ही इसे कहा जा सकता है। स्त्रियों का जीवन बदला जरूर है लेकिन उसकी गति बहुत ही धीमी है। वह ज्ञान–विज्ञान की आधुनिकतम सोच व चिंतन से लैस नहीं दिख रही है जिसकी 21वीं सदी में उम्मीद थी या उम्मीद की जा रही थी। आधुनिक ज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी उपस्थिति दर्ज हो रही है लेकिन वह सिर्फ आत्मनिर्भरता तक सीमित है, आत्मनिर्भरता की अनुपात में आत्मनिर्णय और आत्मविश्वाास की कमी देखी जा सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में ऐसे कई पहलू उजागर हुए हैं जिसमें स्त्रियां आत्मनिर्भर हुई हैं लेकिन आत्मनिर्णय और आत्मविश्वास की कमी उसमें वैसी ही है जैसी समय–सापेक्ष पितृसत्ता में परिवर्तन देखी जा सकती है। ऐसी स्थिति में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अंत और स्त्री मुक्ति आंदोलन की परिकल्पना की सार्थकता मुश्किल सी लगती है। वह असंभव नहीं है।

ग्रंथ सूची (Bibliography)

प्राथमिक स्रोत (Primary Source)

1. मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
2. रमणिका गुप्ता, हादसे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
3. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
4. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
5. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
6. कृष्णा अग्निहोत्री, और...और...औरत, सामयिक बुक्स, दरियागंज, नई दिल्ली, 2010
7. चंद्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
8. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
9. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
10. शीला इन्द्र, क्या कहूं क्या ना कहूं, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
11. आशा आपराद, दर्द जो सहा मैंने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
12. रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

द्वितीय स्रोत (Secondary Source)

1. अनामिका, स्त्री विमर्श की उत्तर–कथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
2. अनामिका, स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
3. अनामिका, स्वाधीनता का स्त्री पक्ष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
4. अभयकुमार दुबे (सं.), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
5. अरविंद जैन, औरत अस्तित्व और अस्मिता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
6. उर्मिला प्रकाश मिश्र, *प्राचीन भारत में नारी,* मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
7. एलीन मारगन, *नारी का अवतरण,* अनुवाद–प्रकाश दीक्षित, ंवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009
8. एम.एन.श्रीनिवास, *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991
9. कंचन यादव, गोविंद दास सं.*उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज,* श्यामा प्रसाद मुखर्जी राजकीय महाविद्यालय, फाफामऊ, इलाहाबाद, 2011
10. कत्यायनी, *दुर्ग द्वार पर दस्तक,* परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2004
11. कमला प्रसाद, सं. *स्त्री मुक्ति का सपना,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2009
12. कमलेश सिंह, *हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1989
13. के दामोदरन, *भारतीय चिंतन परंपरा,* हिन्दी अनुवाद– जी श्री धरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2001
14. के. वनजा, (सं.) स्त्री लेखन, अनुज्ञा, दिल्ली, 2017
15. कृष्ण कुमार, चूड़ी बाजार में लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
16. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999
17. कृष्णदत्त पालीवाल, *नारी–विमर्श की भारतीय परंपरा,* सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2014
18. गरिमा श्रीवास्तव, देह ही देश, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2017
19. गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006
20. चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
21. जार्ज गस्टॉर्फ, कंडीशंस एंड लिमिट्स ऑफ ऑटोबायोग्राफी– इन ओल्गी ऑटोबायोग्राफ
22. जर्मेन ग्रीयरः बधिया स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
23. जॉन वोल्फ गैंग गोरथे, मेरी जिंदगी के स्वप्न और सत्य, अनुवाद–नवोदिता शर्मा, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009

24. जॉन स्टुअर्ट मिल, *स्त्रियों की पराधीनता,* हिन्दी अनुवादः प्रगति सक्सेना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
25. जार्ज लूकाच, समकालीन यथार्थवाद, अनुवाद–कर्णसिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
26. जर्मेन ग्रीयर, विद्रोही स्त्री,
27. देवेन्द्र इस्सेर, *स्त्री मुक्ति के प्रश्न,* सवांद प्रकाशन, मेरठ, 2009
28. धीरेन्द्र वर्मा, सं. *हिन्दी साहित्य कोश,* ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1985
29. न्युगी वा थ्योंगो, *औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति,* ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1999
30. न्गुगी वा थ्योगों, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, (हिन्दी अनुवादः आनन्दस्वरूप वर्मा) सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 1999
31. निर्मला जैन, कथा समय में तीन हमसफर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
32. निर्मला जैन, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
33. निर्मला पुतुल, *अपने घर की तलाश में,* हिन्दी अनुवादः अशोक सिंह, रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, 2004
34. नीरू, प्रतिरोध का दस्तावेजः महिला आत्मकथाएं, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
35. दर्शनकोश, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1988
36. देवेन्द्र चौबे, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2001
37. देवेन्द्र चौबे, विष्णु सरवदे, शिकंजे का दर्द, शिल्पायन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2016
38. देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य, संकल्प प्रकाशन, मुम्बई, 1992
39. दामोदर धर्मानन्द कोसंबी, *मिथक और यथार्थ* ;हिन्दी अनुवादः नवल किशोर, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 2001
40. डेविड एल सिल्स,(सं.) इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोसल साइंसेज, वैल्यूम, 13, दी मैचमित्तन कंपनी एंड दी फ्री प्रेस, न्यूयार्क
41. डी एच वघेरा, भारत में महिलाओं के अधिकार एवं कानून व्यवस्था, पैराडाइज पब्लिशर्स, जयपुर, 2013
42. डी डी कोसांबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, अनुवाद–गुणाकर मुले, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990
43. निवेदिता, नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, हिदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2013
44. पं. रमाबाई, *हिन्दू स्त्री का जीवन,* ;हिन्दी अनुवादः प्रभु जोशी, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2006
45. पंकज चतुर्वेदी, *आत्मकथा की संस्कृति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
46. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्रीमुक्ति–कामना की दस वार्ताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
47. प्रभा खेतान, बाजार के बीचःबाजार के खिलाफ, भूमंडलीकरण और स्त्री प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
48. बी आर अम्बेडकर, हिंदू नारी का उत्थान और पतन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
49. बेलिंस्की, हर्जन चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव, दर्शन साहित्य और आलोचना, परिकल्पना प्रकाशन लखनऊ, अनुवाद–नरोत्तम नागर, 200
50. बद्री नारायण, सं. *उपेक्षित समुदायों का इतिहास,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
51. बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
52. टी.वी.बॉटमोर, समाजशास्त्र, ग्रंथशिल्पी, दिल्ली, 2004
53. तसलीमा नसरीन, औरत का कोई देश नहीं
54. धीरूभाई सेठ, (प्र.एवंसं.–अभयकुमार दुबे), सत्ता और समाज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
55. भगवत शरण उपाध्याय, ,खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
56. मंगलदेव शास्त्री, प्रबंध प्रकाश, भाग–2
57. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004
58. मार्क्स, एंगेल्स, संकलित रचनाएं ,खंड–3, भाग–2, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978
59. माता प्रसाद, झोपड़ी से राजभवन, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
60. मैत्रेयी पुष्पा, खुली खिड़कियां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
61. मृणाल पांडेय, *जहां औरतें गढ़ी जाती हैं,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
62. मृणाल पांडेय, *स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

63. मणिका गुप्ता, सं. *स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण,* नव चेतना प्रकाशन, दिल्ली, 2009
64. रंजना जैदी, स्त्री कथा कथा अनंता, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2013
65. रविभूषण पाण्डेय, उत्तरोत्तर आधुनिकतावाद और सामाजिक परिवर्तन, आकृति प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
66. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, सं. *अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
67. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
68. राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान, अभयकुमार दुबे, पितृसत्ता के नए रूप, राजकमल प्रकाशन, 2010
69. राजेन्द्र यादव, एक दुनिया समानांतर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1974
70. राजकिशोर(सं.), स्त्री के लिए जगह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
71. रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत, 2058
72. रामचन्द्र तिवारी, *हिन्दी का गद्य–साहित्य,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2009
73. राज कुमार, दलित पर्सनल नैरेटिवस (रीडिंग कास्ट, नेशन एंड आईडेंटिटी), ऑरिएंटल ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2010
74. रजनी तिलक,(सं.) भारत की पहली शिक्षिका सावित्रीबाई फुले, सेंटर फॉर ऑल्टरनेटिव दलित मीडिया, दिल्ली, 2002
75. रामधारी सिंह दिनकर, *संस्कृति के चार अध्याय,* लोक भारती प्रकाशन, पुनरावृत्ति इलाहाबाद, 2008
76. राम शरण शर्मा, *शूद्रों का प्राचीन इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
77. रमाशंकर आर्य, घुटन, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, 2007
78. रमेश उपाध्याय, सं. *आज का स्त्री आंदोलन,* शब्द संधान, प्रकाशन, दिल्ली, 2004
79. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
80. रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छवास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
81. ललिता एन राठौर, आधुनिकताः स्त्री विमर्श, समता प्रकाशन, कानपुर, 2014
82. विजय शर्मा, अफ्रो–अमेरिकन साहित्यः स्त्री स्वर, वाणी प्रकाशन, 2014
83. वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य और संस्कृति :भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1971
84. विद्या निवास मिश्र, *क्या पूरब क्या पश्चिम,* सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2015
85. विनिता अग्रवाल, *हिन्दी आत्मकथाएं सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण,* सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
86. विमल थोरात, *दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर,* अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 2008
87. शिवकुमार मिश्र, यथार्थवाद, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली,1978
88. श्यामाचरण दूबे, *भारतीय समाज;* हिन्दी अनुवादः वंदना मिश्र, ने.बु.ट्र.ए इंडिया, 2009
89. शरण कुमार लिंबाले, *अक्करमाशी* ;हिन्दी अनुवादः सूर्यनारायण रणसुभे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
90. स्फुरना देवी, *अबलाओं का इंसाफ,* संपादन–नैया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
91. सुधा सिंह, सं. मेरा जीवन, रास सुन्दरी दासी, स्वराज प्रकाशन, 2010
92. सुधा सिंह, भाषा में वर्ग और लिंगबोध, (आलेख)
93. सुधा अरोड़ा, एक औरत की नोट बुक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
94. सुमन राजे, इतिहास में स्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015, पृ.140
95. सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006
96. सुषम वेदी, आरोह–अवरोह, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, 2015
97. संजीव चंदन और अनीता(सं.) भारती, दलित स्त्रीवाद,
98. संजीव चंदन, समय से संवाद–4, चौखट पर स्त्री, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2015
99. सीमोन द बोउवार, *स्त्री उपेक्षिता,* हिन्दी अनुवादः प्रभा खेतान हिंदी पाकेट, बुक्स, दिल्ली, 2002
100. संजय गर्ग, स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
101. सोहन लाल शास्त्री, *हिन्दू कोड बिल और डॉ. अम्बेडकर,* सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, 2009
102. हेमलता महीश्वर, स्त्री लेखन और समय के सरोकार, नेहा प्रकाशन, दिल्ली ,2008
103. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्श, समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

अंग्रेजी की पुस्तकें:

1 *Women in Modern India* , Volume-4, by Geraldine Forbes, Cambridge University Press, New Yark, 2004
2 *Changing status and Role of women in Indian Society*, Edt. C. chakrapani, S. Vijaya Kumar, MD Publication Pvt, Ltd, 1994
3 *Modernisation and Status of Working women in India: A socio economic study*, Anita Sharma, Mital Publication, New Delhi, 1990
4 *Women writing in India: 600 BC to the early 20th century*, Edt. Susie Thary and K. Lalita, Feminist Press, New Yark, 1991
5 *Women's Equality in India*, Kumari Devi, Discovery publication House, New Delhi, 2000
6 *Women in India: Past and Present*, Neelam Upadhyay, Rekha Pandey,Chagh Publications, 1990
7 *Dalit women's Education in Modern India: Double Discrimination,* Shailaja Paik, Routlodeg, New Yark, 2014
8 *Writing Caste & Writing : Narative Dalit Womens*, Zuban Publication, New Delhi, 2006
9 Dalit Pernsonal Narretives: Reading Caste, Nation And Identity, Oriental Blackswan, New Delhi,2010
10 *Women, Knowledge And Reality : Explarations In Feminist Philosophy*, Edt. Ann garry and Marilyn pearsall, Routledge publication, London, 1996

पत्र–पत्रिकाएं:

1. आजकल, स्त्री विमर्श: भारतीय संदर्भ में, मार्च 2008
2. अपेक्षा, स्त्री विशेषांक सं. तेज सिंह, दिल्ली, 2010
3. आधी जमीन, जुलाई–सितम्बर 2010
4. कथादेश, हरिनारायण, जनवरी 2009
5. कुरुक्षेत्र, ग्रामीण महिला सशक्तिकरण, जून 2010
6. तदभ्व–सृजन से शिखर, सं. अखिलेश, लखनऊ, अंक–25
7. पाखी, मई 2012
8. युद्धरत आम आदमी, हाशिये उलांघती स्त्री, सं. रमणिका गुप्ता, अंक–108, 2011
9. योजना, स्त्री अधिकारिता, अक्टूबर 2008
10. लड़कियों का इंकलाब जिंदाबाद, संपादन विकास नारायण राय, 2009
11. वर्तमान साहित्य, स्त्री विशेषांक, सं. नमिता सिंह
12. शब्दयोग, स्त्री लेखन विशेषांक, संपादकीय, मार्च 2009
13. स्त्री मुक्ति, फरवरी 2012
14. स्त्री काल,
15. संवेद, सं. किशन कालजयी, अंक–54, जुलाई 2012
16. समयांतर, मई 2018,